श्री रघुपति सहाय 'फिराक', गोरखपुरी

आपका जन्म २८ अगस्त, १८९६ को गोरखपुर में हुआ था। बी० ए० की परीक्षा म्यूर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद से उत्तीर्ण होने के बाद आप पी० सी० एस० तथा आई० सी० एस० में चुन लिये गये, किन्तु सन् १९२० में इनका परित्याग कर आप असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। बाद में एम० ए० की डिग्री प्राप्त कर आप प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक नियुक्त हो गये। आपने लगभग १५ पुस्तकों की रचना की है। १९६१ में अपने कविता-संग्रह गुल-ए-नग्मा पर आपने साहित्य एकाडेमी का पुरस्कार प्राप्त किया।

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—६४
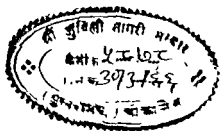
उर्दू भाषा और साहित्य

लेखक
श्री रघुपति सहाय 'फ़िराक़' गोरख

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश
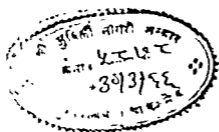
प्रथम संस्करण
१९६२

मूल्य
७.५० रुपये

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

उर्दू भाषा और साहित्य का विकास प्रायः हिन्दी के विकास के समानान्तर ही हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में ये दोनों भाषाएँ और इनमें रचा गया साहित्य काफी पास आये हैं और दोनों ने एक दूसरे को काफी दूर तक प्रभावित किया है। दोनों साहित्यों के बीच की दूरी इस बीच कम हुई है और एक दूसरे के प्रति सौमनस्य और सौहार्द का वातावरण विकसित हुआ है। हिन्दी ने जहाँ उर्दू को इस देश की परम्परा से प्राप्त प्रतीक, उपमान तथा सन्दर्भ दिये हैं वहीं उर्दू ने भाषा की रवानी तथा सहज-बोधगम्यता के द्वारा हिन्दी में एक नयी झलक लाने में सफलता प्राप्त की है। इस परस्पर के आदान-प्रदान का स्वरूप अभी उतना सामने नहीं आया है, इसलिए इस कथन पर सम्भवतः कुछ लोग सहमति न प्रकट करें, लेकिन जिस तीव्रता से उर्दू का सम्पूर्ण रचना सम साहित्य देवनागरी लिपि में प्रकाशित हो रहा है उसे देखते हुए अगले चार-पाँच वर्षों में यह सत्य पूरी तरह से उभरकर सामने आ जायगा। तब लोग सहज भाव से यह स्वीकार कर लेंगे कि दोनों साहित्यों की मूलचेतना एक है और दोनों एक धरती और एक ही वातावरण से प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

उर्दू का विकास प्रायः स्वतन्त्र रूप से हुआ है। सम्पूर्ण भारतीय परम्परा को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसका अपना व्यक्तित्व उसी प्रकार बराबर अलग बना रहेगा, जिस प्रकार देश की अन्य प्रमुख भाषाओं का व्यक्तित्व एक देश, एक संस्कृति और करीब-करीब समान वातावरण के बीच भी बना हुआ है। देश के अन्य महान् रचनाकारों की ही भाँति उर्दू भाषा और साहित्य का निर्माण जिन कवियों, दार्शनिकों तथा चिंतकों के अथक श्रम के बल पर हुआ है वे सभी इस देश के गौरवशाली इतिहास के निर्माता हैं और अपनी र्णिका और सामर्थ्य के बल पर उन्होंने न केवल उर्दू, बल्कि पूरे भारतीय

साहित्य की रचनात्मक शक्ति का विकास किया है और भाषा की अभिव्यञ्जना की दिशा में अभिनव प्रयोग किये हैं।

श्री रघुपति सहाय 'फिराक़' उर्दू के प्रमुख कवि होने के साथ-साथ भारतीय साहित्य के मूर्धन्य रचनाकारों की पहली पंक्ति में आसीन हैं। कवि होने के नाते जहाँ उन्हें भाषा की सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों का ज्ञान है वहाँ अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता और आलोचक होने के नाते वे भारतीय साहित्य को विश्व-साहित्य के सन्दर्भ में रखने में अनायास ही समर्थ हो जाते हैं। उनकी यह दोहरी सफलता संभवतः पहली बार इस छोटे-से इतिहास-ग्रन्थ में परिलक्षित हो रही है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि यह ग्रन्थ प्रकाशित करने का अवसर हिन्दी-समिति को प्राप्त हुआ है।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी-समिति

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

प्राक्कथन

मुसलमानों को हिन्दुस्तान में आकर बसे हुए कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। भारत की भिन्न-भिन्न भाषाएँ बन चुकी थीं। उनमें अभी गद्य तो नहीं, लेकिन कविता की ध्वनि गूँजने लगी थी और सभी भाषाओं में हिन्दुओं के साथ-साथ उनकी ध्वनि में अपनी ध्वनि मिलाकर वे कविता कर रहे थे। खुसरो, कबीर साहब, मलिक मोहम्मद जायसी, रसखान, आलम और इन्हीं के सदृश कई सौ दूसरे मुसलमान पुरुष और स्त्री हिन्दी कविता को मालामाल कर रहे थे। साथ ही साथ कई मुसलमान और कुछ हिन्दू फारसी में भी काव्य-रचना कर रहे थे। इसके अतिरिक्त फारसी में बहुत रचा हुआ और परिष्कृत गद्य भी लिखा जा रहा था।

दकन में मुसलमान उत्तरी भारत से जा बसे और कुछ शताब्दियों के बाद ही दकन की बोलियाँ बोलने लगे। लेकिन आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व उत्तरी भारत की जो बोली थी, उसे भी वे अपने साथ दकन लेते गये थे। अभी इस भाषा में उत्तरी भारत में साहित्य का सर्जन नहीं हुआ था, लेकिन दकन में उत्तरी भारत की भाषा में कई सौ वर्ष पूर्व कविता होने लगी थी और कुछ गद्य की पुस्तकें भी लिखी गयीं। इस कविता और इस गद्य में पहले-पहल आज की उर्दू कविता की झाँकी मिलती है। इस हिन्दीनुमा दकनी भाषा में पहले-पहल अरबी-फारसी के शब्द हिन्दी शब्दों के साथ नगीने की तरह जड़े हुए देख पड़ते हैं। फारसी काव्य के जितने प्रकार और जितने छंद हैं, उन्हें भी दकनी हिन्दी में काम में लाया गया।

अठारहवीं शताब्दी की दो-तीन दहाइयाँ बीत चुकी थीं। मुगल राज्य अभी जीवित था, उसे १८९७ तक जीवित रहना था, लेकिन वह अन्दर से जर्जर हो चुका था। दकन प्रान्त के सूबेदार आसिफ़जाह ने अपने को स्वतंत्र कर लिया था। ऐसा ही अवध के नवाब ने भी किया था। यही हाल बंगाल का भी था। कई और नवाबों ने भी अपने को स्वतंत्र या अर्ध स्वतंत्र घोषित कर रखा

था। जाटों और सिखों की शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। मराठों ने भी बड़े-बड़े प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रखा था। इस्ट इंडिया कंपनी के अँगरेज व्यापारियों का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। इसी समय अहमदशाह अब्दाली और नादिरशाह ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया और जी भर कर उसे लूटा और अपमानित किया। इसी डाँवाडोल युग में जब हिन्दुस्तान में अराजकता फैल रही थी, दिल्ली में उर्दू कविता की पहली बोलियाँ सुनाई पड़ी, और इसी युग में उर्दू के दो महाकवि 'मीर' और 'सौदा' ने ऐसी काव्य-रचना की जिसे रहती दुनिया तक हम भूल नही सकते।

दिल्ली में ऊँचे घराने के मुसलमानो की एक सभ्यता बन चुकी थी। इस सभ्यता के कई केन्द्र भारत के कई नगरो में बन चुके थे और बनते जा रहे थे। ऐसे हर केन्द्र मे एक पाठशाला रही होगी, जहाँ अरबी और फारसी की शिक्षा दी जाती होगी और उर्दू शायरी से सम्बन्धित वार्तालाप होते होंगे। हैदराबाद दकन, मुर्शिदाबाद, पटना, लखनऊ, मुरादाबाद, फर्रुखाबाद, काकोरी, मानिकपुर ऐसे सैकड़ों कसबो में ज्ञान और साहित्य की साधना होती रही होगी और कविता की तूती बोलती रही होगी।

भारत मे रहनेवाले मुसलमानो के जीवन के कतिपय तथ्यों को अवश्य जान लेना चाहिए। एक तो इनमें नागरिकता की स्पष्ट झलक मिलती है और ऊँचे और सभ्य घराने के लोग गाँव की बोली नही बरन् इनके बच्चे-बच्चियाँ, स्त्री-पुरुष, रिश्तेदार और इनसे मिलने-जुलनेवाले लोग तथा नौकर तक खड़ी बोली बोलते रहे होंगे। दूसरा सत्य इनके जीवन का यह होगा कि इन घरानों की स्त्रियाँ अनपढ़ और अशिक्षित नही रही होंगी। इन्हें अरबी में कुरान पढ़ना और इसे उर्दू में समझना था। दिल्ली और कई बड़े-बड़े शहरो में भटियारखाने स्थापित हो चुके थे। भटियारों की जबान कैंची की तरह चलती थी। प्रतिदिन के व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले मुहावरों और टकसाली भाषा की वर्षा हो रही थी। मगर भटियारखानों और कारवाँ सरायों में तो लोग केवल यात्रा-काल में ही आने-जाते होंगे। दिल्ली और कई शहरों में नानबाइयों की इतनी दूकानें खुल चुकी होंगी कि बहुत से घरों में खाना पकाने की आवश्यकता ही नहीं रही होगी। घर की स्त्रियाँ और लड़कियाँ सीने-पिरोने, कढ़ाई के कामों

और लेन-दुकानदारी के कामों में अपना समय लगा रहे होंगे। ऐसे घरों के पुरुष और लड़के अपना अधिकांश समय घर की स्त्रियों के साथ उठने-बैठने, बातचीत करने, भोजन और आराम करने में व्यतीत करते होंगे। टकसाली उर्दू में बातें होती होंगी। कोई बात कहने में जहाँ भूल-चूक हुई, औरतें तुरत टोक देती होंगी। उर्दू भाषा दिन प्रतिदिन साँचे में ढलती जा रही थी। जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर सैकड़ों तरह के सौदे बेचने वाले बैठते थे और सब अपनी-अपनी बात दिल्ली की इस टकसाली बोली में कहते थे जो चार-पाँच सौ बरस पहले बन चुकी थी और बनती जा रही थी और जिसके साँचे 'मीर' और 'सौदा' के युग तक अच्छे-अच्छे प्रतिमान की सीमा तक तैयार हो चुके थे। यह बोली साँचे ढाली जा रही थी और साँचों में ढलती जा रही थी।

जब इस बोली की हैसियत एक कच्चे माल की थी तब यह बोली जाटों की बोली थी। कड़ी, खुरदरी, बेलचक, अक्खड़ और मुँहफट। इस बोली में न तो व्रजभाषा का माधुर्य था और न अवधी की कोमलता। इसमें अच्छे गीत तक न थे। उर्दू से पहले जो काव्य-रचना खड़ी बोली में की गयी थी, वह कुछ उन साधुओं और सन्तों की देन थी जो निर्गुण सम्प्रदाय के थे, जो राम और रहीम की एकता बताते थे। खड़ी बोली की इस कविता में इक्का-दुक्का अरबी-फारसी शब्द भी आ गये थे। लेकिन सांसारिक जीवन के काव्य का प्रणयन इसमें बहुत अल्प हुआ था। प्रेम और सौन्दर्य की कथाएँ उर्दू से पूर्व खड़ी बोली में मिलना कठिन है। हाँ, नीति और धर्म सम्बन्धी काव्य-रचना अवश्य मिल सकती है। उर्दू के रूप में जब यह कविता आगे बढ़ी तो इसमें सभ्यता और संस्कृति अपने पूर्ण शृंगार के साथ परिलक्षित हुई। आये दिन की बातें, कोमल-कान्त भावनाएँ, दर्शन और नीति, जीवन और सृष्टि पर दूर तक पहुँचने वाले अनुभव और विचार, वर्णन के सैकड़ों रूप और शैलियाँ इस भाषा में आविर्भूत हो गयी।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। वह यह कि जब उर्दू कविता से सैकड़ों वर्ष पूर्व की हिन्दी कविता और भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की कविता में अरबी, फ़ारसी शब्द या तो नहीं थे या न होने के बराबर थे तो फिर उर्दू कविता में अरबी-फ़ारसी की विदेशी शब्दावली का इतना प्रयोग क्यों हुआ? इन विदेशी

शब्दों की आवश्यकता ही क्या थी ? यह सच है कि उर्दू को छोड़कर भारत की अन्य भाषाओं की कविता में विदेशी शब्द नहीं होते या न होने के बराबर हैं। लेकिन दक्षिणी भारत की भाषाओं को छोड़कर उत्तरी भारत की भाषाओं में कई हजार अरबी और फारसी के शब्द मिलते हैं। उर्दू कविता का पंचानबे प्रतिशत भाग ऐसा है कि जिसमें वे ही अरबी और फ़ारसी के शब्द आते हैं जिन्हें अशिक्षित मुसलमान भी बोलते और समझते हैं। फिर ये शब्द विदेशी कहाँ रहे ? पहले बताया जा चुका है कि हजारों अरबी और फारसी शब्द मुसलमानों के आने के पश्चात् ही हमारी बोली में घुल-मिल गये थे और सैकड़ों वर्ष तक उर्दू कविता के आविर्भाव से पूर्व करोड़ों आदमी इस घुली-मिली भाषा को बोलते रहे हैं। उर्दू कविता ने लगभग साठ-सत्तर हजार शुद्ध हिन्दी शब्दों में तीन हजार के लगभग अरबी-फारसी शब्द जोड दिये है, जिन्हें पढ़कर सीखना पड़ता है। ऐसे शब्दों की पूर्ण संख्या तो नहीं, किन्तु एक बड़ी संख्या नीचे दी जाती है जिन्हें अनपढ बोलते है।

आदमी, मर्द, औरत, बच्चा, ज़मीन, काश्तकार, हवा, आस्मान, गरम, सर्द हालत, हाल, ख़राब, नेकी, बदी, दुश्मनी, दोस्ती, शर्म, दौलत, माल, मकान दुकान, दरवाज़ा, सहन, बरामदा, जिन्दगी, मौत, तूफ़ान, सवाल, जवाब, बहस तरफ़, तरफदारी, तरह, हैरान, बेहोश, होशियार, चालाक, सुस्त, तेज़, सवार राह, शेर, मुहल्ला, किस्सा, गुस्सा, ग़म, दर्द, ख़ुशी, आराम, किताब, हिसाब, ख़बरदार, बीमार, दवा, शीशा, आईना, प्याला, गुलाब, बाग, बहार, मुरव्वत मुहब्बत, सूरत, आबरू, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान, सादा, दिल, दिमाग, चेहरा, ख़ून, रंग, शरारत, सलाम, रईस, रियाया, मालगुज़ारी, शोर, गुल, जमा, बाकी, ख़ैरियत, ख़बर, तकलीफ़, तकाजा, फायदा, फ़कीर, फौरन, बहाना, जादू, कबूतर, कमर, गरदन, आवाज़, ज़बान, ख़र्च, मैदान, वकील, पेशकार, अमीन, कानूनगो, तहसीलदार, वसूल, ख़िदमत, गुलाम, आज़ाद, रंगीन, नमक, मंजूर, नज़र, लगाम, चिराग, चादर, तकिया, परदा, जगह, नजदीक, दूर, करीब, ख़तरा, बयान, गुमान, दीवानख़ाना, मसनद, ज़ाहिर, कुश्ती, रोज, ज़ोर, ताकत, ख़ास, तूती, रोशनी, तरद्दुद, गिरानी, बुख़ार, हैज़ा, ताऊन, बदहज़्मी, हलवा, हलवाई, कागज, लिफ़ाफ़ा, मोटर, नहर, शिकायत, जहर, वज़न, आस्तीन,

मालिक, जायदाद, महल, मुश्किल, मेहरबानी, ज़रा, कम, ज़ियादह, ताक़, हुक्म, अक्ल, फ़ुरसत, हिम्मत, बेहूदा, मंज़िल, अख़्तियार, ज़ुल्म, ज़िक्र, फ़िक्र, फ़साद, रज़ाई, रूमाल, बख़िया, रफ़ू, जहाज़, निशाना, तीर, कमान, सन्दूक़, बेवक़ूफ़, ख़ाली, ख़ारिज, क़ै, जिस्म, पसन्द, कर्ज़, कौल, फ़रार, फ़ौज, मुल्क, बादशाह, शहज़ादा, शादी, रोब, खुलासा, दग़ाबाज़, हरामज़ादा, नमकहलाल, फ़लाँ, वापसी, ख़ुशक़िस्मती, तबादला, किनारा, बन्दगी, बरफ़ी, तमाशा, ख़याल, याद, बारीक, शुरू, ख़त्म, अख़ीर, ख़ज़ाना, मेवा, शराब, अंगूर, बादाम, शगुन, इनकार, राज़ी, मेहतर, दरज़ी, चीज़, तरकारी, बर्फ़, वादा, नक़द, मोहल्ला, पान, ज़र्दा, सफ़र, लाश, कफ़न, दफ़न, मेहराब, बदतमीज़, मुर्ग़, मज़ा, हजामत, ख़ाक, बिस्तर, कुर्सी, दाग़, दाख़िल, सितार, तबला, जुलूस, जलसा, ज़माना, गिरफ़्तारी, इन्तज़ार, मुख़्तार, लेकिन, दुश्मन, मतलब, अगर, दुनिया, ग़ैर, दीवार, परवरिश, क़ाफ़िला, जारी, बुज़ुर्ग, तमाम, कुल, मेहमान, मस्जिद, शौक़, बरकत, ग़रज़, बेकार, बला, आह, हाय, वाह, जहाँ, बेजा, हज़ार, तक-रार, ग़ज़ब, कीना, सीना, वाक़िफ़, हस्ती, बुलबुल, हैसियत, शाम, सुबह, इक़बाल, इम्तहान, चमन, चाक़ू, उस्तरा, इलाज, ख़ुद, असर, दौलत, इन्सान, क़दम, जर्राह, ख़ातिर, क़सूर, ख़फ़ा, माफ़ी, जान, शिकार, कमन्द, जुर्म, ख़िलाफ़, रहम, रस्म, फ़ायदा, मज़दूर, बदन, नर्म, शौहर, बरात, बदहवास, नामुमकिन, देर, सड़क, सरहद, नक़्शा, पेशी, नुमाइश, हवाला, दरजा, साहब, ग़लत, सही, तबीयत, शायद, हमेशा, बराबर, ग़नीमत, शैतान, ताल्लुक़, दफ़्तर, अक्सर, सिलसिला, बाज़ार, मसाला, परवाह, जहन्नम, रुतबा, ख़ौफ़, शानदार, माल, फ़र्क़, लुत्फ़, सितारा, परी, देव, मौसम, दरया, वारदात, आराज़ी, क़दर, चैन, कमाल, क़ुरबानी, पजाव, इन्साफ़, जोश, बाल, बे, दावत, आराज़ी, मर्ज़, मरीज़, बिहार, आबपाशी, आबकारी, सरकारी, हुज़ूर, उज़्रदारी, बन्दोबस्त, यार, रुक़्क़ा, पर्चा, पुर्ज़ा, दारोग़ा, सदरी, बन्द, अख़बार, मिसल, बेगी, फ़ौजदारी, दीवानी, लिहाज़, ज़बरदस्ती, किराया, कद्दू, मुरब्बा, अचार, ख़रबूज़ा, तर-बूज़ा, सब्ज़ी, दाना, पेशदा, कारिन्दा, पैसा, पेच, बाज़ी, प्यादा, वज़ीर, [illegible], प्याज़, सुराही, सामान, दीवाल, मोम, तारीख़, ताश, तालाब, जाहिल, शहर, मेहनत, क़ाबिल, परहेज़, बनरसा, बेअदबी, तजुरबा, तै, गुज़र-बसर, माहवारी,

मुर्दा, शरबत, राय, मजबूत, कमजोर, कारवाई, खाना, परवाना, हाता, मुराद, तनख्वाह, तरक्की, जुरमाना, अशरफी, कैफ़ियत, फरेब, मल्लाह, नकल, बुराश, मुलाकात, असली, नकली, बुरी, रेहन, शमा, शमादान, तसला, सुरमा, रस्म व रिवाज, रफा-दफा, रियायत, रसीद, जंजीर, सिफ़ारिश, जनाना, सायत, गज, खेमा, शामियाना, सायबान, सिपाही, सुपुर्द, शुतुरमुर्ग, शाल, दुशाला, कतार, सजदा, बगावत, गद्दार, तूफान, कीमा, रान, तैनात, मुसाफिर, करामात, मात, फजीअत, कसर, कसरत, कश्मीर, कुलकुल, जोश, कूच, दामन, तोशक, सलाह, अन्दर, जिगर, दम, नाराज, देहात, माजून, हलाल, हलालखोर, दवात, जिन, मालूम, मरदुमशुमारी, जारबन्द, तंग, दिक, गोश्त, लानत, मलामत, पेवन्द, अमल, दस्तावेज, मखमल, कालीन, फर्श, नाश्ता, रेशम, मुलायम, काफी, ताकीद, रज, किला, अफ़सोस, साज, मजाक, मुंशी, नीलाम, मुकाबला, मवक्किल, नीयत, अनार, इफरात, आतशबाजी, अमरूद, इन्कलाब, इन्तजाम, बारूद, ख़िलाफ़, गिलाफ, बाकी, बकाया, इजलास, मवइयत, मुआइना, आबला, एहतियात, इजाज़त, दाखिल खारिज, जानवर, हैवान, जानदार, तोप, बन्दूक, जालसाजी, अन्दाज, रोजगार, अलावा, जारी, मुज़रिम, मुलजिम, मालिश, मजाल, नदारद, ऐब, खोचा, जुकाम, चासनी, बालाई, आमदनी, दस्तकारी, मीनाकारी, खैरात, अजायबखाना, चरखा, जल्द, चौगान, मशहूर, खरगोश, तातील, वारिस, रियासत, हुक्का, फ़रशी, जू, कबाब, शोरबा, तराजू, हर्ज, अस्तर, इत्र, शकर, आबादी, मुहकमा, मुहताज, पौदा, निहाल, अरमान, मुराद, डफ, अंजीर, हम्माम, पहलवान, कलाबाजी, पोशाक, गोशवारा, कत्ल, काबिल, जहन्नम, तबाही, शफ्तालू, शलजम, बेहतर, तौबा, नमाज़, सैर, खैरियत, दास्तान, अफसाना, चोबदार, खिदमत, ख़िदमतगार, बुनियाद, आशिक, माशूक, महबूब, कमीना, खौफ, अदा, नाज, पैमाना, वास्ता, सतर, निगाह, निगहबान, मामूली, एहसान, शुक्रिया, शामिल, जाहिल, सनद, साबित, सबूत, वजह, सबब, सुरखाब, खेजाब, अन्देशा, इनाम, ईमान, दीवान, फरियाद पलगपोश, मसूबा ।

विस्तार के भय से हम यही आठ-नौ सौ शब्दों की गणना कर रहे हैं। कितने अरबी-फारसी शब्द हमारी बोली में आ चुके हैं, इसका अनुमान इसी बात

से किया जा सकता है कि बच्चों के लिए जो संक्षिप्त शब्द कोश "बाल शब्द-सागर" के नाम से कई वर्ष पूर्व हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं समालोचक बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्रकाशित किया था, उसमें लगभग चार-पाँच हजार अरबी-फारसी शब्द सम्मिलित हैं। बाहर से आकर हिन्दुस्तान में बस जाने वाले मुसलमानों ने सत्तर-अस्सी हजार शुद्ध हिन्दी शब्द, हिन्दी मुहावरे, हिन्दी कहावतें, टकसाली हिन्दी के टुकड़े अपना लिये और टकसाली हिन्दी के व्याकरण को भी अपना लिया। हिन्दुओं ने भी ऐसे अरबी-फारसी शब्दों को अपना लिया जो शताब्दियों के मेल-जोल से टकसाली हिन्दी का अंग बन चुके थे। इसी मिली-जुली हिन्दी का नाम बाद को उर्दू पड़ गया। उर्दू शब्द शाहजहाँ के काल में पहले-पहल फौज के लिए प्रयोग किया गया था। मुगल फ़ौज का नाम था उर्दू-ए-मोअल्ला अर्थात् महान् सेना। इस फौज के साथ बहुत बड़ा बाजार था जो उर्दू बाजार (फ़ौजी बाजार) कहलाता था। इस बाजार का अस्सी-नब्बे प्रतिशत व्यापार हिन्दुओं के हाथ में था। अधिकांश मंडियाँ, आढ़तें और दूकानें हिन्दू महाजनों की थीं। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के साथ शब्दों का लेन-देन भी शुरू हो गया और इसी तरह मुसलमानों ने सत्तर-अस्सी हजार शुद्ध हिन्दी शब्द और हिन्दी भाषा के समस्त टुकड़े और नियमावली अंगीकार कर ली।

शहर की बोली की नोक-पलक दुरुस्त करने में धर्म और शिक्षित वर्ग का बड़ा हाथ होता है। चूँकि मिली-जुली हिन्दी अर्थात् उर्दू, अब दिल्ली शहर और बाद को दूसरे शहरों और कस्बों की बोली बन गयी और इस बोली को रचने और सँवारने में उन मुसलमान घरानों की सेवाएँ प्राप्त हुई जिनमें पुरुष और स्त्री सभी पढ़े-लिखे होते थे और जो गँवारपन का भी शिकार नहीं हो सकते थे। केवल वे ही अरबी-फारसी शब्द मिली-जुली हिन्दी में आये जिनसे कान के परदों को ठेस न लगे। इन घरानों ने उर्दू को न गँवारों की भाषा बनने दिया और न मौलवियों की ही भाषा। पढ़े-लिखे सभ्य मुसलमान घराने जनसाधारण से अलग या कटे-कटे नहीं रह सकते थे। बोली के विषय में जन-साधारण के समीप ही रहे होंगे। बोली के सम्बन्ध में दिल्ली की या जहाँ-जहाँ दिल्ली की बोली पहुँच चुकी है वहाँ की जिन्दगी को टुकड़े-टुकड़े नहीं होने दिया होगा। अवश्य ही यह जिन्दगी बोली के मामले में टुकड़े-टुकड़े हो

जाती अगर ये मुसलमान घराने एक ओर से देहातीपन या गँवारपन को न रोकते और दूसरी तरफ हिन्दी से मात-मेल न खानेवाले बड़े-बड़े मोटे-मोटे उन अरबी-फारसी शब्दों को हिन्दी में ठूँसते जो हिन्दी के गले में सूखे निवाले की तरह अटक कर रह जाते। इन मुसलमान घरानों ने जबरदस्ती या धोखे से अंधाधुंध अरबी-फारसी शब्दों को अपनी हिन्दी में फटकने न दिया होगा। इन्हें उस भाषा को परवान चढ़ाना था जो जनसाधारण की भाषा थी। लीजिए, लगे हाथों इस बात का भी जवाब मिल गया कि उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों का बाहुल्य क्यों नहीं होता है। उर्दू का वह भाग जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुतायत होती है, उर्दू साहित्य का एक बटे सौ भाग है। बोल-चाल के रूप में उर्दू भाषा शताब्दियों तक साँचे में ढलती रही, तब कहीं जाकर उर्दू में पहला शेर कहा गया और उर्दू कविता से लोगों ने अपनी बोली की गूँज और झनकार सुनी। वातावरण और हृदयों का सन्नाटा दूर हो गया। घर-बार और बाज़ार की भाषा ने कविता की देवी का रूप धारण कर लिया।

हाँ, तो अरबी-फ़ारसी के वे ही दो-चार हज़ार शब्द उर्दू में सम्मिलित किये गये जिनकी बनावट और जिनका रूप-रंग और जिनकी आवाज पचासों हजार शुद्ध हिन्दी शब्दों से मिलती थी। शुद्ध हिन्दी का एक शब्द ऐसा नहीं होता जिसमें हर अक्षर की पूरी और अलग आवाज सुनाई दे। इसी तरह की ध्वनि वाले अरबी-फारसी शब्द उर्दू में अपनाये गये।

दिल्ली में उर्दू साहित्य के जन्म लेने से पूर्व जो भाषा प्रचलित थी, उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द शुद्ध हिन्दी शब्दों से इस तरह घुल-मिलकर ज़बानों पर चढ गये थे कि उन्हें एक-दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता था। बहुत-से अरबी-फारसी शब्द तो ऐसे थे जिनके कई-कई मतलब होते थे। ये शब्द टकसाली बोली और महावरों की जान थे। उदाहरणस्वरूप "साफ" शब्द ले लीजिए और इसके रंगारंग प्रयोग देखिए—

(१) तुमने बात समझा दी मेरा दिल साफ हो गया।
(२) उसने रुपया देने से साफ़ इनकार कर दिया।
(३) रामचन्द्र की लिखावट बहुत साफ़ है।
(४) तुम्हारा लिखा हुआ मुझसे साफ़ नहीं पढ़ा जाता।

(५) साफ़-साफ़ बताओ, तुम क्या चाहते हो।

(६) जादूगर के हाथ की सफ़ाई देखने के क़ाबिल है।

(७) मोटेमल पाँच सेर खाना साफ़ कर गए।

(८) सफ़ाई के गवाह कल पेश होंगे।

(९) मेरा हिसाब साफ़ हो गया।

(१०) दाग़ का मिसरा है "साफ़ छुपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं।

(११) साफ़ बात तो यह है।

(१२) उनकी नीयत साफ़ नहीं है।

(१३) घोड़ा दो गज़ की टट्टी साफ़ कूद गया।

(१४) एक बार मैं अपने एक मुसलमान दोस्त की दावत में शरीक था। वे चमचे से खा रहे थे, मैं हाथ से। जब मिठाई आयी तो मुझे हाथ धोने के लिए उठना पड़ा और मैंने उनसे कहा, भाई तुम्हारे हाथ तो साफ़ हैं। उन्होंने कहा, हाथ भी साफ़ हैं और दिल भी साफ़ है। मैंने कहा, जी हाँ, हाथ भी साफ़ है, दिल भी साफ़ है और दिमाग़ भी साफ़ है।

"ख़राब" शब्द लीजिए और उसके भिन्न-भिन्न प्रयोग देखिए—

(१) बड़ा ख़राब आदमी है।

(२) सैकड़ों आदमियों की दावत थी और आये कुल दस-बारह आदमी। बहुत-सा खाना ख़राब हो गया।

(३) खाने के सजे-सजाये थाल में छिपकली गिर पड़ी। कुल खाना ख़राब हो गया।

(४) बुख़ार में मुँह का मज़ा ख़राब हो जाता है।

(५) वह कीचड़ में गिर पड़ा और उसके कुल कपड़े ख़राब हो गये।

(६) वह लड़कपन से ही ख़राब संगत में पड़ गया था।

(७) हमारा वक़्त ख़राब न कीजिए।

(८) वकील की ग़लत बहस से हमारा मुक़दमा ख़राब हो गया।

(९) हाकिम ने बड़ा ख़राब फ़ैसला दिया है।

(१०) उसके इम्तहान का नतीजा बड़ा ख़राब निकला।

(११) यहाँ की जलवायु ख़राब है।

(१२) तुम खुद भी खराब हो और दूसरो को भी खराब करोगे।

(१३) उर्दू का प्रसिद्ध शेर है—

यह जो चश्म-पुरआब हैं दोनों,
एक खाना खराब हैं दोनों।

"गजब"—

(१) गजब की तकरीर थी।

(२) गजब की आँख तो है उल्फत की नजर न सही।

(३) आप क्या गजब ढा रहे हैं।

(४) ऐसा कीजियेगा तो गजब हो जायेगा।

(५) खुदा का गजब है।

(६) गजब का सैलाब आया।

(७) यह क्या गजब है!

"रंग"—(१) रंग लाना, (२) रंग उड़ाना; (३) रंग जमाना; (४) रंग बाधना; (५) रंग पकड़ना; (६) रंग बदलना, (७) रंग चमकाना, (८) रंग-तबीयत, (९) रंग–ए महफिल; (१०) यह शेर गालिब के रंग मे है, (११) रंग-ढंग; (१२) रंग मलना, (१३) रंग खेलना, (१४) रंग उछालना।

"नाम"—(यह शब्द संस्कृत भी है और फ़ारसी भी)

(१) नाम रखना, (२) नाम उछालना, (३) नाम कमाना (४) नाम करना; (५) नाम लेना; (६) नामी गरामी; (६) नाम कौंधना, (७) क्या नाम कि, (८) नाम बनाम, (९) बराये नाम (१०) नामवाला; (११) नाम चमकना, (१२) नाम तक न लेन (१३) नाम-ए-खुदा।

"दाम"—(१) दाम लगना, (२) दाम उठना; (३) दाम ब या घटना, (४) दाम पड़ना, (५) दाम उतरना; (६) दाम के दा (७) दाम वसूलना, (८) मुनाफा तो नहीं हुआ लेकिन दाम के दाम नि आये, (९) दाम लिया हुआ है, (१०) दाम बहुत देने पड़े, (१

आम के आम गुठलियों के दाम; (१२) दाम गिरना, (१३) दाम मारना; (१४) बे-दामों मोल ले लेना।

यह हाल तो सिर्फ ८० शब्दों का है जिनके इतने प्रयोग गिनाये गये हैं। अगर इन अरबी-फारसी शब्दों को हम अपनी बोली से निकाल दें तो इन थोड़े-से शब्दों के स्थान पर अनेक शब्द गढ़ने पड़ेंगे और हमारी बोली बिगड़ कर रह जायेगी। इसी तरह कई सौ और भी अरबी-फारसी के शब्द हैं जो हमारी बोली में रस चुके हैं। अगर हम अरबी-फारसी के ऐसे सब शब्द निकाल दें तो हमें हजारों शब्द गढ़ने पड़ेंगे और बोली का मजा भी जाता रहेगा। चाल ढलने के बदले बिगड़ जायेगी। हम जबान के कुछ ऐसे टुकड़ों की फिहरिस्त नीचे दे रहे हैं जिनमें एक शब्द अरबी-फारसी का है और दूसरा या तो शुद्ध हिन्दी का शब्द है या शुद्ध संस्कृत का। उर्दू कविता अभी आरम्भ नहीं हुई थी और उससे कई सौ बरस पहले से आजतक ये टुकड़े हिन्दी भाषाभाषियों की जबान पर चढ़े हुए हैं।

शादी-ब्याह, हँसी-खुशी, हित-मुद्दई, रोज-सबेर, गाँठ-गिरह, रंग-रूप, रंग-पानी, रंग-ढंग, राग-रंग, धन-दौलत, गाली-गुफ्तार, हँसी-मज़ाक, इज्जत-पानी, बाल-बच्चे, किस्सा-कहानी, हल्वा-पूरी, देर-सवेर, सुबह-सवेरे, कागज़-पत्तर, जी-जान, नाक-नक्शा, नोक-झोंक, नोक-पलक, दगा-फसाद, हाट-बाज़ार, चोली-दामन, लाज-शरम, पट्टीदार-पहरेदार, थानेदार, जगत-उस्ताद, पूजा-नमाज़, दीन-धरम, बे-लाग, बे-धड़क, बे-सुध, बे-भाव, खुले-बन्दी, धोखे-बाज़, मिठाई-नमकीन, सूद-ब्याज, पीक-दान, सिंगार-दान, चादर-दोपट्टा, चोर-बाज़ार, गिरह-कट, बैठक-बाज़, दम-भर, बे-धरम, दान-ख़ैरात, जोड़-जमा, नशा-पानी, राम-रहीम, साधू-फ़क़ीर, नाश्ता-पानी, तिड़ी-बाज़, छीना-झपट, मूल-दाम, रोब-दाब, नौकर-मालिक, नफ़ा-घाटा, खुले-आम, दरिया-पहाड़, साधू-बाबा, बू-बास, बालबीका, चौराहा, बनिया-बक्काल, सादा कपड़ा, सीधा-सादा, बस-एख़्तियार, ज़ोर-बस, राह-बाट, लालपरी, जोड़ा-जामा, सोहबत-सगत, शर्बत-पानी, दाना-पानी, हुसेन-सागर, अलीगढ़, मुज़फ़्फ़रनगर, अलीनगर, मछलीशहर, छतरमंज़िल, मोतीमहल, मरहम-पट्टी, पागलखाना, चिड़िया-खाना, फटेहालों, अन्दर-बाहर, परमात्मा, खेल-तमाशा, हाल-चाल, खासी-

जुकाम, आदमी-जन, अच्छा-खराब, राज-महल, खुले-खजाने, मोम-बत्ती, आराइश, शुभ-सायत, नेक-महूरत, घोड़-सवार, पट्टे-बाज, मोटा-महीन, बारीक-चावल, जूती-पैजार, सरपच, तीन-चार, दलबदी, हजार बरस।

निम्नलिखित फिकरों, मिसरों, मुहावरों, और शेरों में अरबी-फ़ारसी के साथ हिन्दी शब्दों का मेल ध्यान देने के योग्य है—

एडी-चोटी का जोर लगाना, खून-पसीना एक करना, खून होना, खून करना, खूबी, दिल को दिल से राह होती है, दिल से उतर जाना, दिल में घर करना, दिल आ जाना, जान का जंजाल, दिल भर आना, बडी मुसीबत है, बडी मुश्किल है, शामत आयी हुई है, खुदा खैर करे, जवान-जहान, मान न मान मैं तेरा मेहमान, अब आप चलते-फिरते नजर आइए, होश की दवा करो, जवानी दीवानी, जो शरारत करेगा उसकी खूब खबर ली जायेगी, खाक में मिलाना, नयी जवानी माझा ढीला।

मिसरे—ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफसाना था—

तबीयत उधर नही जाती, (गालिब)

दो चार शेर भी मुलाहिज़ा हो—

मिटा मिटा के मुझे खाक में मिला दोगे।
खुदा जो पूछेगा इसका जवाब क्या दोगे॥
सड़क पै सुरखी कुटती देखी।
मुफ्त की दौलत लुटती देखी॥
हमारी तरफ़ अब वह कम देखते हैं।
वह नजरें नहीं जिनको हम देखते हैं॥
जमाने के हाथों से चारा नहीं है।
जमाना हमारा तुम्हारा नहीं है॥

इसी तरह के हजारों फिकरे और जुमले हमारी भाषा में ऐसे हैं जिनमें से हम अरबी-फ़ारसी शब्द निकालें तो हमारी बोली बिगड़ जायेगी। जैसे राह फ़ारसी का शब्द है, इसे अगर हम अपनी भाषा से निकाल दें तो हम यह नहीं बोल सकते—राह पर लगना, राह पर लाना, अपनी राह लगो, राह या रास्ता

लेना, राह कठिन है, राह चलते दिल में राह करना, राह मे काँटे बिछाना, राह देखना, राह भूलना, राह न चलना, राह पाना, राह या रास्ता देना, राह छोडना, इधर राह कैसे भूल बैठे ?

कुछ और वाक्यों में से अरबी-फारसी शब्द अगर हम निकाल लेना चाहे तो हमारी बोली का बुरा हाल होगा।

(१) दिल ने दुनिया नयी बसा डाली, और हमें आजतक ख़बर न हुई, (२) तुम्हें कुछ ख़बर भी है, (३) भाई, खूब आये, (४) वह जो काबू में ही नही जाये, (५) आज बाज़ार बद है, (६) खुलता किसी पै क्यों मेरे दिल का मोआमला, (७) शेरों के इन्तख़ाब ने रुसवा किया मुझे, (८) मुझ पर रोब न जमाइए; (९) मैं उनके रोब मे आ गया; (१०) मेरा बच्चा बीमार है; (११) होश की दवा करो, (१२) चुगली खाना बहुत बुरी बात है, (१३) जी जान से कोशिश करो, (१४) ख़ैर, देखा जायगा, (१५) आजकल वह मुझपर बहुत मेहरबान हैं; (१६) आप अजब आदमी हैं; (१७) हँसी-खुशी जिन्दगी काट दो, (१८) ख़रबूज़े से ख़रबूज़ा रग पकड़ता है; (१९) किफ़ायत करना सीखो, (२०) तुम हज़ार मना करो, वह अपनी आदत से बाज़ नही आयगा, (२१) दीवार पर सफ़ेदी फेरी जा रही है; (२२) यह आदमी सियाह-सफ़ेद का मालिक है, (२३) मैदान साफ़ है; (२४) यह लड़का हमारे घर का चिराग़ है; (२५) दवा पी लो, (२६) इलाज करवाओ, (२७) नाख़ून कटवा लो, (२८) मेरा बड़ा हर्ज हुआ; (२९) यह नया हुक्म जारी हुआ है, (३०) शोर मत मचाओ, (३१) मुझे मालूम नही, (३२) अब उसका ब्याह कर दो, (३३) बड़ी बदनामी हुई; (३४) ख़र्च कम करो; (३५) हैसियत बिगड़ गयी।

अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व दिल्ली और लखनऊ में जब उर्दू कविता चली तो बाढ़ की तरह चली क्योंकि इस कविता में जन-भाषा के हज़ारों ऐसे टुकड़े हैं जो करोड़ो व्यक्तियों की जिह्वा पर जमाने के समय से ही चढ़े हुए थे। उर्दू कविता ने हिन्दी के एक शब्द का भी परित्याग नही किया और अरबी-फारसी के अधिक से अधिक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जो जबानों पर चढ़ चुके थे। अपने जनम दिन से ही उर्दू कविता की लोक-प्रियता का यही कारण

है। दो-तीन सौ बरस तक यही अरबी-फारसी शब्द सिर्फ हमारी बोली काम आ चुके हैं। घर की बोली, बाजार की बोली, हिन्दू-मुसलमान के आपस की बोली, कारबार की बोली, हर प्रकार और हर भाँति की बोली में जब हिन्दी शब्दों और मुहावरों के साथ यह अरबी-फारसी शब्द शेर के साँचों में ढल जाते हैं तो गुनगानेवाले फड़क जाते हैं और ऐसा मालूम करते हैं कि गालिब के शब्दों में —

> वाह री तक़रीर की ख़ूबी कि जो उसने कहा,
> मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।

किन्तु यह समझना भ्रम होगा कि हिन्दी शब्दों में केवल अरबी और फारसी शब्दों को मिला देने से उर्दू बनी है। शत-प्रतिशत हिन्दी शब्दों से भी बनी हुई उर्दू गद्य और कविता की किताबें मिलती हैं। इन किताबों में एक भी अरबी-फारसी का शब्द नहीं है। वस्तुतः खड़ी बोली हिन्दी को एक विशेष ढंग से या एक विशेष शैली में प्रयोग करना उर्दू है जो निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

थमते थमते थमेंगे आँसू ······रोना है ये कुछ हँसी नहीं है—(मुसहफ़ी)

> तारा टूटते सबने देखा यह नहिं देखा एक ने भी।
> किसकी आँख से आँसू टपका किसका सहारा टूट गया॥
> (आरज़ू, लखनवी)

> खिसियानी हँसी हँसना एक बात बनाना है।
> टपके हुए आँसू को पलकों से उठाना है॥
> (आरज़ू, लखनवी)

> मेरे होते हुए औरों को इतना सताया जायगा।
> यह तो मुझसे देखती आँखों न देखा जायगा॥

> बदनचोर चितचोर तो थे ही क्या तुम समयचोर भी हो।
> यह तो बताओ लिये जाते हो साथ अपने यह रात कहाँ॥

झिल-मिल, झिल-मिल तारों ने भी पायल की झनकार सुनी थी,
चली गयी कल छमछम करती पिया मिलन की रात कहाँ।
प्रेम पुजारी नेम धरम से जीना था,
तोड़ दिया हर संजम तुमको क्या सूझी।
छिड़ गयी उन आँखों की बात,
दुनिया में अब दिन है कि रात।

ये पाँचो शेर मेरे हैं।

बिगड़ें न बात बात पर क्यों जानते हैं वो,
हम वो नहीं कि जिसको मनाया न जायगा।—(हाली)
वह नहीं भूलता जहाँ जाऊँ—हाय मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ।—(नासिख)
बात भी पूछी न जायेगी जहाँ जायेंगे हम,
तेरी चौखट से अगर उट्ठे कहाँ जायेंगे हम॥
(महशर लखनवी)

रात चली है जोगन होकर—ओस से अपने मुँह को धोकर,
लट छिटकाये बाल सँवारे—मेरे काली-कमलीवाले।
(शाद, अज़ीमाबादी)

यह जो महंत बैठे हैं दुर्गा के कुण्ड पर,
अवतार बन के कूदेंगे परियों के झुण्ड पर।
(इंशा)

बोझ वो सर से गिरा है कि उठाये न उठे।
काम वह आन पड़ा है कि बनाये न बने॥—(ग़ालिब)

किस तरह बन में आँख के तारे को भेज दूँ।
जोगी बना के राजदुलारे को भेज दूँ॥—(चकबस्त)

तेरी चाल टेढ़ी तेरी बात उल्टी,
तुझे मीर समझा है याँ कम किसू ने।
(मीरतक़ी 'मीर')

मुँह से निकली हुई पराई बात—(आतश)
हो गयी एक-एक घड़ी तुम बिन पहाड़—(हाली)
बना बने बात जहाँ बात बनाये न बने—(ग़ालिब)
शाम गये गुल किया रात रहे जगा दिया—(जिगर)
कभी कुछ रात गये और कभी कुछ रात रहे—(नियाज़ [illegible])
गुलज़ार हिन्द का तेरी फ़िज़ा में सजता है—(चकबस्त)
अपने को अंधेरे में पड़ी दूर की सूझी—(इंशा)
उन्हें चाहा न पाया अब किसी को और क्या चाहें—(जगत मोहनलाल र
झोंके दम में सँभलते रहने के लिए—(दाग [illegible])
कुछ तो कहिए कि लोग कहते हैं—(ग़ालिब)
ऐसा भी कोई है कि सब अच्छा कहें जिसे—(ग़ालिब)
इधर चमकी उधर गुज़री यहाँ ढूँढा वहाँ फूँका—(दाग)
घर जला सामने पर मुझसे बुझाया न गया—(मीर)
भरे हैं ओस में आँसू उदास बैठे हो—(नातिक लखनवी)
सब ठाट पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बंजारा—(नज़ीर)

मेरा एक मिसरा है—

थके-थके से ये तारे थकी-थकी-सी ये रात।

अब गद्य की ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं जिनमें एक भी फ़ारसी शब्द नहीं है—

(१) चाँदनी खेत कर आयी; (२) लड़ाई में सैकड़ों लोग काम आये; (३) देखना भाई यह छेड़छाड़ अच्छी नहीं; (४) हाथ पर हाथ धरे बैठे हो; (५) बातें बनाने से बात नहीं बनेगी; (६) बात से बात निकलती है; (७) काम में काम किये जाओ; (८) दिन को दिन न समझो, रात को रात न समझो; (९) दिन डूब चला था; (१०) रातों रात धावा बोल दिया; (११) मुझे तुमने कहीं का न रक्खा; (१२) आज से मुझे कान हो गये; (१३) मैंने बड़े बड़ों की आँखें देखी हैं।

ये बहुत थोड़े से उदाहरण हैं और ऐसे बीसों हज़ार उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी शब्दों को एक विशेष ढंग से बोलने या लिखने का नाम उर्दू है। यह ढंग या शैली ही उर्दू भाषा की आधार-शिला है। यही वह ढंग है जिसे हम उर्दू का साँचा कह सकते हैं।

दिल्ली में जो खड़ी बोली शहंशाह अकबर के समय में बोली जा रही थी, उसे पढ़े-लिखे मुसलमान घरानों में सँवारा और रचाया जा रहा था और इन्हीं घरानों में उर्दू ने जन्म लिया और फिर औरंगज़ेब के बाद यह बोली कविता के साँचे में ढलती शहरों-नगरों और कस्बों में फैल गयी और पिछले दो सौ बरसों में कई हज़ार हिन्दुओं और मुसलमानों ने उस ज़बान को रचाने और सँवारने में एक-दूसरे का हाथ बँटाया।

अब हम उन सांस्कृतिक मूल्यों पर दृष्टिपात करेंगे जो उर्दू कविता और गद्य ने हमें दिये।

साहित्य एक महान् कला है। कला का गुण यह है कि वह हमारी चेतना और मस्तिष्क को इस प्रकार जागरूक कर दे कि संसार की हर वस्तु, हर दृश्य, हर घटना सुन्दर दिखाई पड़ने लगे और हम उससे प्रेम हो जाय। उर्दू कविता ने हमारे मस्तिष्क तथा हमारे चरित्र और हमारे विचार को सँवारने और रचाने में बड़ा हिस्सा लिया है। संकीर्ण विचार और कट्टरपन और वे सारी भावनाएँ जो मनुष्य और मनुष्य के बीच में एक खाई खोदती हैं — उनको हटाने और मिटाने में उर्दू साहित्य ने बड़ा काम किया। जिस तरह कबीर साहब ने राम और रहीम को एक बताया, उसी तरह उर्दू शायरों ने कुफ्र और इस्लाम के भेद को मिटाकर रख दिया। उर्दू कविता की दूसरी देन जीवन के प्रति आकर्षण पैदा करना है। मानव में जो निर्बलता है उर्दू शायरी हमारे दिलों में उसके लिए दया और सहानुभूति की भावना पैदा करती है। संयम, रोज़े और अन्य धार्मिक आडम्बरों का उर्दू कविता ने मज़ाक उड़ाया है। ऐसे बहुत-से धार्मिक कठमुल्ले शारीरिक सुखों और भोग-विलास को और मानव प्रकृति को समझे बिना ही गुनाह कह दिया करते हैं। उर्दू कविता हमें बताती है कि नेकी और सदाचार का यह मतलब नहीं है कि आदमी हर प्रकार का सुख अपने ऊपर हराम कर ले। इसलिए हमारे

शेरो में यह कहा गया है कि जिन चीज़ो को क़ुफ़ व गुनाह कहा जाता
चीज़ें भी जीवन को सँवारती हैं क्योंकि उर्दू शायरी में क़ुफ़ व गुनाह
हैं, दुनिया और जीवन से प्यार। माया को सत्य तक पहुँचने का
माना गया है। उर्दू काव्य में सबसे बड़ा स्थान प्रेम को दिया गया है।
को बहुत बुरा बताया गया है, लेकिन प्रेम को बहुत अच्छा बताया
प्रेम प्रारंभ होता है किसी रग-रूप या किसी व्यक्तित्व पर मोहित हो
अगर इस भाव मे दृढ़ता और आत्म-शुद्धि नही है, तब यह भाव वासना
अगर दृढ़ता और आत्म-शुद्धि है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि
सुख प्राप्त करने के बाद भी प्रिय से उदासीनता नही हुई। भौ
प्राप्त करने के बाद भी प्रिय की कल्पना हृदय और मस्तिष्क पर छा
धीरे-धीरे प्रिय की प्रिय कल्पना उन्नत होती जायगी। जीवन अं
सृष्टि की कल्पना में परिणत हो जायेंगे और इस तरह एक व्य
करके हम सृष्टि से प्रेम करना समझते हैं। फिर यह भाव
तल्लीनता और उस बुनियादी सत्य की चेतना को हमारे अन्दर पै
जिससे हम भौतिक ससार और भौतिक जीवन को दिल समझ
यह सब प्रेम का ही प्रभाव है। इस आखिरी मंजिल पर पहुँच कर
के उस रहस्य का अनुभव करते हैं जिससे उर्दू कविता मालामा

उर्दू कविता और भाषा हमें अपने जीवन मे हृदय-ग्राहित
की सुन्दर शैली और सुरुचि उत्पन्न करती है। इस प्रकार ह
नागरिकता को स्थान मिलता है। जब तक मुद्रण-यन्त्र का अ
हुआ था, उर्दू कविता को सुनने-सुनाने की प्रथा बहुत थी
कसबों या शहरों में आये दिन मुशायरे या शादी की सोहब
थी। इन मुशायरों में उठने-बैठने के अपने नियम और अप
दाद देने के भी ढग थे, कविता मे दोष या अशुद्धि निकालने
इस प्रकार मस्तिष्क इतना तेज हो जाता था कि हाजिर ज
शोंक के फूल बरसने लगते थे। उर्दू शायरी ने हज़ारों ल
दिया। फ़िक़रा बनाने या चुस्त करने के सैकड़ो तरीके हमें
का यह गुर उर्दू कविता ने हमें बताया कि कहनेवाले और

फड़क उठें। भाषा और वर्णन में रवानी, मौके के हिसाब से उचित शब्दों का चयन, इन सारी चीजों का वर्णन उर्दू शायरी में प्रचुर भाषा में मिलता है। साधारण से साधारण शब्दों में उर्दू का कवि जादू भर देता है। एक ऐसे शब्द में जिसे हम एक बूंद के बराबर कह सकते हैं कवि उसमें अथाह और अपरम्पार सागर भर देता है। कबीर की उल्टबासियां प्रसिद्ध हैं। उर्दू कवियों ने भी उल्टबासियों की सहायता से परम सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। उर्दू कविता ने हमारे नागरिक जीवन के सैकड़ों वर्षों की सभ्यता को सैकड़ों कोणों से आइना दिखाया है। उर्दू कविता अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद तेजी से परिवर्तन होनेवाले समय का बराबर साथ देती रही। उर्दू काव्य सन् १८५७ के बाद से ही पाश्चात्य साहित्य से पर्याप्त प्रभावित होता रहा। इस प्रकार उर्दू का कार्य-क्षेत्र काफी बढ़ता रहा। कविता के नये विषयों का चुनाव हुआ। पुरानी उर्दू कविता में प्रकृति-वर्णन पर कम ध्यान दिया गया था। मगर इधर की साठ-सत्तर वर्ष की उर्दू कविता में प्रकृति-वर्णन पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रकृति-वर्णन पर उर्दू में बहुत सराहनीय कार्य होता रहा। देश-प्रेम और स्वतंत्रता-प्रेम ने उर्दू कवियों से अमर कृतियाँ और अमर कविताएं कहला डाली।

उर्दू में स्वतंत्र छंद और मुक्त छंद बीसवीं शताब्दी में प्रारंभ होते हैं और अब इस प्रकार की कविता बहुत आगे बढ़ गयी है। इसी युग में उर्दू रुबाई भी काफी आगे बढ़ गयी। इसी युग में एक और महान् कार्य यह हुआ कि आरजू, लखनवी और कुछ उनके समकालीनों ने कुछ नये प्रयोग किये। उन्होंने कविता में ठेठ हिन्दी के शब्दों और मुहावरों से ही काम लिया और एक भी अरबी-फ़ारसी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ। व्यंग्य काव्य भी इसी युग में अच्छी तरह पनपा। इसी युग में अनुवाद का काम भी अधिक मात्रा में हुआ। संस्कृत और दूसरी भाषाओं की कविताओं और नाटकों का अनुवाद बड़े ही सुन्दर ढंग से उर्दू में हुआ।

भारतवर्ष की हर भाषा का गद्य साहित्य मुद्रण-यंत्र के आविष्कार होने के बाद बहुत उन्नत होता गया। संसार भर को गद्य का सबसे शानदार नमूना ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने दिया। यूनानी अन्य गद्य लेखकों ने भी बहुत सुन्दर

गद्य की रचना की। यूनानी भाषा के गद्य के पश्चात् लैटिन भाषा के लिखने वालों ने भी यूनानी गद्य से गद्य लिखना सीखा। जब अरब वालों ने यूनान और यूरोप के दूसरे देशों को जीता तो सैकड़ों यूनानी और लैटिन किताबों का अनुवाद अरबी जबान में किया और इस प्रकार अरबी भाषा में बहुत बड़े गद्य-साहित्य का आविर्भाव हुआ। ईरानवालों ने यूनानी, लैटिन और अरबी से गद्य की हजारों पुस्तकों का अनुवाद फारसी गद्य में किया। इस तरह फारसी गद्य भी बहुत समृद्धशाली हो गया। हिन्दुस्तान में संस्कृत भाषा में गद्य की पुस्तकें अवश्य हैं, लेकिन वे अधिक नहीं हैं। यही दशा पाली गद्य की भी है। साहित्यिक दृष्टिकोण से अबुलफजल की आईनेअकबरी बहुत महत्त्वपूर्ण किताब है। बाबरनामा की गद्य-शैली भी बहुत सुन्दर है। इसके अतिरिक्त चूँकि मुसलमानों का सारा शासन-सम्बन्धी कार्य फारसी में होता रहा, इसलिए फ़ारसी गद्य में बहुत काम हुआ और यह भाषा काफी फैलती रही।

प्रारंभ से लेकर आजतक की उर्दू कविता, गद्य की रामकहानी अब समाप्त होती है। यह न भूलना चाहिए कि समृद्धशाली और उन्नत देशों के समक्ष में एशिया एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप रहा है। यूरोप और अमरीका व्यापार और उद्योग में एशिया से बहुत आगे रहे हैं। इन देशों का साहित्य भी बड़ा समृद्धशाली रहा है। इंगलिस्तान के एक बहुत बड़े शायर ने लिखा था कि यूरोप के पचास साल चीन के एक पूरे युग से अधिक बेहतर, भरपूर और उन्नतिशील हैं। शताब्दियों के स्वप्न के बाद अब एशिया की नींद टूटी है और अब अफ्रीका की नींद भी टूट चुकी है। पराधीनता के बावजूद हिन्दुस्तान की भाषाएँ और उनका साहित्य काफी आगे बढ़ा है और अब तो बढ़ता ही जा रहा है। हिन्दुस्तान की अन्य भाषाएँ और उर्दू का महत्त्व तब दर्शनीय होगा जब भारत का जीवन हर दृष्टिकोण से समृद्धशाली हो जायेगा। हमारा सामाजिक, नागरिक और राजनीतिक जीवन भाषा की उन्नति पर ही अवलम्बित है। साहित्य न तो शून्य में तरक्की करता है और न तो जीवन के अन्य अंगों के निर्बल होने से ही उन्नति करता है। ४३, ४४ करोड़ जनसमुदाय के जीवन के उन्नतिशील होने पर ही भारतीय भाषाएँ तरक्की कर सकती हैं। यूरोप, अमरीका या संसार के अन्य देशों की पराधीनता हमारे लिए विष है। पाश्चात्य

देशों के साहित्य से घृणा करके हम बड़ा साहित्य पैदा नहीं कर सकते । भविष्य में तभी बड़ा साहित्य पैदा हो सकता है, जब हमारे चोटी के लेखक अधिक अश तक पश्चिमी साहित्य का अध्ययन करें । एक ओर हमें वेदों से लेकर आजतक की सांस्कृतिक निधियों को अपनाना होगा और दूसरी ओर हमें पाश्चात्य देशों के साहित्य से भी भली प्रकार परिचय प्राप्त करना होगा। हमें अपने भूतकाल से बहुत कुछ सीखना है और यूरोप और अमरीका से भी बहुत कुछ सीखना है। ये ही वे दो पहिये हैं जिनके सहारे हमारे देश के जीवन और साहित्य का जलूस आगे बढ़ सकता है ।

दक्षिण में उर्दू के महत्त्व प्राप्त करने का एक और राजनीतिक कारण है। जस समय उत्तर भारत मे मुसलमान विजेता की हैसियत से सारा राज्यकाज पने ही हाथो मे लिये हुए थे, उसी समय से दक्षिण में तत्कालीन आवश्यकताओं मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने का यत्न किया जिसमे वे सफल भी हुए। दक्षिणी राज्यों में महत्त्वपूर्ण पदों पर च्छी सख्या मे हिन्दू—विशेषत ब्राह्मण—रहे थे। (बहमनी राज्य का मकरण भी गगू ब्राह्मण के कारण हुआ।) दक्षिण के मुसलमान बादशाहों ा अपने पडोसी हिन्दू राज्यों से भी अधिक मेल जोल रहा। फलत दक्षिण सुल्तानो ने हिन्दी को—जो उस समय की उर्दू से भिन्न न थी—अधिका-धक महत्त्व देना शुरु किया।

यह बताने की आवश्यकता नही कि कोई भाषा जब किसी अन्य प्रदेश पनपती है तो अपने पूर्ववर्ती विशुद्ध रूप में नही रह पाती; उस पर स्थानीय ाषाओं और बोलियों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। दक्षिण की उर्दू र तिलगी (तेलुगु), कन्नड और महाराष्ट्रीय भाषाओं का भी कुछ प्रभाव ड़ा और दक्षिण की उर्दू में सर्वनामों, कारकों आदि की दृष्टि से उत्तर भारतीय र्दू से कुछ अलगाव पैदा हो गया। उदाहरणार्थ, उसमें सकर्मक क्रिया के तकालीन रूप के पहले कर्ता कारक 'ने' का प्रयोग नहीं होता था। इसी प्रकार मुझ को' का दक्षिणी रूप 'मेरे को' है। 'हम' 'तुम' की बजाय वे लोग 'हमन' तुमन' का प्रयोग करते हैं। 'से' की बजाय दक्षिण में 'सेती' का प्रयोग मिलता । उत्तर भारत की उन्नीसवी शताब्दी की उर्दू तो बहुत ही फारसीमुक्त ी गयी थी, किन्तु पुरानी हिन्दीमय उर्दू से भी अधिक सस्कृत के तत्सम तथा द्भव शब्दो का प्रयोग दक्षिणी उर्दू में मिलता है। कुछ लोगो का यह विचार नितात भ्रम-मूलक है कि दक्षिणी उर्दू, उर्दू भाषा का एक विकृत रूप है। दक्षिणी र्दू अपने अदर एक पूर्ण भाषा के गुण रखती है, उसे विकृत किसी प्रकार ी नही कहा जा सकता।

दक्षिण में काव्य-सर्जन के प्रारभिक रूप क्या थे, यह निश्चित रूप से नही जा सका है, क्योंकि इसके लिए हमारे पास यथेष्ट सामग्री नही है। अटकल के बल पर कहा जा सकता है कि प्रारभिक कविता हिन्दी के दोहों

मसनवियाँ 'गुलशने-इश्क़' तथा 'अलीनामा' लिखीं। मुल्ला हाशिमी जन्मतः अंधे थे। इनकी एक मसनवी 'यूसुफ़ जुलेखा' काफ़ी प्रसिद्ध है।

इब्राहीम आदिलशाह के पुत्र अली आदिलशाह के समय में भी बीजापुर में साहित्य की उन्नति होती रही। इसी के प्रताप के वर्णन में नुसरती ने फ़िरदौसी के शाहनामा की तर्ज़ पर मसनवी 'अलीनामा' लिखी और 'मलिकुश्शुअरा' की उपाधि प्राप्त की। अली आदिलशाह के दरबार में उस समय के अन्य प्रसिद्ध कवि भी प्रश्रय पाते रहे।

बीजापुर के दरबारों के समय में और गोलकुण्डा के क़ुतुबशाहियों के ज़माने में साहित्य की बहुत उन्नति हुई। गोलकुण्डा में बीजापुर से अधिक ही हुई। कारण यह था कि क़ुतुबशाही नरेश कवियों के प्रश्रयदाता होने के साथ ही खुद भी कवि थे। सत्रहवीं शताब्दी में गोलकुण्डा का दरबार साहित्यिक उन्नति के लिए बराबर प्रसिद्ध रहा।

मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह—इस वंश में सबसे पहले दृष्टि सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह 'मआनी' पर पड़ती है, जिसने अपनी हिन्दू रानी भागमती के नाम पर भाग नगर (जिसे बाद में उसने हैदराबाद का नाम दे दिया) बसाया था। इसका शासनकाल १५८० ई० से १६११ ई० तक है। हाल में ही हैदराबाद से सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह का वृहत् काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ है। कविता के अतिरिक्त इसे संगीत, वास्तुकला आदि में भी गहरी रुचि थी। यह दकनी उर्दू, तेलुगु तथा फ़ारसी तीनों में कविता करता था। काव्य रूपों में मसनवियां, कसीदे, तरजीबंद, मरसिए तथा रुबाइयां मिलती हैं। सरलता और माधुर्य कुली कुतुबशाह की कविताओं की विशेषताएँ हैं।

विषय के लिहाज से उर्दू काव्य के विकास में सुल्तान कुली कुतुबशाह की कविताओं का विशेष महत्त्व है। इससे पहले जो उर्दू कविताएँ मिलती हैं, वे सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रतिपादन मात्र हैं, उनमें न स्वाधीन अभिव्यक्ति है, न विषय-बाहुल्य। इसीलिए उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके विपरीत सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह की रचनाओं को वास्तविक अर्थों में साहित्यिक कोटि में रखा जा सकता है। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

सबसे पहली बात तो यह है कि उन्होंने दकनी को फ़ारसी के प्रभाव से

बिल्कुल मुक्त कर दिया। उन्होंने हिन्दी का बहुत प्रभाव लिया—हिन्दी के रसों और उपमाओं का प्रयोग किया, फारसी शब्दों को भी हिन्दी रूप दे दिया और स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रेम-प्रदर्शन का आधार लिया, जो कि हिन्दी काव्य की विशेषता है। हिन्दी शब्दों का भी उन्होंने खुलकर प्रयोग किया है। ईश्वर की प्रशंसा भी ठेठ बोलचाल की भाषा में की है।

दूसरी बात यह है कि उन्होंने उर्दू काव्य को सूफी आध्यात्मिक प्रेम के साथ ही लौकिक प्रेम के प्रदर्शन का भी माध्यम बनाया। उनके जीवन में भी शृंगार का तत्व काफ़ी था, इसलिए उनकी शृंगारिक कविताओं मे काफी जान है।

उनकी तीसरी विशेषता स्थानीयता है, जिसके कारण उनके यहाँ विषय-बाहुल्य हो गया है और एकरसता पैदा नहीं होने पाती। उन्होंने भारतीय कथा साहित्य को भी पद्यबद्ध किया है, हिन्दू सूरवीरों का भी वर्णन किया है, हिन्दुओं के धार्मिक त्योहारों तथा रीत-रिवाजों का भी वर्णन किया है, हिन्दुस्तान के फलों, तरकारियों तथा शिकारी चिड़ियों पर भी मसनवियाँ लिखी हैं। लेकिन इस स्थानीयता के साथ उन्होंने अपने धर्म के सम्बन्ध में भी काफी कविताएँ लिखी हैं।

साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि उनकी भाषा सत्रहवीं शताब्दी की दकनी उर्दू थी, जो अपने देश और काल में अत्यंत सरल समझी जाती थी, किन्तु आज हमारे लिए उसका समझना उतना सरल नहीं है। उदाहरणार्थ, उनके दो शेर दिये जाते हैं—

दिल माँग खुदा जिन कि खुदा काम-[illegible]
गुमनन कि मुरादन
[illegible] हैं [illegible]
[illegible] प्रमीह

[illegible]

दीवान हैं—एक फारसी में और दूसरा दकनी उर्दू में। कविता का नमूना यह है—

सखी तू हर घड़ी मुझ पर न कर पेंच
मुहब्बत पर नजर रखकर बिगर पेंच

सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह—यह सुल्तान मुहम्मद कुतुबशाह के पुत्र तथा उत्तराधिकारी थे। यह स्वयं भी अपने पिता और पितामह की भाँति कवि तथा कलाप्रेमी थे और इनके दरबार में इब्न निशाती, गव्वासी, मुल्ला वजही आदि प्रसिद्ध कवि थे। अब्दुल्ला कुतुबशाह के नाम से अन्य विद्वानों ने भी कई विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखी हैं और स्वयं उनके भी दो दीवान—एक फ़ारसी में और दूसरा दकनी उर्दू में—हैं। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है—

तेरी पेशानी पर टीका झमकता
तमाशा है उजाले में उजाला

इब्ने-निशाती—यह सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह के दरबार में थे। इनकी मसनवी 'फूलबन' मशहूर है, जो दकनी भाषा में अच्छा प्रेम काव्य है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह एक फारसी पुस्तक का उर्दू में पद्यबद्ध अनुवाद है। विशेष बात यह है कि इसमें मूल तथा कथा के साथ अलौकिक घटनाएँ भी बहुलता के साथ आती हैं। इस पुस्तक का रचना-काल १६६० ई० है।

गव्वासी—यह भी सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह के दरबारी शायर थे। इनकी दो मसनवियाँ—'सैफ़ुल मुलूक' तथा 'तूतीनामा' मशहूर हैं। सैफ़ुल मुलूक को अलिफ लैला के किसी फ़ारसी अनुवाद का भाषानुवाद कहा जाता है और 'तूतीनामा' का आधार संस्कृत की पुस्तक 'शुक सप्तति' को बताया जाता है। 'तूतीनामा' आधी फ़ारसी और आधी हिन्दी में की गयी रचना है।

वजही—अब्दुल्ला कुतुबशाह के ज़माने के सबसे प्रसिद्ध कवि मौलाना वजही थे। इनकी मसनवी 'कुतुब मुश्तरी' तथा गद्य पुस्तक 'सब रस' दकनी उर्दू के साहित्य में महत्त्वपूर्ण है। उस काल की शैली के अनुसार 'सब रस' का काफ़ी अंश पद्य में भी है। उर्दू की संभवतः यह सबसे पहली शृंखलाबद्ध कथा

है। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त मुल्ला वजही का ही एक कुल्लियात (पद्य-संग्रह) भी है। मुल्ला वजही का देहांत १६४० ई० में हुआ।

इनके अलावा अब्दुल्ला कुतुब शाह के दरबार में मुल्ला कुतुबी, जुनैदी, तबई आदि कवि भी हुए हैं, जिन्होंने अधिकतर मसनवियाँ लिखी हैं।

सुल्तान अबुलहसन तानाशाह—तानाशाह गोलकुण्डा का अंतिम नरेश था। औरंगजेब ने १६८७ ई० में इसका राज्य जीत लिया और इसका शेष जीवन बंदीगृह में बीता। यह अब्दुल्ला कुतुब शाह का दामाद था और उसकी मृत्यु के बाद १६७४ ई० में गद्दी पर बैठा था। यह प्रकृति का विलासी था, किन्तु इसकी रुचि बड़ी परिष्कृत थी। इसके दरबार में भी विद्वानों का आदर था। मसनवी 'रूह-अफज़ा' के रचयिता फायज़ इसी के दरबार में थे।

बहरी—बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों के अंतिम काल में सूफी संत काज़ी महमूद 'बहरी' भी प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उन्होंने फारसी और दकनी में मसनवियाँ, गज़लें, कसीदे और रुबाइयाँ लिखीं। उनके शेरों की संख्या लगभग ५०,००० है। इनकी सब से प्रसिद्ध रचना 'मनलगन' है, जो सूफी रंग की मसनवी है, किन्तु इसकी भाषा और भाव काफी दुरूह हैं।

औरंगाबाद काल

औरंगजेब ने १६८० ई० में शिवाजी के मरने पर दकन पर चढ़ाई की और १६८६ ई० में बीजापुर तथा १६८७ ई० में गोलकुण्डा को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया और इस प्रकार इन दोनों स्थानों से साहित्य के केन्द्र उठ गये। फिर भी दकन से साहित्य का प्रस्थान कुछ देर में हुआ, क्योंकि अपने अंतिम समय में औरंगजेब ने अपना अधिकतर समय औरंगाबाद में ही बिताया। इसका कारण यह था कि उसे अंतिम समय में अधिकतर दक्षिण में ही लड़ाइयाँ करनी पड़ी थीं। औरंगाबाद में शाही सदर मुकाम होने के कारण वहाँ पर दक्षिण के समस्त गुणियों और विद्वानों का जमाव हो गया। इस प्रकार साहित्य के केन्द्र बीजापुर और गोलकुण्डा से हटकर औरंगाबाद आ गये। यही नहीं, दिल्ली के अमीर तथा विद्वज्जन भी आकर औरंगाबाद में बस गये।

औरंगाबाद थोड़े ही दिनों तक शाही सदर मुकाम रहा, क्योंकि औरंगजेब

के बाद मुगल साम्राज्य सर्वनिष्ट होने लगा था और राजधानी दिल्ली ही सा
सदर मुकाम हो गयी थी। किन्तु इस अल्पकाल में ही औरंगाबाद में कई क
हुए, जिनका दो दृष्टियों से महत्त्व है। एक तो यह कि उनकी कविता में द
के पुराने कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कार है और वे उर्दू काव्य के विकास
अगली कड़ी बनाते हैं। दूसरे यह कि शैली और भाषा के मामले में औरंगा
काल को दकनी उर्दू तथा उत्तरी भारत की उर्दू के बीच की कड़ी कहा जा सक
है। इन कवियों की रचनाओं में दिल्ली के कवियों की अपेक्षा दकनीपन अधि
है और कुतुबशाही तथा आदिलशाही कवियों की अपेक्षा भाषा का सुधर
तथा फ़ारसीपन की प्रवृत्ति अधिक है। इस ज़माने के कवियों का विस्तृत वर्ण
लक्ष्मीनारायण 'शफ़ीक़' की पुस्तक 'चमनिस्ताने-शुअरा' तथा एक अन्य पुस्त
'तज़करए-मुसुवीरा' में मिलता है। मीर हसन के 'तज़किरे' में भी इन
वर्णन है।

वली—वली को आधुनिक उर्दू का आदि कवि माना जा सकता है। मौला
मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने तो उन्हें उर्दू का पहला कवि माना है, लेकिन ब
की खोजों से उनकी धारणा गलत सिद्ध हो गयी। फिर भी केवल भाषा की
नही, बल्कि भावो की दृष्टि से वली दकन की अपेक्षा आधुनिक उर्दू के अधि
समीप मालूम होते हैं। आज़ाद को वली के नाम में भी कुछ भ्रम हुआ है, क्यों
उन्होंने इनका नाम शम्स वलीउल्ला लिखा है। शम्स वलीउल्ला नाम
एक सूफ़ी बुज़ुर्ग इसी काल में अहमदाबाद में थे, परन्तु उर्दू कविता के प्रमु
स्तंभ 'वली' से उनका कोई संबंध नही था। यह भ्रम इस कारण भी
सकता है कि 'वली' ने अपनी जवानी का ज़माना अहमदाबाद में बिता
था। कुछ लोगों का यह विचार भी भ्रम-पूर्ण है कि वली अहमदाबाद में उत्प
हुए थे और शाह वजीहुद्दीन अलवी के ख़ानदान से थे।

वली १६६८ ई० में औरंगाबाद में पैदा हुए थे। वे औरंगाबाद के कादरि
शेखों के वंशज थे। नाम शम्सुद्दीन था। बीस वर्ष की अवस्था तक औरंगाबा
में रह कर विद्योपार्जन किया, फिर उच्च धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लि
अहमदाबाद गये। अहमदाबाद में शाह वजीहुद्दीन अलवी का मदरसा प्रख्या
शिक्षा-केन्द्र था, जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे। शम्सुद्दीन ने भी कुछ व

तक शिक्षा ग्रहण की और शाह वजीहुद्दीन से इतने प्रभावित हुए कि खुद एक फकीर खानदान के रत्न होने के बावजूद शाह साहब के आध्यात्मिक शिष्य हो गये और जीवन का अधिकतर भाग उन्होंने अहमदाबाद में ही व्यतीत किया। यहाँ तक कि अंत समय में औरंगाबाद से फिर अहमदाबाद आ गये और अहमदाबाद में ही १७४४ ई० में उनका देहान्त हो गया।

वली ने अपने जीवन में यात्राएँ खूब कीं। सूफी फकीर जगह-जगह घूमकर सत्संग लाभ करना भी जरूरी समझते हैं। 'तजकिरों' से मालूम होता है कि वे दो बार दिल्ली गये। पहली बार १७०० ई० में औरंगजेब के शासनकाल में वे दिल्ली गये। उस समय तक वे अन्य सूफी फकीरों की तरह फारसी में कविता करते थे। दिल्ली में उनकी भेंट प्रसिद्ध सूफी बुजुर्ग शाह गुलशन से हुई। शाह गुलशन के कहने पर ही उन्होंने उर्दू में काव्य-रचना आरंभ की और अन्त इसीमें चमके। कुछ लोगों का विचार है कि वे शाह गुलशन के शिष्य हो गये थे, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, यह ठीक है कि उनकी आस्था शाह गुलशन में थी।

पहली दिल्ली-यात्रा के बाद वे फिर अहमदाबाद चले गये और दूसरी बार १७२२ ई० में फिर एक अन्य सूफी संत सय्यद अबुलमाली के साथ दिल्ली और सरहिन्द के सूफी फकीरों की समाधियों के दर्शन के लिए निकल पड़े। इस समय तक उनका उर्दू का दीवान तय्यार हो चुका था। दिल्ली में उनकी कविता का बड़ा आदर हुआ और उनके शेर बच्चे-बच्चे की जबान पर जारी हो गये। अमीरों की महफिलों, सूफियों के जमघटों और गली-कूचों में उनके शेर बहुत मशहूर हो गये। उनके शेरों से लोगों की उर्दू में काव्य-रचना करने की रुचि उत्पन्न हुई।

केवल यही नहीं कि दिल्लीवालों ने ही 'वली' की आवभगत की हो, खुद वली को भी दिल्ली बहुत पसंद आयी थी। उनका निम्नलिखित शेर काफी मशहूर हो गया है—

दिल 'वली' का ले लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ

यूँ तो दिल्ली ही क्या, वली का दिल हर शहर छीन लेता था। अहम-
दाबाद की उन्होंने प्रशंसा की, सूरत का शहर उन्हें पसंद आया और फिर दिल्ली
क्यों न पसंद आती?

दूसरी बार दिल्ली और सरहिन्द की यात्राएँ करने के बाद वली औरंगाबाद
आये और कई वर्षों तक वहाँ रहे। औरंगाबाद में उन्होंने करबला के शही-
दों की प्रशंसा में एक मसनवी 'दह मजलिस' लिखी। उन्होंने इसमें इसका रचना-
काल ११४१ हि० (१७२९ ई०) दिया है। इस मसनवी को फ़ज़ली ने ग-
द्य के साँचे में ढाला, जो मूल से भी अधिक लोकप्रिय हुआ। 'गुलदस्ते-हिन्द' के
लेखक के कथनानुसार वली का हिन्दी कविता का भी एक संग्रह है। मौलाना
आज़ाद तथा 'गुले-रअना' के लेखक मौ० अब्दुल हई के कथनानुसार वली ने
सूफ़ीमत संबंधी एक गद्य पुस्तक 'नूरुल मअरिफ़त' भी लिखी थी। लेकिन
ये दोनों पुस्तकें अब अप्राप्य हैं।

वली को अपने गुरु के निवासस्थान अहमदाबाद से अत्यधिक प्रेम था।
औरंगाबाद में कुछ वर्षों तक रहने के बाद वे फिर अहमदाबाद चले गये।
वहीं उनका देहांत हुआ। 'तज़करए-शुअराए-दकन' के अनुसार उनका
देहांत ११५५ हि० (१७४४ ई०) में हुआ।

वली के जीवनवृत्त के बारे में विस्तार से कुछ नहीं मालूम हो सका है।
फिर भी इतना तो मालूम होता है कि उनमें फकीरों का सा मस्त मौलापन बहुत
था। किसी दरबार में जाने की बात तो उन्होंने कभी नहीं सोची, किसी दर-
बार में गये भी नहीं, फिर भी जनसाधारण में उनकी मित्रता का क्षेत्र बहुत
बढ़ा हुआ था। पूरे सूफ़ी थे, इसलिए धार्मिक भेदभाव भी न था। उनके
दोस्तों में बहुत से हिन्दू भी थे। कई मित्रों—अमृतलाल, खेमदास, गोह-
लाल, मुहम्मद यार खाँ देहलवी आदि—से तो उनके मैत्री-सम्बन्ध प्रेम-सम्बन्ध
की सीमा तक बढ़े हुए थे। उनके दीवान में जगह-जगह इन लोगों के नाम
आते हैं, बल्कि उन्होंने कुछ के बारे में तो पूरी की पूरी गजलें भी लिख दी हैं।
इसी प्रकार सुन्नी मुसलमान होते हुए भी उन्हें अन्य इस्लामी सम्प्रदायों से कोई
विद्वेष न था।

वली की कविता का केवल प्रारंभिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं

था। अपने अंदर यूँ भी वली की ग़ज़लें यथेष्ट कोमल कल्पना तथा भाव-सौष्ठव लिये हुए हैं और वे साफ़ और सीधी, किन्तु प्रभावशाली काव्य का अच्छा नमूना हैं। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, इसमें संदेह नहीं कि उत्तर भारत की उर्दू की अपेक्षा वली की भाषा में काफ़ी दक्नीपन मालूम होता है। 'तेरा' की बजाय 'तुझ', 'से' की बजाय 'सेती', 'तरह' की जगह 'नमन', 'हम' की जगह 'हमन' आदि का प्रयोग उनके यहाँ खूब मिलता है, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि कुतुबशाही और आदिलशाही कवियों की अपेक्षा दक्नीपन उनकी भाषा में कम है। भाषा में प्रवाह उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों से कहीं अधिक पैदा कर दिया है। छोटी बहों (छंदों) में भी अच्छे शेर कहे हैं। नमूने के लिए उनकी तीन ग़ज़लें नीचे दी जा रही हैं—

तुझ लब की सिफ़त लाले बदख्शाँ से कहूँगा,
जादू है तेरे नैन ग़ज़ालों से कहूँगा।
दी हक़ ने तुझे बादशही हुस्न नगर की,
यह किश्वरे-ईराँ में सुलेमाँ से कहूँगा।
ज़ख़्मी किया है मुझ तेरे पलकों की अनी ने,
यह ज़ख़्म तेरा ख़ंजरे-भालों से कहूँगा।
बेताब न हो ऐ 'वली' इस दर्द से हरगाह,
जल्दी से तेरे दर्द की दरमाँ से कहूँगा।

बेवफ़ाई न कर ख़ुदा सूँ डर,
जग हँसाई न कर ख़ुदा सूँ डर।
है जुदाई में ज़िन्दगी मुश्किल,
आ जुदाई न कर ख़ुदा सूँ डर।
उससे जो आशनाई हर कर है,
आशनाई न कर ख़ुदा सूँ डर।
आरसी देखकर न हो मग़रूर,
ख़ुदनुमाई न कर ख़ुदा सूँ डर।

ऐ 'वली' ग़ैर आस्तान-ए-यार,
जब्ह-साई न कर ख़ुदा सूँ डर ।

जिस वक़्त ऐ सिरीजन तू बे-हिजाब होगा
हर ज़र्रा तुझ झलक सूँ ज्यूँ आफ़ताब होगा ।
मत जा चमन मूँ लाला बुलबुल पे मत सितम कर
गर्मी सूँ तुझ निगह की गुलगुल गुलाब होगा ।
मत आइने को दिखला अपना जमाले-रौशन
तुझ मुख की ताब देखे आईना आब होगा ।
निकला है वह सितमगर तेग़े-अदा को लेकर
सीनें पे आशिक़ां के अब फ़तेहयाब होगा ।
रखता है क्यों जफ़ा को मुझ पर रवा ऐ ज़ालिम
महशर में तुझ से आख़िर मेरा हिसाब होगा ।
मुझको हुआ है मालूम ऐ मस्ते-जामे-खूनीं
तुझ अँखड़ियाँ के देखे आलम ख़राब होगा ।
हातिफ़ ने यूँ दिया है मुझको 'वली' बशारत
उसकी गली में जा तू मक़सद शिताब होगा ।

सिराज—औरंगाबाद काल के दूसरे महाकवि सिराजुद्दीन 'सिराज' हुए हैं, जिनकी ख्याति वली जैसी नहीं, तो उनसे दूसरे नम्बर पर ज़रूर थी। यह भी पूर्णत. फकीर थे । अपनी एक रचना 'मुंतख़िब दीवानहा' में—जिसमें उन्होंने फ़ारसी के प्राचीन तथा अपने समकालीन कवियों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन किया है—उन्होंने अपना जीवनवृत्त दिया है । अपने बारे में लिखते हैं कि बारह वर्ष की अवस्था से सात वर्ष तक फकीराना भावोन्माद रहा, जिसमें वे शाह बुरहानुद्दीन गरीब दौलताबादी नामक प्रख्यात सूफी संत की समाधि के चक्कर लगाते रहे । इस अरसे में बहुत फ़ारसी शेर कहे, लेकिन उन्हें लेखनीबद्ध नहीं किया । लिखे गये होते तो उनका भारी-भरकम संग्रह तैयार हो जाता । उन्नीस वर्ष की अवस्था में वे ख्वाजा सय्यद शाह अब्दुर्रहमान चिश्ती के पास पहुँचे और उनके आध्यात्मिक शिष्य हो गये।

अपने एक गुरुभाई अब्दुर्रसूल खा के कहने पर उन्होंने फारसी की बजाय उर्दू में शेर कहना शुरू किया। कई वर्षों तक शेर-शायरी का सिलसिला चला। उनकी उर्दू तथा फारसी रचनाओं का सम्पादन उनके गुरुभाई अब्दुर्रसूल खा ने ही किया और उसे काव्यप्रेमियों के पास भेजा। किन्तु काव्य-रचना का क्रम अधिक न चला, क्योंकि आपके गुरु ने आपको आदेश दिया कि काव्य-रचना छोड़कर पूरी तरह फ़क़ीर बन जाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। इसीलिए इनका काव्य एक उर्दू तथा एक फ़ारसी दीवान से अधिक नहीं हुआ। हाँ, एक मसनवी 'बोस्ताने-ख़याल' भी इन्होंने लिखी है।

फिर भी इनकी धाक कविता क्षेत्र मे जमी हुई थी। सप्ताह मे इनके घर एक बार गोष्ठी हुआ करती थी, जिसमें कव्वाल और गवैया अपना कमाल दिखाते थे और नगर के समस्त विद्वान् एकत्र होते थे। खूब मुशायरे हुआ करते थे और लोगों के अत्यधिक आग्रह पर कभी-कभी शेर कह लेते थे। स्वभाव में सतपन कूट-कूटकर भरा था। अतिथि-सत्कार तथा दीनों, अनाथो की सहायता करने में विख्यात थे। अधिकतर अपना समय एकात मे ईश्वर-चिन्तन में बिताते थे तथा पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। इनका देहावसान १७६४ ई० में पचास वर्ष की अवस्था में हुआ।

मीर ने अपने कवि-परिचयात्मक ग्रथ 'निकातुश्शुअरा' में लिखा है कि सिराज कविता में सय्यद हमज़ा के शागिर्द थे। मीर हसन ने भी अपने 'तज़किरे' में यही कहा है। लेकिन दकन में सय्यद हमज़ा नामक किसी प्रख्यात कवि का उल्लेख नहीं मिलता। डा० सक्सेना के कथनानुसार वे किसी के शिष्य नहीं थे। यह भी हो सकता है कि आरभ में सय्यद हमज़ा नामक किसी अप्रसिद्ध कवि को उन्होंने सशोधनार्थ अपनी कुछ रचनाएँ दिखायी हों। ऐसा हो तो भी उन्हें इस आधार पर सय्यद हमज़ा का शिष्य नहीं कहा जा सकता और डॉ० राम बाबू सक्सेना की राय को ही ठीक मानना चाहिए।

वली की भाँति सिराज की रचनाएँ भी साफ़ सुथरी और सरल हैं। उनमें न भारी भरकम शब्दजाल है, न द्व्यर्थकों का आडम्बर, न अनावश्यक अलकारों का प्रयोग। सफ़ाई और सादगी ने वर्णन में ज़बर्दस्त प्रवाह पैदा कर दिया है। जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, वहाँ आध्यात्मिक प्रेम की छटा उनके यहाँ

दिखाई देती है, लेकिन इस खूबसूरती से इस विषय को निभाया है कि पढ़ने वाले और सुननेवाले मस्ती में झूम उठते हैं। दक्खन में वली के समान उर्दू काव्य के पौधे की सिंचाई और काट-छाँट करनेवाले सिराज ही हैं। सिराज की एक अति प्रसिद्ध ग़ज़ल निम्नलिखित है—

> ख़बरे-तहय्युरे-इश्क़ सुन न जुनूँ न परी रही
> न तो तू रहा न तो मैं रहा जो रही सो बेख़बरी रही।
> शहे-बेख़ुदी ने अता किया मुझे अब लिबासे-बरहनगी
> न ख़िरद की बख़िया-गिरी रही न जुनूँ की पर्दादरी रही।
> चली सिम्ते-ग़ैब से इक हवा कि चमन सुरूर का जल गया
> मगर एक शाख़े-निहाले-ग़म जिसे दिल कहें सो हरी रही।
> नज़रे-तग़ाफ़ुले-यार का गिला किस ज़बाँ से बयाँ करें
> कि शराबे-सद-क़दा-आरज़ू ख़ुमे-दिल में थी सो भरी रही।
> वो अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्स नुस्ख़ए-इश्क़ का
> कि किताब अक़्ल की ताक़ पर ज्यूँ धरी थी यूँ ही धरी रही।
> तेरे जोशे-हैरते-हुस्न का असर इस क़दर से यहाँ हुआ
> कि न आइने में जिला रही न परी को जल्वागरी रही।
> किया ख़ाक आतशे इश्क़ ने दिले-बेनवाए-'सिराज' कूँ
> न ख़तर रहा न हज़र रहा मगर एक बेख़तरी रही।

यूँ तो औरंगाबाद में इस काल में शेर शायरी का चरचा काफ़ी हो गया था, लेकिन वली और सिराज के अलावा दो-तीन नाम ही उल्लेखनीय हैं। मिर्ज़ा दाऊद ख़ाँ 'दाऊद' वली के समकालीन थे। इन्होंने एक छोटा-सा दीवान यादगार छोड़ा है। इनकी मृत्यु १७५५ ई० में हुई। इनके अतिरिक्त आरिफ़ुद्दीन 'आजिज़' तथा सय्यद अब्दुल वली 'इज़लत' भी इस ज़माने के प्रसिद्ध कवि हुए हैं, जिनका उल्लेख मौलाना अब्दुल हई ने 'गुले-रअना' में किया है। 'आजिज़' का देहावसान १७६५ ई० तथा 'इज़लत' का १७७५ ई० में हुआ। इनकी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं।

मुहम्मद बाकर आगाह्—उपर्युक्त कवि मध्य दक्षिण तक के कहे जाते हैं, न्तु उर्दू की जड़ें दूर-दूर तक—कर्नाटक तथा अरकाट तक—फैली थीं। लवी मुहम्मद बाकर 'आगाह्' कर्नाटक प्रांत के वेलूर नामक नगर में पैदा हुए । इनके पूर्वज बीजापुर के रहनेवाले थे। इन्होंने १७७१ ई० में लेखन-ार्य आरंभ किया और १८०५ ई० तक—अपनी मृत्यु के समय तक—लिखते रहे। उनकी उर्दू रचनाओं की लम्बी सूची निम्नलिखित है—हश्त-बिहिश्त, तुहफ तुल-अहबाब, तुहफतुन्निसा, फरायद दर अकायद, रियाजुल-ना, महबूबुल-कुलूब, रौजतुल-इस्लाम, गुलजारे-इश्क, किस्सा रिजवांशाह, ह-अफजा, खमसा मुतहृरा तथा मसनवी रूप सिंगार।

अरकाट के नवाब के दारुलमहाम शरफुल मुल्क मौलाना मुहम्मद गौस और उनके पुत्र मौलाना काजी बदरुद्दीन ने भी इसी समय कई पुस्तकें उर्दू में लिखी हैं, जिनका उल्लेख 'उर्दू-ए-कदीम' में मिलता है।

: २ :

दिल्ली में उर्दू काव्य का विकास

वली के प्रादुर्भाव से दिल्लीवालों में उर्दू कविता के प्रति रुचि पैदा हुई। इसके पहले साहित्यिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रों में फ़ारसी का बोलवाला था और उर्दू को साधारण बोलचाल की भाषा से अधिक महत्त्व नही दिया जाता था। यूं तो शाहजहाँ के समय में चन्द्र भान 'बरहमन' नामक एक राज्याधिकारी की उर्दू गजले आदि मिलती है और हातिम, रामराव, सेवा, काज़िम अली आदि मरसिया-गो हुए है। लेकिन ये प्रारभिक प्रयत्न या तो केवल मनोरजन के लिए होते थे या परलोक सुधारने के लिए। साहित्य-सर्जन के लिए गभीरतापूर्वक उर्दू को माध्यम बनाने की रुचि दिल्ली में अट्ठारहवी शताब्दी से पहले नहीं दिखाई देती।

वली के दूसरी बार दिल्ली आने के बाद दिल्लीवालों में से भी उर्दू के कवि पैदा हुए और उनमे से शाह मुबारक 'आबरू' (मृत्यु १७५० ई०), मुहम्मद शाकिर 'नाजी', शरफुद्दीन 'मजमून' (मृत्यु १७४५) तथा गुलाम मुस्तफा खा 'यकरग' आदि प्रसिद्ध हुए। इस प्रारभिक काल की चार विशेषताएँ है— (१) दकनी शब्दो का बहिष्कार, (२) सूफियाना विषयो की कमी और ठोस भौतिक प्रेम का प्रदर्शन, (३) वर्णन में पहले से अधिक सफाई और प्रवाह तथा (४) शाब्दिक अनुरूपता तथा द्वयर्थक शब्दो का अत्यधिक प्रयोग। फिर भी इस समय तक दकनी भाषा का कुछ-कुछ असर बना रहा था। इस जमाने की कविता का नमूना निम्नलिखित है—

जबाने शिकवा है मेंहदी का हर पात
कि खूबां ने लगाये हैं मुझे हात (यकरंग)
उस रुखे-रौशन की जो कोई याद में मशगूल है
मेह्र उसके रूबरू सूरजमुखी का फूल है (नाजी)

मुस मातबों की हालत यहाँ तक पहुँचे है उड़कर
मेरा ये रंगे-रुख है गोया मुखो कबूतर (आबरू)

किन्तु शीघ्र ही इस रंग से लोग ऊबने लगे और इनके बाद आनेवाले कवियों ने शाब्दिक अनुरूपता और द्वयर्थियों का जोर कम करके भाषा को सरल, प्रवाहमय और प्राञ्जल बना दिया। उर्दू काव्य के विकास की दृष्टि से इन कवियों का काम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने उर्दू भाषा को ऐसा नरम और लचीला कर दिया कि इनके बाद आनेवाली पीढ़ी ने—जिसमें मीर तकी 'मीर', मिर्ज़ा 'सौदा', मीर 'हसन' आदि चोटी के कवि हुए हैं—उर्दू काव्य को ऐसी ऊँचाइयों पर ला खड़ा किया जहाँ से उर्दूभाषी व्यक्ति ही नहीं, अन्य भाषा-भाषी भी उसे अच्छी तरह देख सकें।

इस युग के प्रमुख कवियों में खान सिराजुद्दीन अली खाँ 'आरज़ू', अशरफ़ अली खाँ 'फ़ुग़ाँ', शाह हातिम तथा मज़हर जानजाना हैं। इन चारों का कुछ विस्तृत वर्णन भी आवश्यक है।

खान सिराजुद्दीन अली खाँ 'आरज़ू'—खान आरज़ू को दकनी कवि 'नाजी', 'मज़मून' आदि के साथ भी रखा जा सकता है और बाद के कवियों 'हातिम', 'जानजाना' आदि के साथ भी। एक ओर तो इन्होंने अपने समकालीनों की भाँति द्वयर्थियों आदि में भी बहुत रुचि दिखायी है, दूसरी ओर इन्होंने भाषा तथा वर्णन में ऐसा निखार पैदा किया है जो बाद के कवियों ही दिखाई देता है। अधिकतर आलोचकों ने इन्हें अपने समकालीनों की [illegible]ि में ही रखा है।

फिर भी दो बातें याद रखनी चाहिए। एक तो यह कि खान आरज़ू ने अधिकतर काव्य-रचना फ़ारसी में की है, उनका उर्दू काव्य बहुत कम है। इस लिहाज़ से कहा नहीं जा सकता कि वे यदि उर्दू में ही अधिक काव्य-रचना करते तो उनकी रचनाएँ कौन-सा मोड़ लेतीं। दूसरे यह कि उनका महत्त्व कवि से अधिक आलोचक की हैसियत से है और उन्होंने अपनी आलोचना और [illegible] से शब्दों और मुहावरों की काट-छाँट की और बाद के कवियों ने उनके [illegible] से लाभ उठाया। इन्होंने [illegible] पुस्तकें लिखी हैं।

'मीर' ने अपने व्यक्तिगत कटु सम्बन्धों की उपेक्षा करके अपने कविवृत्तां निकातुश्शुअरा में इनकी बड़ी प्रशंसा की है, मीर 'हसन' इन्हें अमीर खुसरो के बाद भारत का सबसे बड़ा शायर मानते हैं, मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ा कहते हैं, "खान आरज़ू को उर्दू ज़बान पर वही दावा पहुँचता है जो अरस्तू को फ़लसफ़ए-मंतिक़ (तर्कशास्त्र) पर है।" इस लिहाज़ से खान आरज़ू को उर्दू कविता में एक नये युग का जन्मदाता कहा जा सकता है।

खान आरज़ू आगरे के निवासी शाह मुहम्मद गौस गवालियरी के वंश में से थे। उनके पिता का नाम शेख हिसामुद्दीन 'हिसाम' था। खान आरज़ू की पैदायश १६८९ ई० में दिल्ली में हुई थी। बचपन में अन्य विद्याओं और कलाओं के साथ ही उन्होंने काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया। जवानी में गवालियर में मनसबदार नियुक्त हुए, किन्तु फर्रुखसियर के राज्यकाल १७१८ ई० में दिल्ली वापस आये और यहीं रहकर दरबारदारी और साहित्य-चरचा करने लगे। नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात् नवाब सालार जंग की सलाह से वे दिल्ली छोड़कर लखनऊ जा बसे और वहीं १७५६ ई० में उनका देहावसान हुआ। किन्तु उनकी इच्छा के अनुसार नवाब सालार जंग उनके शव को दिल्ली ले गये और वहीं पर उन्हें दफन किया गया।

खान आरज़ू में सामंतो के सभी गुण थे। उनमें गुण-ग्राहकता भी थी (मिर्ज़ा सौदा को उनसे बहुत प्रोत्साहन मिला था), अपनी योग्यता का गर्व भी था और स्वभाव में कुछ क्रोध भी था। गर्व का यह हाल था कि प्रसिद्ध विद्वान् शेख अली हज़ी जब १७३४ ई० में ईरान से भारत वापस हुए तो केवल खान आरज़ू ही थे जो उनसे मिलने न गये। जब संयोग से उनकी मुलाक़ात शेख साहब से हो गयी तो भी उन्हें शेख साहब की गर्वोक्तियाँ पसन्द न आयीं और उन्होंने शेख साहब की रचनाओं पर आपत्तियाँ करते हुए 'तम्बीहुल-ग़ाफ़लीन' नामक एक पुस्तिका लिख डाली। क्रोध का यह हाल था कि अपने भानजे मीर तकी 'मीर' को खाने पर ही इतनी कड़ी बातें सुनायीं कि वे बगैर खाना खाये ही उठ गये और उनके घर से, जहाँ वे रहने लगे थे, हमेशा के लिए चले आये।

खान आरज़ू की उर्दू कविता का नमूना निम्नलिखित है—

आता है हर सहर उठ तेरी बराबरी को
क्या दिन लगे हैं देखो ख़ुर्शीद-ख़ावरी को।
उस तुन्द-ख़ू सनम से जब से लगा हूँ मिलने
हर कोई मानता है मेरी दिलावरी को।

अशरफ़ अली खाँ 'फ़ुग़ाँ'—इन सज्जन ने तख़ल्लुस तो बड़ा मातमी रखा था, किन्तु इनका स्वभाव इसके बिलकुल विपरीत था। अपने ज़माने में यह अत्यन्त हास्य-प्रेमी और विनोदी समझे जाते थे। यह दिल्ली के बादशाह अहमद शाह के कोका (पोष्य भाई) थे। इसी कारण इन्हें 'ज़रीफ़ुल-मुल्क कोका खाँ बहादुर' की उपाधि दिल्ली दरबार से मिली हुई थी। अहमदशाह अब्दाली का हमला होने के बाद वे दिल्ली से मुर्शिदाबाद चले आये, जहाँ उनके चाचा ईरज खाँ प्रभावशाली व्यक्तियों में से थे। मुर्शिदाबाद से वे अवध के दरबार में पहुँचे और नवाब शुजाउद्दौला ने उनकी बहुत कद्रदानी की। किन्तु यह नाज़ुक मिज़ाज भी बहुत थे। एक रोज़ नवाब ने हँसी-हँसी में कोई हरकत ऐसी की कि इन्होंने फ़ैज़ाबाद छोड़ ही दिया। आज़ाद का कहना है कि नवाब के हाथ से इनका कपड़ा जल गया था। मुसहफ़ी कहते हैं कि नवाब ने गर्म [illegible] से उनका हाथ दाग दिया था। जो कुछ भी हो, यह फ़ैज़ाबाद छोड़कर पटना चले आये और वहाँ राजा सिताब राय के दरबार में शामिल हो गये। राजा साहब इनके उच्च वंश तथा प्रतिभा के कारण इनका बहुत सम्मान करते थे। लेकिन सारी हँसने-हँसाने की आदत के बावजूद इनकी नाज़ुक मिज़ाजी यहाँ भी रंग लायी और किसी बात पर राजा साहब से भी नाराज़ हो गये और उनके दरबार में जाना छोड़ दिया। इसके बाद वे घर बैठ रहे, लेकिन अंग्रेज़ हाकिमों से उनके संबंध अच्छे रहे और इस कारण उन्हें कोई आर्थिक कठिनाई अन्त समय तक नहीं हुई। इनकी मृत्यु पटने में ही १७७२ ई० में हुई और वहीं दफ़न किये गये।

इनकी तबीयत में रवानी और ज़ोर बहुत था। हजवियों तथा अश्लीलता से इन्होंने अपना दामन बचा लिया था। हिन्दी और फ़ारसी मुहावरों और वर्णन का सौन्दर्य इनके यहाँ खूब देखने को मिलता है। एक दीवान उर्दू का प्राप्त है, जिसमें हर तरह की कविताएँ हैं। 'ग़ज़ल' और 'मुख़म्मस' दोनों के अलावा-

नुसार इनका एक फारसी का दीवान भी था। इनकी रचनाओं का नमून निम्नलिखित है—

> मुफ़्त सौदा है, अरे यार कहाँ जाता है
> आ मेरे दिल के ख़रीदार कहाँ जाता है।
> लिये जाती है कज़ा जाने 'फ़ुग़ाँ' को ऐ यार
> लीजियो तेरा गिरफ़्तार कहाँ जाता है।

शाह हातिम—इनका नाम ज़हूरुद्दीन था और इनके पिता का नाम फ़ते हुद्दीन। दिल्ली में १७०० ई० मे इनका जन्म हुआ। पहले सिपाही पेशा थे और उम्दतुल-मुल्क अमीर खाँ के मुसाहिब थे। जवानी का ज़माना आर्थिक समृद्धि मे बीता। उन्हीं दिनों दिल्ली में कदम शरीफ़ के पास मीर बाद अलीशाह नामक सूफ़ी संत का 'तकिया' था, जहाँ साधारणत. सभ्य घरानों के नवयुवक आध्यात्मिक लाभ के लिए जाया करते थे। यह भी वहाँ जाने लगे और जाते-जाते वहाँ का रंग ऐसा चढ़ा कि दुनियादारी छोड़कर फ़क़ीर हो गये। इनका देहान्त १७९१ ई० के लगभग हुआ। मुसहफ़ी के कथनानुसार ये १७८२ ई० में मरे।

फ़क़ीर होने के बाद भी इनका विनोदी स्वभाव ज्यों का त्यों कायम रहा था। किसीसे नाराज़ न होते थे, अपने शागिर्दों तक की गुस्ताख़ियों का बुरा नहीं मानते थे। वेश-भूषा में बाँकपन आख़िर तक रहा।

उर्दू के विकास में शाह हातिम का बहुत महत्त्व है। इन्होंने बडी मेहनत से उर्दू में से ऐसे प्रयोगों को निकाला जो कि उसके कलेवर को दूषित करते थे और उसे साफ़-सुथरा बना दिया। इनके बाद नासिख को छोड़कर किसी ने भाषा की इतनी साज-सँवार नहीं की। पहले पुराने रंग में द्वयर्थियों तथा शाब्दिक अनुरूपता के प्रेमी थे, किन्तु बाद में इन्होंने आग्रहपूर्वक इन बातों को छोड़ दिया। यहाँ तक कि अपने कुल्लियात (काव्यसंग्रह) मे, जो बहुत बड़ा था, लगभग पाँच हजार साफ़-सुथरे और सरल शेर छाँटकर उसे 'दीवानज़ादा' का नाम दिया। पहले 'राज़' तख़ल्लुस करते थे, बाद में 'हातिम' किया। दीवानज़ादा की भूमिका में इन्होंने नये कवियों के पथ-प्रदर्शन के लिए अच्छी

सामग्री दी है। अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा के कारण अपने युग के पथ-प्रदर्शकों में से हो गये थे। काव्य का विषय मुख्यतः शृङ्गारिक है।

इनके शागिर्दों में मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा', सआदत यार खां 'रंगी', 'तांबा' आदि थे, जो प्रसिद्ध कवि हुए हैं। शाह हातिम अपने शागिर्दों से बड़ा स्नेह रखते थे। अपने 'दीवानज़ादा' की भूमिका में उन्होंने अपने पैंतालिस शागिर्दों का नाम दिया है, जिसमें मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' का नाम सबसे पहले है। हातिम की रचना का नमूना यह है—

> आबे-हयात जाके किसू ने पिया तो क्या
> मानिन्दे-ख़िज़्र जग में अकेला जिया तो क्या!
> मुहताजगी सूं मुझको नहीं एकदम फ़राग़
> हक़ ने जहाँ में नाम को 'हातिम' किया तो क्या !

मिर्ज़ा जानजाना 'मज़हर'—मिर्ज़ा जानजाना एक प्रतिष्ठित सामन्त घराने के रत्न थे। इनके पिता औरंगज़ेब के दरबारी अमीर थे। इनकी पैदायश १६९९ ई० में हुई और स्वयं औरंगज़ेब ने इनका नाम जानजाना रखा। 'मज़हर' इन्होंने अपना तख़ल्लुस रखा था। सोलह वर्ष के थे कि पिता का देहान्त हो गया। मिर्ज़ा जानजाना ने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की और तत्कालीन रुचि के अनुसार सूफ़ी मत की ओर अग्रसर हुए। ख़ानदानी सय्यद थे ही, अब पूरे फ़क़ीर हो गये। हज़ारों मुसलमान और हिन्दू इनके मुरीदों में से थे।

फ़क़ीर होने के बावजूद इनकी रुचि में बड़ा परिष्कार तथा सौंदर्य-प्रेम था। ख़ुद कहते थे कि बचपन में किसी कुरूप व्यक्ति की गोद में नहीं जाते थे, ख़राब काट की टोपी लगाते थे तो सिर में दर्द होने लगता था, रास्ते में भी किसी की चारपाई में थान निकला होता था तो उसे सीधा करवा कर आगे बढ़ते थे। यहाँ तक कि एक साहब को तब तक मुरीद बनाने से इनकार कर दिया, जब तक उन्होंने अपनी घनी दाढ़ी न तरशवा ली। जानजाना मीर अब्दुल हई 'ताबां' नामक एक नवयुवक और अमीर कवि को—जिसके सौंदर्य की चरचा तत्कालीन रुचि के अनुसार दूर-दूर तक था—अत्यन्त प्रिय मानते

... भी अच्छे कवि थे और आगे और अच्छे निकलते, किन्तु दुर्भाग्य ... देहावसान भरी जवानी में ही हो गया।

... जानजानां को किसीने बिगडकर धोखे से मार दिया। उनकी ... १७८१ ई० में हुई। अजीब बात यह है कि हत्या का कारण धार्मिक ... जाता है और शिया-सुन्नी दोनों एक-दूसरे को इसके लिए दोषी ... हैं।

मिर्जा जानजाना की कविता दरअस्ल अपने युग से आगे बढ़कर 'मीर' और 'सौदा' की परिष्कृत कविता से टक्कर लेती है। भाषा में प्राञ्जलता भी है और प्रभाव भी बहुत है। कविता उर्दू और फ़ारसी दोनों में करते थे। फ़ारसी में पहले २०,००० शेरो का दीवान था जिसमें १००० शेर चुनकर बाक़ी शेर काट दिये थे। उर्दू का दीवान अपूर्ण है। इनके अलावा अन्य कवियों के फ़ारसी शेरो का सकलन 'ख़रीतए-जवाहर' के नाम से किया था। रचनाओं का नमूना निम्नलिखित शेरों में मिलेगा—

> ख़ुदा के वासते इसको न टोको
> यही इक शहर में क़ातिल रहा है।
>
> ये हसरत रह गयी क्या क्या मज़े से जिन्दगी करते
> अगर होता चमन अपना गुल अपना बाग़बां अपना।

'हातिम' और जानजाना 'मजहर' के तुरत बाद ही उर्दू कविता का वह युग प्रारभ हुआ, जिसकी अभी तक धूम मची हुई है, बल्कि जो उर्दू साहित्य में सदैव प्रमुख स्थान पायेगा। इस युग में 'मीर' जैसे ग़ज़ल-गो, 'सौदा' जैसे क़सीदा-रचयिता और मीर हसन जैसे मसनवी-गो हुए, जिनके अपने क्षेत्रों में उनका प्रतिस्पर्धी आज तक पैदा नही हो सका है। उनके बाद आनेवाले सभी कवियो ने एक स्वर में उनकी प्रशसा की है।

इस काल की विशेषताएँ

... काल की कविता मे सक्षिप्तत निम्नलिखित विशेषताएँ थी—
... की भाषा और भावो में पहले से कही अधिक ओज पैदा हो

गया, (२) फ़ारसी भाव-व्यंजना को अधिक अपनाया गया, हिन्दी की भाव-व्यंजना ही नहीं, बहुत-से हिन्दी शब्द भी छोड़ दिये गये, यद्यपि बाद के कवियों की अपेक्षा इस युग में हिन्दी शब्दों का प्रचलन काफ़ी रहा, (३) भाषा में वाक्यविन्यास और व्याकरण सम्बन्धी नियम और सख़्ती से बरते गये, (४) कई नये काव्यांगों—जैसे क़सीदा, वासोख़्त आदि—का समावेश उर्दू कविता में किया गया, (५) उपर्युक्त सारी उन्नति के साथ ही इस काल की कविता की विशेषता यह है कि वह समतल नहीं है—यद्यपि 'दर्द' और 'हसन' की कविता में समतलता का अभाव नहीं है, इस काल में कवि-वृत्तांत (तज़किरे) भी काफ़ी लिखे गये।

इस काल की एक अन्य विशेषता यह है कि उर्दू काव्य का केन्द्र दिल्ली से उठकर लखनऊ आ गया। ख़्वाजा मीर 'दर्द' को छोड़कर सारे प्रमुख कविगण विध्वस्त दिल्ली को छोड़कर लखनऊ में जा बसे।

इस काल के प्रमुख कवियों का वृत्तांत निम्नलिखित है—

मीर तक़ी 'मीर'—'मीर' उचित रूप से उर्दू के ग़ज़लगोयों में सबसे प्रमुख समझे जाते हैं। करुणा का जो माधुर्य उनके यहाँ मिलता है, वह अन्य कवियों के यहाँ कम ही मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी में उनके बारे में कुछ अधिकृत रूप से ज्ञात नहीं था, किन्तु बीसवीं शताब्दी में उनका फ़ारसी आत्म-चरित्र 'ज़िक्रे मीर' प्रकाशित हो जाने के बाद से उनके सम्बन्ध में बनायी गयी कई भ्रामक धारणाओं का अन्त हो गया और उनकी जीवनी अधिकारिक रूप में हमारे सामने आ गयी। 'मीर' के बुज़ुर्ग हिजाज़ (अरब का एक प्रदेश) से सीधे भारत आये थे। पहले वे हैदराबाद और अहमदाबाद में रहे, फिर 'मीर' के प्रपितामह आगरे में बस गये। 'मीर' के पितामह आगरे में फ़ौजदार हो गये। इनके दो बेटे थे। बड़े का मस्तिष्क विकृत था और वह जवानी में ही मर गया। छोटे, यानी 'मीर' के पिता, मीर अली मुत्तक़ी दुनियादारी छोड़ कर सूफ़ी फ़क़ीर हो गये। मीर मुत्तक़ी के तीन पुत्र थे—पहली पत्नी से मुहम्मद हसन तथा दूसरी से मुहम्मद तक़ी और मुहम्मद रज़ी। यही मँझले पुत्र मुहम्मद तक़ी बाद में उर्दू काव्य-गगन के सूर्य बन कर चमक उठे।

जन्म-काल के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जाता। 'ज़िक्रे-मीर'

में इसका कोई उल्लेख नहीं है। इसमें दी गयी निजी घटनाओं के अन्त 'मीर' ने अपनी जो अवस्था बताती है उससे हिसाब लगाने पर उनकी जन्म-तिथि ११३० हि० या १७१८ ई० निकलती है। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में वे पितृविहीन हो गये। उनके सौतेले भाई मुहम्मद हसन उनसे बड़े थे। उन्होंने पिता की सम्पत्ति पर तो अधिकार कर लिया, लेकिन उनका कर्ज 'मीर' का ही चुकाने के लिए छोड़ दिया। भाग्यवश 'मीर' के पिता के एक धनाढ्य सज्जन मुहम्मद [illegible] ने—जो 'मीर' के पिता के एक अभिन्न मित्र के शिष्य थे—'मीर' के नाम ५०० रुपये की एक हुंडी भेज दी। इन्होंने उसमें से ३०० रुपये से कर्ज अदा किया और छोटे भाई को लेकर नौकरी की तलाश में दिल्ली चले गये। यहाँ कुछ दिनों इधर-उधर भटकने के बाद नवाब समसामुद्दौला के दरबार में पहुँचा दिये गये।

लेकिन 'मीर' के भाग्य में तो चैन लिखा ही नहीं था। चार-पाँच वर्ष बाद समसामुद्दौला नादिरशाह के आक्रमण के समय लड़ाई में मारे गये। मीर कुछ दिन के लिए आगरे चले आये, किन्तु फिर अपने सौतेले भाई के मामू खान सिराजुद्दीन अली खां 'आरज़ू' (जिनका उल्लेख पहले हो चुका है) के पास दिल्ली चले गये। किन्तु खान आरज़ू से उनकी नहीं पटी। मीर का कहना है कि खान आरज़ू मीर के सौतेले भाई के बहकाने से उन पर बिगड़ गये थे। कुछ इतिहासकारों के विचार से खान आरज़ू मीर से इसलिए बिगड़े थे कि 'मीर' उनकी पुत्री से प्रेम करने लगे थे। कारण कुछ भी हो, ऐसी हालत में 'मीर' को उन्माद रोग हो गया। एक अन्य सज्जन फखरुद्दीन की सहायता से इनका इलाज हुआ, फिर भी खान आरज़ू का इनके प्रति दुर्व्यवहार बढ़ता गया और एक दिन उन्होंने खाने के समय ही इनसे इतनी कड़ी बातें कहीं कि यह खाना छोड़कर उठ गये और उसी समय खान आरज़ू का घर हमेशा के लिए छोड़ दिया।

खान आरज़ू के यहाँ रहते समय ही इन्होंने काव्यसाधना आरंभ कर दी थी और मुशायरों में चमकने लगे थे। खान आरज़ू के यहाँ से निकले तो एक रईस रियायत खां के नौकर हो गये। इसके बाद नवाब बहादुर, दीवान महानारायण, अमीर खाँ अजाम, राजा जुगलकिशोर आदि रईसों के यहाँ

थोड़े-थोड़े दिन रहे। राजा जुगलकिशोर ने राजा नागरमल के यहाँ इन्हें रखवा दिया। यहाँ 'मीर' कुछ अधिक दिन रहे, लेकिन रोज़ाना की लूटमार से परेशान होकर कुम्हेर के सूरजमल जाट के दरबार में रहे। फिर कुछ दिन आगरा रह कर फिर दिल्ली में राजा नागरमल के पास ही रहने लगे और उनके बामा प्रवास में भी उनके साथ रहे। नागरमल की नौकरी छोड़ने के बाद वे तत्कालीन मुगल सम्राट् आलमगीर द्वितीय के दरबार में प्रवेश पा गये, किन्तु फिर रोज़ाना की लूटपाट और अस्थिर जीवन से ऊबकर घर बैठ रहे। बादशाह के कई बार बुलाने पर भी उनके दरबार में नहीं गये।

शाही दरबार छोड़कर मीर साहब की इच्छा हुई कि कहीं अवसर मिले तो दिल्ली के बाहर चले जायें। इनकी ख्याति चारों ओर फैल ही गयी थी। इनके दिल्ली-त्याग के इरादे को सुनकर अवध के नवाब आसफ़ुद्दौला ने नवाब सालारजंग की मध्यस्थता से इन्हें बुलवा भेजा। यह तुरन्त दिल्ली से चल दिये। रास्ते में फ़र्रुख़ाबाद के रईस मुज़फ़्फ़रजंग ने इन्हें रोकना चाहा, किन्तु यह सीधे लखनऊ आकर सालारजंग के मेहमान हुए। आठ-दस रोज़ बाद नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार में प्रविष्ट हो गये और उनके मुसाहिब बन गये।

नवाब आसफ़ुद्दौला के साथ 'मीर' का ज़माना बड़े आराम से बीता। वे नवाब के साथ दो बार शिकार के लिए हिमालय की तराई तक गये और दोनों बार शिकार के वर्णन में शिकारनामे लिखे, जिनकी नवाब ने बड़ी कद्र की। इसी अरसे में 'मीर' ने लगभग साठ वर्ष की अवस्था में अपना जीवन-चरित्र 'ज़िक्रे मीर' लिखा, जिसमें उनके जीवन-चरित्र के अतिरिक्त उस ज़माने की राजनीतिक उथल-पुथल (वस्तुतः अराजकता की स्थिति) का विस्तार-पूर्वक उल्लेख किया गया है।

आसफ़ुद्दौला की मृत्यु के उपरान्त वे कुछ दिनों तक घर बैठे रहे। फिर इन्हें नवाब सआदत अली ख़ाँ ने अपने दरबार में बुलवाया। पहले इन्होंने दरबार जाने के निमन्त्रण के साथ ही नवाब का भेजा हुआ खिलअत (सम्मानसूचक वस्त्र) और एक हज़ार रुपया भी वापस कर दिया, क्योंकि नवाब ने इसे एक चोबदार के हाथ भेजा था, जिसे इन्होंने अपना अपमान समझा। बाद में नवाब के प्रमुख दरबारी कवि सय्यद इंशा के समझाने-बुझाने से नवाब सआदत

अली के दरबार में चले गये । नवाब ने इनके अंत समय तक इनका बड़ा सम्मान किया । अंत में १२२५ हि० (१८१० ई०) में ईस्वी सन् के हिसाब से ८६ और हिजरी सन् के हिसाब से ८८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने परलोक-यात्रा की।

'मीर' के स्वभाव के बारे में कहा जाता है कि उनकी नाजुक मिजाजी बढ़कर घमण्ड बल्कि अभद्रता की सीमा छूने लगी थी । खुद 'मीर' को भी इस बात का बोध था कि लोग उन्हें बद-दिमाग (अभद्र) कहते हैं । उन्होंने इसका प्रतिवाद नहीं किया, बल्कि अपने स्वभाव की उग्रता के बारे में अपनी सफ़ाई इस तरह से दी है—

> हालत ये है कि मुझको ग़मों से नहीं फ़राग़
> दिल सोज़िशे-दुरूनी से जलता है ज्यूं चिराग़।
> सीना तमाम चाक है सारा जिगर है दाग़
> है मजलिसो में नाम मेरा मीरे-बेदिमाग़।

फिर भी हम यह कहने को विवश हैं कि मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने उनके क्रोधी स्वभाव के जो किस्से दिये हैं, वे बिलकुल गलत नहीं तो बढ़ा-चढ़ाकर जरूर कहे गये हैं । मौलाना आजाद खुद उनके नख-शिख का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—"मीर साहब मियाना (मँझोला) कद, लागर-अंदाम (दुबले), गंदुमी (गेहुएँ) रंग के थे । हर काम मतानत (धैर्य) और आहिस्तगी के साथ । बात बहुत कम, वह भी आहिस्ता । आवाज में नरमी और मुलाइमियत । जईफी ने इन सब सिफतों (गुणों) को और कवी किया (बढ़ाया) था।"

सोचने की बात है कि यह चित्र किसी क्रोधी और उजड्ड व्यक्ति का है या सुसंस्कृत तथा गंभीर व्यक्ति का।

हाँ, यह बात जरूर है कि उनके स्वभाव में वैयक्तिकता, स्वाभिमान और परिष्कृत साहित्यिक तथा सांस्कृतिक रुचि कम से कम अपने समय के मानदंडों के हिसाब से जरूरत से ज्यादा थी । उन्होंने न अधिक मित्र बनाने की कोशिश की, न दूसरे लोगों को इस मामले में प्रोत्साहित किया । एक साहब

उनसे मिलने गये, सलाम करके बैठ गये, बहुत देर बैठकर चले भी आये, लेकिन 'मीर' साहब उस समय काव्य-रचना के 'मूड' में थे। उन्हें खबर तक न हुई कि कौन आया था, कब आया था और क्यों आया था। स्पष्ट है कि वे हरएक की परवा न करते थे।

उनके साहित्यिक मानदंड इतने ऊँचे थे कि उन्होंने रेख्ती के जन्मदाता सआदत यार खाँ 'रंगी' तथा उर्दू के सबसे बड़े परिष्कारकर्त्ता शेख इमाम बख्श नासिख को अपना शिष्य बनाने से इनकार कर दिया था। उनके अपने मानदंड पर जनरुचि का कोई प्रभाव न पड़ता था। उनके अंतकाल में उस समय के प्रख्यात उच्छृंखलतावादी कवि 'जुरअत' मुशायरे में काफी वाहवाही लूटने के बाद जब 'मीर' से अपनी गजल की प्रशंसा करवाने पहुँचे तो 'मीर' पहले तो टाल गये, लेकिन शामत के मारे 'जुरअत' पीछे पड़े तो 'मीर' साहब ने त्योरी चढ़ाकर कहा, "कैफियत इसकी यह है कि तुम शेर तो कहना नहीं जानते हो, अपनी चूमाचाटी कह लिया करो।"

फिर भी वे सुपात्र से खुलकर मिलते थे। 'शाद' अज़ीमाबादी 'नवाए-वतन' में लिखते हैं—

"जब शेख रासिख (उस समय के एक होनहार कवि जो बाद में काफी प्रसिद्ध हुए) उनसे मिलने गये तो 'मीर' ने कहला भेजा, 'मियाँ, क्यों सताने आये हो ?' शेख साहब ने ठीकरी पर यह शेर लिख कर भेजा—

> खाक हूँ पर तूतिया हूँ चश्मे-मेहो-माह का
> आँखवाला रुत्बा समझे मुझ गुबारे-राह का।

मीर साहब फ़ौरन घर से निकल आये, गले लगाया और कहा, 'मिजाज मुबारक ! कहाँ से आये हो ? क्यों मुझ गरीब को सरफराज किया ?' "

हाँ, उनमें आत्मसम्मान इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि कभी-कभी शिष्टाचार की सीमा का उल्लघन कर जाता था। नवाब आसफुद्दौला ने एक किताब उठाकर देने को कहा तो मीर ने फ़ौरन चोबदार से कहा, "देखो, तुम्हारे आक़ा क्या कहते हैं ?" नवाब साहब बेचारे इतने हतप्रभ हुए कि खुद ही बढ़कर किताब उठा ली।

...दाव गआदत अली ख़ाँ ने पहले इनकी ख़बर न ली। एक दिन जब ...क मसजिद में बैठे थे तो नवाब की सवारी उधर से निकली। और सब ...ड़े हुए, लेकिन यह बैठे ही रहे। नवाब ने अपने मुसाहिबों से पूछा कि यह ...आदमी है, तो मालूम हुआ कि 'मीर' हैं। नवाब ने दूसरे दिन एक चोब... ...के हाथ एक हजार रुपया और खिलअत भेजा तो इन्होंने वापस कर दिया। ...नवाब ने अपने दरबारी कवि 'इंशा' को भेजा कि देखें क्या बात है। 'मीर' ...से कहा, 'एक तो नवाब मुझे इतने दिनों तक भूले रहे। अब याद भी ... तो इस तरह से कि दस रुपये के नौकर के हाथ खिलअत भेजा। वह अपने ... के बादशाह हैं तो मैं अपने मुल्क का। मुझे भूखों मर जाना मंजूर है, ...न यह बेइज्जती मंजूर नहीं।' बहरहाल 'इंशा' उन्हें समझा-बुझाकर ...र में ले गये।

...अँगरेज हाकिम, गवर्नर जनरल तक, लखनऊ आने पर इन्हें बुलाते थे, ...न यह उनसे मिलने कभी न जाते थे। कहते थे "मुझसे जो कोई मिलना ... या मुझ फ़कीर के खानदान के ख़याल से या मेरे कलाम के सबब से ...ता है। साहब को खानदान से गरज नहीं, मेरा कलाम समझते नहीं। ...त्ता कुछ इनाम देंगे। ऐसी मुलाकात में जिल्लत के सिवा क्या हासिल?" ...! वर्तमान साहित्यकारों में भी ऐसा आत्मसम्मान होता।

'मीर' ने लम्बी जिन्दगी पायी और सारी जिन्दगी काव्यरचना के अति... ... और कुछ न किया। फलस्वरूप उनकी रचनाओं की संख्या और मात्रा ... अधिक है। नीचे इनका कुछ परिचय दिया जाता है—

(१) 'मीर' के कुल्लियात (काव्यसंग्रह) में छ बड़े-बड़े दीवान ग़ज़लों ...। इनमें कुल मिलाकर १८३९ गजलें (लगभग चौदह हजार शेर) और ...फुटकर शेर हैं। इनके अलावा आठ कसीदे, ३१ मसनवियाँ, कई हज़्वें ...दात्मक पद्य), १०३ रुबाइयाँ, तीन शिकारनामे आदि बहुत-सी कवि... ... हैं। कुछ वासोख़्त (उपालभ काव्य) हैं, जिनका प्रवर्त्तन उर्दू में 'मीर' ... किया। इस काव्य-संग्रह का आकार बहुत बड़ा है।

(२) इसके अतिरिक्त फ़ारसी गज़लों का भी एक दीवान है, जो दुर्भाग्य... अभी तक अप्रकाशित है।

(३) 'मीर' ने कई मरसिये भी लिखे हैं जो अपने ढंग के अनूठे हैं।

(४) एक पुस्तक फारसी में 'फ़ैज़े-मीर' के नाम से लिखी है। इसमें त में कुछ हास्यप्रसंग और कुछ कहानियाँ हैं, जिनमें से कुछ काफ़ी अश्लील ं और उनसे तत्कालीन समाज की रुचि का अनुमान किया जा सकता है।

(५) फ़ारसी में ही उर्दू कवियों का वृत्तान्त 'नुकातुश्शुअरा' के नाम से लिखा है, जिसमें 'मीर' के समकालीन तथा पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख है।

(६) फारसी में उन्होंने अपना आत्म-चरित 'ज़िक्रे-मीर' के नाम से लिखा है। इसमें उन्होंने अपने साहित्य पर प्रकाश नहीं डाला है, बल्कि अपने व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के साथ ही तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल और लड़ाइयों का उल्लेख किया है। इस पुस्तक का इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्व है।

'मीर' की काव्य-रचना लगभग दो हज़ार विस्तृत पृष्ठों पर फैली हुई है। अभी दिल्ली की जनता की वह बोली, जिसे उर्दू भाषा बन जाना था और जिससे उर्दू साहित्य की रचना होनेवाली थी, बहुत तरल अवस्था में थी। जैसे अभी-अभी साँचे में ढाली हुई मिट्टी की ईंट। यह ईंट समय के भट्ठे में पककर पक्की ईंट बन जायेगी, फिर भी 'मीर' के समय में एक-आध ताव यह ईंट खा चुकी थी। 'मीर' के दस प्रतिशत ऐसे शेर होंगे, जिनकी भाषा आज कुछ बदल गयी है। 'मीर' ने लगभग सात हज़ार ऐसे शेर छोड़े हैं, जो कहे तो गये थे अब से पौने दो सौ वर्ष पहले, लेकिन प्रतीत होता है कि अभी-अभी कहे गये हैं। जहाँ सरल शैली का 'मीर' ने प्रयोग किया है, वहाँ तो उन्होंने जादू ही कर दिया है। जैसे, इस शेर में—

वह सूरतें इलाही किस देस बस्तियाँ हैं
अब जिनके देखने को आँखें तरसतियाँ हैं!

कहा गया है कि मीर के उत्कृष्ट शेर उत्कृष्टतम हैं और निकृष्ट शेर निकृष्टतम हैं। 'मीर' के उत्तम शेर जादू का असर रखते हैं। ऐसी रचनाओं में उनका स्वर जीवन का स्वर बन जाता है। इन रचनाओं में जैसी घुलावट है, जैसी चुभवार है, जो करुणा है, जो मानवता है, जो निश्छलता है, जो स्वाभा-

मिलता है, और जो दूसरे कवियों की रचनाओं में मधुरता और तीव्रता का अभाव है, उसका उदाहरण कहीं और नहीं मिलता। 'मीर' की ये रचनाएँ 'सूर' और 'रसखान' की याद दिलाती हैं। इस भारतीय संस्कृति का विकसित रूप 'मीर' की इन रचनाओं का भर गये हैं। ऐसी रचनाओं का हर शेर उर्दू शायरी की निधि का बहुमूल्य रत्न है।

'मीर' की रचनाओं का नमूना निम्नलिखित है—

जिस सर को ग़रूर आज है याँ ताजवरी का
कल उस पे यहीं शोर है फिर नौहागरी का।
आफ़ाक़ की मंज़िल से गया कौन सलामत
असबाब लुटा राह में याँ हर सफ़री का।
ले साँस भी आहिस्ता कि नाज़ुक है बहुत काम
आफ़ाक़ की इस कारगहे-शीशागरी का।
टुक 'मीर'-जिगर-सोख्तः की जल्द ख़बर ले
क्या यार भरोसा है चिराग़े-सहरी का।

जिनके लिए अपने तो यूँ जान निकलते हैं
इस राह में वे जैसे अनजान निकलते हैं।
मत सहल हमें जानो फिरता है फ़लक बरसों
तब ख़ाक के परदे से इंसान निकलते हैं।
किसका है क़िमाश ऐसा गूदड़ भरे हैं सारे
देखो न जो लोगों के दीवान निकलते हैं।
इन आइना-रूयों के क्या 'मीर' भी आशिक़ हैं
जब घर से निकलते हैं हैरान निकलते हैं।

इधर से अब्र उठकर जो गया है
हमारी ख़ाक पर भी रो गया है।
मुसाइब और थे पर दिल का जाना
अजब इक सानहा सा हो गया है।

सिरहाने 'मीर' के कोई न बोलो
अभी टुक रोते-रोते सो गया है।

जाये है जी नजात के ग़म में
ऐसी जन्नत गयी जहन्नम में।
बेख़ुदी पर न 'मीर' की जाओ
तुमने देखा है और आलम में।

आगे किसू के क्या करें दस्ते-तमा दराज़
वह हाथ सो गया है सिरहाने धरे-धरे।

तेरी जुल्फ़े-सियह की याद में आँसू झमकते हैं
अँधेरी रात है, बरसात है, जुगनू चमकते हैं।

अब तो जाते हैं बुतक़दे से 'मीर'
फिर मिलेंगे अगर ख़ुदा लाया!

मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा'—मिर्ज़ा 'सौदा' 'मीर' के समकालीन ही नहीं हैं, उनके समकक्ष भी रखे जाते हैं और उचित रूप से रखे जाते हैं। 'मीर' करुणा के सम्राट् हैं तो 'सौदा' उमंग और उल्लास के। हजो (निन्दा काव्य) और क़सीदे में उनका स्थान सर्वप्रथम है। इसके अलावा मरसिये और ग़ज़ल के क्षेत्र में भी वे प्रमुख कवि समझे जाते हैं। भाषा के परिमार्जन में भी 'सौदा' की देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी के पूर्वज काबुल के रहनेवाले और सिपाही पेशा थे। उनका कुटुम्ब सम्मानित था। किन्तु उनके पिता मुहम्मद शफ़ी ने व्यापार आरम्भ किया और इसी सिलसिले में दिल्ली आ बसे। उनका विवाह निअमत ख़ाँ आली की पुत्री से हुआ। इन्हीं के पेट से मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी का जन्म हुआ। जन्म काल के बारे में संदेह है। 'आबे-हयात' तथा 'गुले-रअना' में उनके जन्म की तिथि ११२५ हि० (१७१४ ई०) लिखी है। डा० सक्सेना को इसमें संदेह है। बहरहाल, उनकी जन्मतिथि १७०९ ई० तथा १७१४ ई० के बीच में ही हो सकती है। मिर्ज़ा का लालन-पालन अमीराना ढंग से हुआ। जवानी काफ़ी सुखपूर्वक कटी। कविता में पहले सुलेमान कुली ख़ाँ 'विदाद' और

बाद में शाह 'हातिम' के शिष्य हुए। इनके अलावा खान आरज़ू की संगति से बहुत लाभ उठाया। पहले फ़ारसी में शेर कहते थे, लेकिन खान आरज़ू की सलाह से उर्दू में कहने लगे। उर्दू कविता में शीघ्र ही मिर्ज़ा 'सौदा' की ख्याति फैल गयी। तत्कालीन बादशाह शाह आलम ने भी उन्हें बुलाकर अपनी गज़लों के संशोधन का काम उनके सुपुर्द किया। लेकिन बादशाह से उनकी अधिक नहीं पट सकी। उन्होंने दरबार में जाना छोड़ दिया, लेकिन फिर भी दिल्ली में उनके काफ़ी पृष्ठपोषक रईस थे। उनकी ख्याति फ़ैज़ाबाद भी पहुँची और नवाब शुजाउद्दौला ने उन्हें फ़ैज़ाबाद आने का निमन्त्रण दिया, लेकिन वे न गये। निमन्त्रण के उत्तर में उन्होंने यह रुबाई लिखकर नवाब शुजाउद्दौला के पास भिजवा दी—

> 'सौदा' पए-दुनिया तू बहर-सू कब तक?
> आवारा अज़ीं-कूचा ब-आं-कू कब तक?
> हासिल यही इससे न, कि दुनिया होवे?
> बिल्फ़र्ज़ हुआ यूं भी तो फिर तू कब तक?

लेकिन गुणग्राहक मर गये तो इन्होंने दिल्ली को भी छोड़ दिया। मरहठों के आक्रमण भी होने लगे थे, दिल्ली की दुर्दशा आरंभ हो गयी थी। इसलिए 'सौदा' ने फ़र्रुखाबाद में शरण ली। वहाँ नवाब अहमद खां बंगश का राज्य था और मेहरबान खां 'रिन्द' उनके प्रधान मन्त्री थे। मेहरबान खां स्वयं अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु गुण-ग्राहकता उनमें प्रचुर मात्रा में थी। उसी समय तत्कालीन महाकवि 'सोज़' भी वहीं थे। मेहरबान खां अपनी कविताओं पर 'सौदा' और 'सोज़' दोनों से संशोधन कराने लगे। 'सौदा' ने कई वर्ष फ़र्रुखाबाद में सुखचैन से व्यतीत किये। कई कसीदे उन्होंने नवाब अहमद खां तथा मेहरबान खां की प्रशंसा में लिखे।

१७७१ ई० में नवाब अहमद खां का देहांत हो गया तो 'सौदा' फ़ैज़ाबाद आकर नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में रहने लगे। मौलाना आज़ाद ने लिखा है कि लखनऊ पहुँचने पर नवाब ने 'सौदा' को उनकी रुबाई की याद दिलायी तो वे बुरा मानकर घर बैठ गये और शुजाउद्दौला के मरने पर

आसफ़ुद्दौला के राज्य में ही लखनऊ के दरबार में गये। किन्तु इतिहास इस बात को गलत प्रमाणित करता है। 'सौदा' को नवाब शुजाउद्दौला से कभी नहीं बिगड़ी। उन्होंने शुजाउद्दौला की प्रशंसा में कई कसीदे भी कहे। नवाब शुजाउद्दौला लखनऊ में रहते भी नहीं थे।

शुजाउद्दौला के देहान्त के पश्चात् नवाब आसफ़ुद्दौला का राज्य हुआ। उन्होंने अपनी माँ बहू-बेगम के नियन्त्रण से घबराकर अपनी राजधानी फ़ैज़ाबाद की बजाय लखनऊ को बना लिया। 'सौदा' भी उनके साथ लखनऊ आ गये, किन्तु यहाँ उनकी कविता का उत्कर्ष काल होते हुए भी उनके जीवन ने अधिक साथ नहीं दिया। ११९५ हि० (१७८१ ई०) में लगभग सत्तर वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया।

मिर्ज़ा 'सौदा' के स्वभाव में मानवी तत्त्व कूट-कूट कर भरे थे। उनमें आत्म-सम्मान की कमी नहीं थी (शाह आलम का दरबार छोड़कर ही चले आये थे), लेकिन 'मीर' जैसी ऐंठ भी नहीं थी। नवाबों और रईसों से उनकी हमेशा अच्छी तरह पटी। दुनियादार आदमी थे—जहाँ भी जीवन-यापन के साधनों की कमी देखते थे, वहाँ से फ़ौरन चल देते थे। दिल्ली 'मीर' ने भी छोड़ी, लेकिन काफ़ी मुसीबतें उठाने के बाद, किन्तु 'सौदा' ने दिल्ली पर तबाही आने की शुरुआत के साथ ही उसे छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त अपने क्रोध के आवेग में वे किसी को क्षमा न करते थे। उनके द्वारा रचित अनेक हजवें (निन्दा पद्य) इसकी साक्षी हैं। साथ ही यह बात भी है कि जी भरकर निन्दा कर लेने के बाद उनका दिल साफ़ हो जाता था। मीर हसन के पिता मीर ज़ाहक से उनकी चोटें अंत समय तक चलती रहीं, किन्तु मीर ज़ाहक के मरने पर उन्होंने मीर हसन के सामने समस्त निन्दा पद्य फाड़ दिये थे (यह दूसरी बात है कि तत्कालीन जनरुचि ने उन्हें सँजोये रखा)। इसी तरह उनके बौद्धिक प्रतिद्वंद्वी फ़ाख़िर मकीं के चेले-चपाटों ने जब उनका घोर अपमान किया और नवाब आसफ़ुद्दौला ने उन लोगों को दंड देना चाहा तो मिर्ज़ा 'सौदा' ने यह कहकर उन्हें माफ़ करवा दिया कि 'यह हम लोगों की घरेलू लड़ाई है, इसे हमीं लोगों तक सीमित रहने दीजिए।' इस तरह यह रंजिश हमेशा को दूर हो गयी।

'सौदा' को नवाब आसफ़ुद्दौला ने 'मलिकुश्शुअरा' (कवि सम्राट्) की उपाधि

दी थी, जिसके वे सर्वथा योग्य थे। उनकी हजवें और कसीदे सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए हैं, क्योंकि भाषा का ओज जितना उनके यहाँ है, और कहीं नहीं मिलता और इन दोनों काव्यांगों के लिए प्रमुखतः यही गुण आवश्यक है। उन्होंने मसनवियाँ मरसिये तथा अन्य पद्य भी लिखे हैं, लेकिन इनमें कोई खास बात नहीं दिखती, बिल्कुल साधारण कोटि के हैं। गजलों में एक फ़ारसी और एक उर्दू का दीवान है। गजलों में 'सौदा' 'मीर' से हमेशा पिछड़े रहे, क्योंकि गजलों के लिए करुणात्मक भाव अपेक्षित है जो 'सौदा' के यहाँ औसत से भी कम है और 'मीर' के यहाँ अत्यधिक। फिर भी विषयों तथा अभिव्यक्ति की नवीनता भाषा के प्रवाह तथा शब्दों और उनकी गठन के सौंदर्य ने मिलकर 'सौदा' की गजलों को भी अत्यन्त उत्कृष्ट बना दिया है। सूफ़ीवादी भाव-भूमि का 'सौदा' के काव्य में अभाव है, किन्तु ओज तथा उत्फुल्लता उनके काव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं कि उनके सामने और कोई नहीं ठहरता।

'सौदा' कवि होने के अतिरिक्त उत्कृष्ट आलोचक भी थे। इसका पता उन साहित्यिक बहसों से चलता है जिनके सिलसिले में उन्होंने कई पुस्तिकाएँ लिखी हैं। उनका फ़ारसी काव्य प्रथम श्रेणी में रखने के योग्य नहीं है, फिर भी उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह बिलकुल रद्दी है।

दो शब्द 'सौदा' की निन्दात्मक कविताओं के बारे में भी कहना आवश्यक मालूम होता है। उनकी ख्याति कसीदों और निन्दात्मक पद्यों के ही कारण हुई है। कसीदे में प्रशंसा होती है और हजवों में निन्दा, किन्तु दोनों के लिए मूलतः एक सी ही सर्जनात्मक मनोदशा अपेक्षित होती है, क्योंकि काव्य-सर्जन के समय स्थिति मानसिक आवेग की होती है और ध्यान का केन्द्र-बिन्दु एक व्यक्ति-विशेष होता है। उर्दू तथा फ़ारसी में कसीदा एक रस्मी-सी चीज़ हो गयी थी, जिसमें भावोद्रेक की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी परम्परा के अनुसार उसमें ओज, प्रवाह तथा तीव्रता तो आवश्यक थी ही; और यही गुण किसी निन्दात्मक पद्य को भी प्रभावशाली बनाने में समर्थ होते हैं। इसके विपरीत गजल या मसनवी में शृंगार और करुण रस का परिपाक होता है, जो शांति रस की सीमा छूते हैं। 'सौदा' की सर्जनात्मक प्रतिभा का उद्वेग एक अनिवार्य अंग था, इसीलिए वे कसीदों और हजवों में अपना नाम अमर कर गये। इस समय

तो ये काव्यांग समाप्त ही हो गये हैं और उनके फिर से उभरने के कोई लक्षण भी नहीं दिखाई देते। इसलिए कहा जा सकता है कि इन काव्यांगों के इतिहास में सर्वोच्च आसन पर 'सौदा' ही बैठे दिखाई देते हैं।

कसीदा और हजो स्पष्टतः एक ही चित्र के दो पहलू हैं—किन्तु एक रचनात्मक है और दूसरा ध्वंसात्मक। कसीदा पढ़कर हमें शब्दों तथा वाक्य-विन्यासों का आनंद मिलता है और हमें बोध होता है कि हम किसी बाग की सैर कर रहे हैं, या फाग के फूलों के त्योहार को देख रहे हैं, जिसमें लोग एक-दूसरे पर फूलों की बौछार करते हैं। हजवें पढ़ते समय मालूम होता है कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश के देहात की होली देख रहे हैं जिसमें चारों ओर से कीचड़, गोबर, गालियाँ बल्कि भीगे जूतों की वर्षा हो रही है। कुछ लोगों को इस धुक्का-फ़ज़ीहत में भी आनन्द आ सकता है, किन्तु किसी भी परिष्कृत रुचिवाले व्यक्ति के लिए इनमें रस लेना असम्भव-सा ही है। फिर 'सौदा' की हजवें[1] —जिनके बारे में मौलाना आज़ाद ने लिखा है ·· "फिर शर्म की आँखें बन्द (करके) और बेहयाई का मुँह खोलकर वह बेनुक्त सुनाते थे कि शैतान भी अमा मांगे।" औरत, मर्द, बूढ़ा, बुढ़िया, लड़का, लड़की किसीके कपड़े उतारने में नहीं चूकते थे। निन्दापात्र के साथ ही उसकी निरपराध पत्नी और पुत्री को भी ले डालते थे। बेज़बान जानवरों—हाथी, घोड़े आदि को भी नहीं छोड़ा। स्पष्ट है कि ऐसे काव्य का केवल ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है। आज की स्थिति में उसकी प्रशंसा असम्भव है।

फिर भी मिर्ज़ा 'सौदा' की कम-से-कम कुछ हजवों का एक रचनात्मक पहलू भी है। जिन पद्यों में उन्होंने तत्कालीन शासन-व्यवस्था का वर्णन किया है, उनसे एक तो तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर यथेष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है, दूसरे उनमें अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक जोनाथन स्विफ़्ट की भाँति व्यंग्यात्मक सुधारवादी पहलू भी निकाले जा सकते हैं। फिर भी याद रखना चाहिए कि ऐसी रचनात्मक निन्दात्मक कविताएँ बहुत कम हैं।

ठीक तो यह होता कि 'सौदा' के कसीदों और हजवों का नमूना भी दिया जाता, किन्तु उनका पूरा रस तभी मिल सकता है जब पूरी कविताएँ

दी जायें। स्थानाभाव से यहाँ ऐसा करना सम्भव नहीं है। इसलिए निम्न पंक्तियों में उनकी ग़ज़लों का ही नमूना दिया जा रहा है—

टूटे तेरी निगह से अगर दिल हुबाब का
पानी भी फिर पियें तो मज़ा हो शराब का।
दोज़ख़ मुझे क़बूल है ऐ मुनकिरो नकीर
लेकिन नहीं दिमाग़ सवालो जवाब का।
था किसके दिल को कशमकशे इश्क़ का दिमाग़
यारब! बुरा हो दीदए-ख़ाना-ख़राब का।
'सौदा' निगाहे-दीदए-तहक़ीक़ के हुज़ूर
जल्वा हर एक ज़र्रे में है आफ़ताब का।

दिल में तेरे जो कोई घर कर गया
सख़्त मुहिम थी कि वो सर कर गया।
नफ़ा को पहुँचा ये तुझे दे के दिल
जान का मैं अपनी ज़रर कर गया।
देख ली साक़ी की भी दरिया-दिली
लब न हमारे कभू तर कर गया।

ऐ लाला गो फ़लक ने दिये तुझको चार दाग़
छाती मेरी सराह कि इक दिल हज़ार दाग़।
सीने से सोज़े-इश्क़ तेरा हाथ कब उठाये
ता फूट कर जिगर से न हो जाये पार दाग़।

इस क़दर सादा-ओ-पुरकार कहीं देखा है?
बेनमूद इतना नमूदार कहीं देखा है?

ख़्वाजा मीर 'दर्द'—हज़रत ख़्वाजा मीर 'दर्द' ने बहुत थोड़ी काव्य-
की है, किन्तु निष्पक्ष रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने गागर में

भर दिया है या मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद के शब्दों में "तलवारों की आवदारी निश्तर में भर देते थे।" वे अपने युग के काव्य के प्रमुख स्तभो में थे। यही नही, सूफ़ीवाद का जैसा सहजतापूर्ण चमत्कारी वर्णन उन्होने किया है, वह किसी और से नही बना।

ख्वाजा मीर 'दर्द' सूफ़ी संतो के एक प्रमुख वश में ११३३ हि० (१७२१ ई०) में पैदा हुए थे। उनकी वश-परम्परा पिता की ओर से ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबद से मिलती है और माता की ओर से हज़रत गौस आज़म तक पहुँचती है। ख्वाजा मीर के बुज़ुर्ग बुख़ारा से भारत में आये थे, लेकिन उनके पिता ख्वाजा मुहम्मद नासिर भारत मे ही पैदा हुए थे। ख्वाजा मुहम्मद नासिर जवान होने पर शाही मनसबदार नियुक्त हो गये। लेकिन कुछ समय के बाद ही उन्होंने सरकारी नौकरी छोड दी और आध्यात्मिकता की ओर झुक गये और हज़रत शाह ख्वाजा मुहम्मद जुबैर के, जो उस समय की दिल्ली के एक प्रख्यात सूफ़ी सत थे, शिष्य हो गये। बाद में प्रसिद्ध सूफ़ी बुज़ुर्ग शाह गुलशन से भी उन्होंने सत्सग लाभ किया था।

काव्य-प्रतिभा ख्वाजा मीर 'दर्द' को अपनी वश-परम्परा से ही मिली थी। सूफ़ी सत स्वभावतः ही काव्य तथा सगीत की ओर झुके होते हैं। 'दर्द' के पूर्वज भी कई पीढियों से फ़ारसी में काव्यरचना करते थे। उनके पिता भी शायर थे और 'अन्दलीब' तख़ल्लुस करते थे। 'दर्द' की शिक्षा-दीक्षा पिता द्वारा ही सम्पन्न हुई और काव्यसर्जन भी उन्होंने पिता के ही प्रभाव मे किया। उनकी युवावस्था साधारण सामन्ती ढग से बीती। मुसहफ़ी के कथनानुसार वे सिपाही पेशा थे, किन्तु २२ वर्ष की अवस्था में पिता के कहने से फ़क़ीरी ले ली। ३९ वर्ष की अवस्था में उन्होंने पिता के देहावसान पर उनकी धार्मिक गद्दी सँभाली। अपनी खानदानी फ़क़ीरी तथा व्यक्तिगत स्वच्छ जीवन तथा सतस्वभाव के कारण वे जीवनभर सारे समाज के आदर तथा श्रद्धा के पात्र रहे। सन् ११९९ हिजरी (१७८५ ईसवी) में उनका देहावसान हुआ।

जहाँ तक स्वभाव का सम्बन्ध है 'दर्द' में सतों के समस्त गुण विद्यमान थे। उनका जीवन निष्कलक था, दान करने की अधिक आदत नही थी, शांति और सतोष उनमें कूट-कूटकर भरे थे, गाभीर्य उन जैसा किसी समकालीन में नहीं

दिखाई देता और निर्भीकता तथा आत्मसम्मान भी किसी से कम न था। इ
होने के बाद किसी दरबार में न गये। शाह आलम ने दो बार बुलाया,
भी न गये। अंत में शाह आलम स्वयं ही उनकी आध्यात्मिक बातें
सभा में जा पहुँचे। पाँव में कुछ कष्ट था, इसलिए बादशाह पाँव फैला
बैठे। 'दर्द' की त्योरियाँ चढ़ गयीं। बादशाह ने यह लक्ष्य करके कहा
मेरे पाँव में तकलीफ़ है, इसलिए फैला लिया है। 'दर्द' बोले कि फिर आने
ज़रूरत ही क्या थी?

दिल्ली पर उस ज़माने में बड़ी-बड़ी मुसीबतें आयीं। सारे अमीरों
गुणीजनों ने दिल्ली छोड़-छोड़ कर बाहर जाना आरंभ कर दिया। 'दर्द'
शाहर को इन सामयिक परिवर्तनों ने किंचित प्रभावित न किया। अपने पूर्व
की जिस गद्दी को उन्होंने सँभाला था, उसे अंत तक सँभाले रहे। ऐसी निर्भी
से ही मालूम होता है कि किसीको ईश्वर पर सही अर्थ में विश्वास है या नहीं

'दर्द' के ज़माने की एक विशेषता काव्य-क्षेत्र में परस्पर निन्दा भी थी
'मीर', 'सौदा' आदि सभी इस रंग में रँगे दिखाई देते हैं। केवल 'दर्द' ही
एक मात्र कवि दिखाई देते हैं, जिन पर कभी किसी ने चोट नहीं की। इस
सबसे बड़ा कारण यही है कि उन्होंने स्वयं अपनी जिह्वा को किसी की निन्दा
कलुषित नहीं किया। सारी उम्र किसी बहस में नहीं पड़े, किसीके साथ स
का उन्हें विचार तक नहीं हुआ। उनके दीवान में फूल ही फूल भरे हैं, काँटों
कहीं नाम-निशान नहीं।

'दर्द' को संगीत का अच्छा ज्ञान था और उससे रुचि भी बहुत थी। म
में दो बार उनके यहाँ महफ़िले-समाअ (सूफ़ी संगीत सभा) होती थी, जि
शहर के बड़े-बड़े कव्वाल आया करते थे। मुहर्रम के अवसर पर मजलिसें
थी, जिनमें मरसिये पढ़े जाते थे।

'दर्द' में काव्य-प्रतिभा के अतिरिक्त विद्वत्ता भी उच्च कोटि की थी। उ
काव्य-रचनाएँ तो थोड़ी ही हैं—एक छोटा-सा दीवान उर्दू में और एक फ़ा
है। कसीदा, मसनवी आदि कुछ नहीं लिखा—किन्तु सूफ़ीमत सम्बन्धी लग
पुस्तकें उन्होंने फ़ारसी में लिखी हैं, जिनमें सूफ़ीमत के गूढ़ त
विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गयी है।

'दर्द' के काव्य की पहली विशेषता तो यही है कि वे गागर में सागर भर देते हैं। छोटे-से शब्दों में जो बात कहते हैं उसका प्रभाव असीमित होता है। इस लिहाज से उनकी रचनाएँ बहुत ही पसन्द की जा सकती हैं। साथ ही सरलता ऐसी है कि बात दिल में उतरती चली जाती है। उनकी रचनाओं में कहीं ऐसा नहीं होता कि मस्तिष्क पर ज़ोर डालना पड़े। सूफ़ीमत के गूढ़ तत्त्वों को उन्होंने अत्यन्त सरल भाषा में व्यक्त कर कमाल ही कर दिया है। तीसरी विशेषता यह है कि उनकी कविता में माधुर्य तथा संगीतात्मकता के तत्त्व बहुत अधिक पाये जाते हैं। इसका कारण केवल यह हो सकता है कि वे स्वयं संगीतज्ञ थे और संगीत मर्मज्ञ भी। कल्पनात्मक सौंदर्य से उनका कोई शेर खाली नहीं। चौथी बात यह है कि उनमें 'मीर' के बाद सबसे अधिक करुणा दिखाई देती है। इसका कारण उनका सूफ़ी दर्शन में रम जाना है। यह ज़रूर है कि 'मीर' जैसी तड़पने, तड़पानेवाली करुणा उनके यहाँ नहीं है, बल्कि प्रेम का मीठा-मीठा दर्द है, जिसमें 'आह-आह' करने में मज़ा आता है।

दो शब्द उनकी भाषा के बारे में भी। 'दर्द' की भाषा यूँ तो दो सौ वर्ष पहले की है और इस लिहाज़ से उसमें कुछ प्रयोग आज से अलग दिखाई ही देते हैं, फिर भी 'मीर' और '[illegible]' से उनकी भाषा हमारी वर्तमान उर्दू के कहीं अधिक समीप है। [illegible] है कि उन्होंने भाषा को सरलतम रखते [illegible] या [illegible] का प्रयोग नहीं किया। नीचे [illegible] बातों [illegible]

'दर्द' के काव्य की पहली विशेषता तो यही है कि वे गागर में सागर भ
देते हैं। थोड़े-से शब्दों में जो बात कहते हैं, उसका प्रभाव असीमित होता है
इस लिहाज से उनकी रचनाएँ बहुत ही परिपक्व कही जा सकती हैं। साथ ही
सरलता ऐसी है कि बात दिल में उतरती चली जाती है। उनकी रचनाओं
कहीं ऐसा नहीं होता कि मस्तिष्क पर जोर डालना पड़े। सूफ़ीमत के गूढ़ तत्त्व
को उन्होंने अत्यन्त सरल भाषा में कहकर चमत्कार ही कर दिया है। तीसरी
विशेषता यह है कि उनकी कविता में माधुर्य तथा गीतात्मकता के तत्त्व बहु
अधिक पाये जाते हैं। इसका कारण केवल यह हो सकता है कि वे स्वयं संगीत
थे और संगीत-मर्मज्ञ भी। ध्वन्यात्मक सौंदर्य से उनका कोई शेर खाली नहीं
चौथी बात यह है कि उनमें 'मीर' के बाद सबसे अधिक करुणा दिखाई देती है
इसका कारण उनका सूफ़ी दर्शन में रम जाना है। यह जरूर है कि 'मीर' जैस
तड़पने, तड़पानेवाली करुणा उनके यहाँ नहीं है, बल्कि प्रेम का मीठा-मीठा द
है, जिसमें 'आह-आह' करने में मज़ा आता है।

दो शब्द उनकी भाषा के बारे में भी। 'दर्द' की भाषा यूँ तो दो सौ व
पहले की है और इस लिहाज से उसमें कुछ प्रयोग आज से अलग दिखाई हैं। दे
हैं, फिर भी 'मीर' और 'सौदा' से उनकी भाषा हमारी वर्तमान उर्दू के क
अधिक समीप है। इसका कारण यह है कि उन्होंने भाषा को सरलतम रख
हुए भी हल्के या बाजारू शब्दों और मुहावरों का प्रयोग नहीं किया। नी
उनकी ग़ज़लों के कुछ शेर दिये जाते हैं, जिनसे उपर्युक्त बातों का अंदा
जायेगा—

> तुहमते चन्द अपने ज़िम्मे धर चले
> जिस लिए आये थे हम सो कर चले।
> ज़िन्दगी है या कोई तूफ़ान है
> हम तो इस जीने के हाथों मर चले।
> शमअ के मानिन्द हम इस बज़्म में
> चश्म-नम आये थे, दामन-तर चले।

साक़िया याँ लग रहा है चल चलाव
जब तलक बस चल सके साग़र चले।

है ग़लत गर गुमान में कुछ है
तुम सिवा भी जहान में कुछ है ?
दिल भी तेरे ही ढंग सीखा है
आन में कुछ है आन में कुछ है।
इन दिनों कुछ अजब है दिल का हाल
देखता कुछ है ध्यान में कुछ है।

जग में आकर इधर - उधर देखा
तू ही आया नजर जिधर देखा।
जान से हो गये बदन खाली
जिस तरफ तूने आँख भर देखा।

सय्यद मुहम्मद मीर 'सोज'—'सोज' भी तत्कालीन उर्दू काव्य के
में से हैं। यह शाहकुतुब आलम गुजराती के वंशज थे। पूर्वज बुखारा के नि
थे। 'सोज' के पिता सय्यद जियाउद्दीन बड़े सम्मानित व्यक्ति थे और
काल में धनुष-विद्या में प्रसिद्ध थे। मीर 'सोज' का जन्म दिल्ली में
हि० (१७२१ ई०) में हुआ। वह निशानेबाजी, घुड़सवारी, पहलवानी
में निपुण थे और सुलेखन कला में भी दक्ष थे। दिल्ली पर जब शाह अ
समय में तबाही आयी तो मीर 'सोज' भी १७७७ ई० में वहाँ से निकल पड़े
कुछ वर्ष फ़र्रुखाबाद में नवाब अहमद खा बंगश के मन्त्री मेहरबान खाँ 'रि
उस्ताद की हैसियत से रहे। इसके बाद लखनऊ पहुँचे। नवाब आसफ़
ने इनका स्वागत किया, किन्तु इन्हें जो आशा थी वह शायद पूरी न हुई।
हिजरी (१७९८ ई०) में यह मुर्शिदाबाद के दरबार में पहुँचे, किन्तु
वर्ष फिर वापस लखनऊ चले आये। अब नवाब आसफुद्दौला ने इनका शि
कि किन्तु जीवन ने इनका साथ न दिया और कुछ दिनों ब
२० (१७९८ ई०) में इनका देहावसान हो गया।

यद्यपि 'सोज़' कविता में 'मीर' और 'सौदा' के समकक्ष नहीं ठहर पाते यद्यपि उनकी गजलों की—उन्होंने अधिकतर गजलें ही लिखी हैं, कसीदा आदि कुछ नहीं लिखा—कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। वे अधिकतर शृंगार-रस के कवि हैं और उनकी गजलों में आध्यात्मिकता का पुट भी नहीं होता वे लौकिक प्रेम की बातें करते हैं। उनके शब्द अत्यन्त कोमल और मधुर होते हैं, यद्यपि कुछ पुराने ढंग के शब्द भी आ गये हैं, और भाव अत्यन्त सरल तथा करुणापूर्ण। नये-नये मज़मून पैदा करने की उन्हें 'सौदा' की भाँति चिन्ता नहीं होती, प्रेम-व्यापार में जो भावनाएँ साधारणतः सभी के हृदय में उठती हैं उनको प्रभावशाली ढंग से पेश कर देते हैं यहाँ तक कि कभी-कभी विराम भी युग-भग करने लगते हैं। इसके अतिरिक्त उभयगत प्रेम की परम्परा जो बाद स्थापित हुई उसके बीज 'सोज़' की कविता में ही मिलते हैं यद्यपि स्पष्ट उसमें उभयगत प्रेम नहीं दिखाई देता।

'सोज़' पहले अपने नाम की अनुरूपता से 'मीर' तखल्लुस करते थे, लेकिन जब मीर मुहम्मद तकी ने अपना तखल्लुस 'मीर' लिया तो उन्होंने उसे बदल-कर 'सोज़' कर दिया। उनकी किसीसे लेखनी-युद्ध करने की आदत नहीं थी। 'सौदा' ने उनके मुहावरों पर आपत्ति की तो वे हँसकर रह गये। 'मीर' तो उन्हें किसी गिनती में ही न लाते थे। किन्तु 'सोज़' को इसकी कुछ चिन्ता न थी। उन्होंने किसीके लिए हजो (निंदा पद्य) भी नहीं कही। वे अपने काम से काम रखते थे।

उनकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि वे अपनी कविता पढ़ने के साथ ऐसे भाव बनाते थे, जैसे 'एक्टिंग' कर रहे हों। उनकी इस पठनशैली की नकल कई लोगों ने की, किन्तु उन जैसी बात कोई और न पैदा कर सका। नीचे 'सोज़' की कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

> हुआ दिल को मैं कहता-कहता दिवाना
> पर उस बेख़बर ने कहा कुछ न माना।
> मुझे तो तुम्हारी खुशी चाहिए है
> तुम्हें गो हो मंज़ूर मेरा कुढ़ाना।

कहाँ ढूँढूँ हैं है कहाँ जाऊँ यारब
कहीं जा का पाता नहीं मैं ठिकाना।

आशिक़ हुआ, असीर हुआ मुब्तला हुआ
क्या जानिये कि देखते ही दिल को क्या हुआ!
सुनते ही मौत की खबरे-मर्ग खुश हुआ
कहने लगा कि पिंड तो छूटा, भला हुआ!

बुलबुल कहीं न जाइयो ज़िनहार देखना
अपने ही मन में फूलेगी गुलज़ार देखना।
नाज़ुक है दिल न ठेस लगाना इसे कहीं
ग़म से भरा है ऐ मेरे ग़मख्वार देखना!

मीर ग़ुलाम हसन 'हसन'—मीर हसन अपनी मसनवी 'सहरुल-बयान' के कारण उर्दू काव्य में अमर हो गये हैं। उनके पिता मीर 'ज़ाहक' बड़े विनोदी स्वभाव के बुज़ुर्ग थे जिनकी 'सौदा' से चोटें चला करती थी। मीर 'हसन' के पुत्र मीर 'ख़लीक़' तथा मीर 'खुल्क़' और मीर 'ख़लीक़' के पुत्र मीर 'अनीस' ने मरसियें में वही स्थान प्राप्त किया जो मीर 'हसन' ने मसनवी के क्षेत्र में। इनका वंश हिरात के मशहूर सय्यदों का था। मीर 'हसन' के प्रपितामह मीर इमामी भारत आकर दिल्ली में सय्यदवाड़ा मुहल्ले में रहने लगे। वहीं ११४० हि० (१७२४ ई०) में इनका जन्म हुआ। आरंभ में उन्होंने अपनी काव्य-साधना पिता के ही चरणों में बैठकर की। बाद में ख्वाजा मीर 'दर्द' से कविता में संशोधन कराया। दिल्ली की तबाही के बाद अपने पिता के साथ अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद आकर रहे। रास्ते में कुछ समय तक डीग में रहे। एक शाहमदार की छड़ियों के साथ यात्रा की, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी एक वी 'गुलज़ारे-अरम' में किया है, जिसमें फ़ैज़ाबाद की प्रशंसा तथा लखनऊ निन्दा है। फ़ैज़ाबाद में नवाब आसफ़ुद्दौला की माँ बहूबेगम के भाई नवाब जंग के यहाँ नौकरी की। १७७५ ई० में नवाब आसफ़ुद्दौला गद्दी पर

बैठे और उन्होंने राजधानी फ़ैज़ाबाद से बदलकर लखनऊ कर दी। मीर 'हसन' भी लखनऊ आ गये, लेकिन उनका मकान फ़ैज़ाबाद में भी रहा और वे बराबर वहाँ आते-जाते रहे। लखनऊ में ही १२०१ हि० (१७८७ ई०) के मुहर्रम मास में उनका देहावसान हुआ।

मीर 'हसन' का हुलिया 'आबे-हयात' में यूँ लिखा है—"मियाना (मझोला) क़द, गुदअदाम (सुडौल शरीर), गोरा रंग, जुमला (समस्त) कवानीने-शराफ़त (भद्रता के नियमों) और आईने-ख़ानदान (वंश के तौर तरीक़ों) में अपने वालिद के पाबंद थे, इतना था कि दाढ़ी मुँडवाते थे। · · सर पर बाँकी टोपी, तन में तनज़ेब का अँगरखा, फँसी हुई आस्तीनें, कमर से दुपट्टा बँधा।" शौक़ीन मिज़ाज और प्रेमी जीव थे। पिता की विनोद-प्रियता उत्तराधिकार में मिली थी, किन्तु किसी अवसर पर शिष्टता तथा सभ्यता का दामन नहीं छूटता था। कुछ हजवें भी लिखी हैं, किन्तु अत्यंत शिष्ट भाषा में हैं। उनकी रचनाएँ प्रसाद गुण से परिपूर्ण और सरल होती हैं। मालूम होता है कि फूल झड़ रहे हैं। ग़ज़ल, रुबाई, मरसिया सभी अच्छा कहते थे, किन्तु दुर्भाग्य से इस समय उनकी मसनवी और दो-चार ग़ज़लें ही उपलब्ध हैं। उनकी ग़ज़लों की शैली मीर 'सोज़' से मिलती है और उनमें कुछ-कुछ मीर तक़ी 'मीर' की ग़ज़लों का भी आनन्द आता है, यद्यपि उन्होंने लखनऊ में 'सौदा' से अपनी कविताओं का संशोधन कराया था। इसके पहले वे ज़ियाउद्दीन 'ज़िया' के भी शागिर्द रहे थे।

डा० रामबाबू सक्सेना के कथनानुसार मीरहसन की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) एक ग़ज़लों का दीवान जिसमें कुछ अन्य काव्यरूप—तरजीअ बंद, मुख़म्मस, मुसद्दस आदि—भी हैं।

(२) ग्यारह मसनवियाँ, जिनमें 'सहरुल्बयान', 'गुलज़ारे-इरम' और 'मुसूर-आरफ़ीन' प्रसिद्ध हैं। मसनवी 'सहरुल्बयान' या 'क़िस्सा बेनज़ीर व बद्रे-मुनीर' उर्दू काव्य का अनुपम रत्न है और उर्दू की सबसे अच्छी मसनवी है। यह ११९९ हि० (१७८५ ई०) में लिखी गयी। जैसा कि क़तील और मुसहफ़ी के इतिहासों से सिद्ध है, यह नवाब आसफ़ुद्दौला के नाम समर्पित हुई

है। इसमें शाहज़ादा बेनज़ीर और शाहज़ादी बद्रे-मुनीर के प्रेम का वृत्तां
जिसमें प्रसंगवश अन्य रोचक वर्णन भी आ गये हैं, जैसे प्राचीन समय की वे
भूषा, आभूषण, विवाह की रस्में, बरात का सामान आदि बड़े सुंदर ढंग से व
हैं। भाषा ऐसी साफ़ और मुहावरेदार है कि सैकड़ों शेर मुहावरे के रू
लोगों की ज़बान पर चढ़ गये हैं। इसका हर मिसरा सुंदर और हर शेर
हुआ है। वर्णन शैली, भाषा, विषय-प्रतिपादन और कथनोपकथन, सभी प्रश
नीय हैं। विशेषता यह है कि पुस्तक को लिखे लगभग दो सौ वर्ष हो गये, कि
भाषा वही है जिसे हम आप बोलते हैं। भाव-चित्रण अत्यंत स्वाभाविक औ
प्रभावोत्पादक है और सरलता ने उसमें जान डाल दी है। इन्हीं सब
गुणों के कारण इसे उर्दू की सबसे अच्छी मसनवी समझा जाता है और ऐसा
समझना उचित भी है। मसनवी 'गुलज़ारे-अरम' का उल्लेख पहले ही हो
चुका है। 'रमूज़ुल-आरफ़ीन' का उल्लेख स्वयं मीर हसन द्वारा लिखि
'तज़किरे' के अलावा और कहीं नहीं मिलता।

(३) मीर 'हसन' के कई क़सीदे और कई हजवें भी हैं। हजवें दिल
और पठनीय हैं, लेकिन क़सीदों में कोई खास ज़ोर नहीं मालूम होता, बहु
मामूली किस्म के क़सीदे हैं।

(४) उन्होंने कुछ मरसिये और सलाम भी लिखे हैं, किन्तु उनका केवल
ऐतिहासिक महत्त्व है।

(५) फ़ारसी में, लिखा हुआ मीर हसन का 'तज़किरतुश्शुअरा' भी 'मीर'
और मुसहफ़ी के तज़किरों की भाँति प्रसिद्ध है और अब तक उसका हवाला
दिया जाता है। इसमें लगभग ३०० कवियों का वर्णन है। अनुमानतः यह
११९२ हि० (१७७८ ई०) के आस-पास लिखा गया है। लेखक ने इसे तीन
में विभाजित किया है। पहला काल उन कवियों का है जो फ़र्रुख़सियर
हुए हैं, दूसरा फ़र्रुख़सियर से लेकर मुहम्मदशाह तक के ज़माने के कवि
र तीसरा स्वयं अपने समकालीन कवियों का।

मीर 'हसन' की काव्य शैली का नमूना दिखाने के लिए उनकी एक ग़ज़ल
खए—

वो जब तक कि जुल्फें सँवारा किया
खड़ा उस पे मैं जान वारा किया ।
अभी दिल को लेकर गया मेरे आह
वो चलता रहा मैं पुकारा किया ।
किमारे मुहब्बत में बाजी सदा
वो जीता किया और मैं हारा किया
किया क़त्ल और जान बख़्शी भी की
'हसन' उसने अहसाँ दोबारा किया ।

: ३ :

नज़ीर अकबराबादी

'नज़ीर' अकबराबादी उर्दू के ऐसे निराले कवि हैं जो वास्तव में अ
समय से बहुत पहले पैदा हो गये या यूँ कह लीजिए कि उन्होंने इस ढंग से कवि
की जिसका मूल्यांकन डेढ़-दो सौ वर्ष के बाद ही किया जा सकता था। इसी
वे उर्दू काव्य के विकास की शृंखला की कोई कड़ी नहीं बनाते, बल्कि ए
नक्षत्र की भाँति सबसे अलग जा पड़े हैं और घोर अँधेरे में अपनी टिमटिम
से हमेशा उजाला करते रहते हैं। इसीलिए हमने उन्हें किसी विशेष यु
साथ नहीं बाँधा है, बल्कि उन्हें अलग से ही जगह दी है, जिसके वे अधिक
भी हैं।

'नज़ीर' का जीवनवृत्त भी प्रो० ग़फ़ूर 'शहबाज़' के प्रयत्नों के फलस्व
पहले-पहल १९०० ई० में प्रकाश में आया। उन्नीसवीं शताब्दी के आलोच
ने या तो 'नज़ीर' की पूर्णत उपेक्षा ही कर दी या उन्हें याद भी किया तो नि
करते हुए। प्रो० शहबाज़ की "ज़िन्दगानी-ए-बे नज़ीर" से मालूम होता है कि
उनका जन्म दिल्ली में १७३५ ई० में हुआ, यद्यपि डा० रामबाबू सक्सेना क
हैं कि उनका जन्मकाल नादिरशाह के हमले (१७३७ ई०) का है। इन
नाम वली मुहम्मद था और पिता का मुहम्मद फ़ारूक़। उनकी माँ आगरे
किलेदार नवाब सुलतान खाँ की बेटी थी। 'नज़ीर' की पैदायश के बाद ही
दिल्ली पर लगातार मुसीबतें आने लगी। १७३९ ई० में नादिर शाह क
हमला हुआ। उसने दिल्ली को खूब लूटा और भयानक नरवध किया। दिल्
की गलियों में खून की नदियाँ बह गयी। इसके बाद भी बहुत दिनों तक दि
में अशांति रही। अहमद शाह अब्दाली ने भी पैदर पै तीन बार १७४८, १७५
और १७५६ ई० में दिल्ली पर हमले किये। मराठों के भी आक्रमण हो र
थे। अतएव 'नज़ीर' भी अपनी माँ और

गार्ह की अवस्था में दिल्ली से आगरे (अकबराबाद) चले आये और वहाँ ताजगंज में नूरी दरवाज़े पर मकान लेकर रहने लगे। 'नज़ीर' आगरे में बसे तो ऐसे बसे कि मर कर भी वहीं दफ़न हुए। आगरे में उन्होंने तहव्वरुन्निसा बेगम से विवाह किया। यह अब्दुर्रहमान खाँ चग़ताई की नवासी और मुहम्मद रहमान खाँ की बेटी थीं। 'नज़ीर' के दो सन्तानें थीं—एक लड़का गुलज़ार अली और लड़की इमामी बेगम। इमामी बेगम के एक लड़की हुई, जिसका नाम विलायती बेगम था। विलायती बेगम प्रो० शहबाज़ के समय में जीवित थीं और 'ज़िन्दगानी-ए-बेनज़ीर' के लिए उन्होंने बहुत-सी आवश्यक सामग्री दी थी।

'नज़ीर' सन्तोषी प्रकृति के मस्त जीव थे। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं रही—यद्यपि फ़ाक़ों की नौबत कभी नहीं आयी—लेकिन रुपया उन्हें कभी आकृष्ट न कर सका। नवाब सआदत अली खाँ ने उन्हें लखनऊ बुलाया, लेकिन उन्होंने जाने से इनकार कर दिया। इसी प्रकार भरतपुर के नवाब ने उन्हें बुलाया, किन्तु वे न गये। अध्यापन-कार्य के सिलसिले में वे कुछ दिन मथुरा में भी रहे, लेकिन उन्हें आगरा छोड़ना पसंद न था। आगरे की रंगरलियाँ उन्हें कहीं नहीं मिल सकती थीं, इसलिए वे आगरे लौट आये और लाला विलास राय के लड़कों को पढ़ाने के लिए सत्रह रुपये मासिक पर नौकर हो गये। उनकी जीविका का सहारा केवल यही नौकरी रही।

सन्तोष के साथ ही जीवन का पूरा आनन्द लेना वे जानते थे। जवानी के दिनों में उन्होंने रंगरलियाँ भी कीं। उनकी रचनाओं से मालूम होता है कि उन्हें वेश्याओं का काफ़ी अनुभव था। विशेषतः एक वेश्या मोती बाई से उन्हें बड़ा प्रेम था। इसके अलावा उन्हें पक्षियों के पालने का भी शौक रहा होगा। अपनी रचनाओं में उन्होंने पक्षियों की जितनी जानकारी दिखायी है, उतनी किसी और ने नहीं दिखायी, यहाँ तक कि उनके द्वारा वर्णित कुछ पक्षियों के नाम भी आज लोग नहीं जानते। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। पक्षियों के पालने का शौक जितना उन्नीसवीं शताब्दी में लोगों को था, उतना आज के व्यस्त जीवन में संभव नहीं। इसलिए आज उनके ज़माने के कई पक्षियों का पालना छोड़ ही दिया गया है और लोग उनका नाम भी भूल गये हैं।

मेले-ठेले आदि से भी 'नज़ीर' को दिलचस्पी थी। तैराकी में भी उन्हें

रुचि थी। कुश्ती का भी उन्हें शौक मालूम होता है। संक्षेप में कोई ऐसा शौक न था, जो 'नज़ीर' ने पूरा न किया हो।

अंत में पञ्चानवे वर्ष की अवस्था में १६ अगस्त, १८३० ई० को उनका देहावसान हो गया। यह सन् उनके एक शिष्य द्वारा कही गयी 'तारीख' से मालूम होता है। लायल साहब उनकी मृत्यु का समय १८३२ ई० बताते हैं लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं देते। यह अटकल शायद उन्होंने इस बात पर लगायी होगी कि 'नज़ीर' के बारे में मशहूर था कि वे सौ वर्ष जिये। उनका जन्म सवत् ११४७ हि० (१७३५ ई०) माना गया है। इसी आधार पर उनके देहांत का समय १२४७ हि० (१८३२ ई०) लायल साहब ने मान लिया। लेकिन किम्वदन्ती और अटकल की बजाय स्पष्ट 'तारीख' का प्रमाण ही मानना चाहिए, जो १८३० ई० में उनका देहांत बताती है। इस प्रकार ईसवी हिसाब से पचानवे और हिजरी हिसाब से अट्ठानवे वर्ष की अवस्था में 'नज़ीर' का देहांत हुआ। मृत्यु का तात्कालिक कारण पक्षाघात था।

'नज़ीर' ने बहुत लिखा। उनके द्वारा रचित शेर सबके सब प्राप्त होते तो उनकी संख्या दो लाख से अधिक होती। लेकिन उन्होंने स्वयं कुछ जमा नहीं किया। जो कुछ भी आज प्राप्त है (और यह भी कम नहीं है—लगभग छ हजार शेर हैं) वह उनके प्रिय शिष्यों—लाला बिलास राय के पुत्रों ने अपनी कापियों में लिख लिया था। इन्हीं शिष्यों द्वारा सुरक्षित निम्नलिखित सामग्री मिलती है—

(१) एक कुल्लियात (काव्य संग्रह) उर्दू का जिसमें सभी प्रकार की कविताएँ शामिल हैं।

(२) एक दीवान फ़ारसी ग़ज़लों का।

(३) फ़ारसी गद्य में भी पुस्तकें, जिनके नाम हैं [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] जिनके [illegible] नहीं हो सके।

'नज़ीर' [illegible]

[illegible]

[illegible]

याद भी किया तो निकृष्ट बाज़ारू कवि के रूप में, जो बहुधा अश्लील काव्य-रचना करता है। किन्तु बीसवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थ में 'नज़ीर' की गिनती महाकवियों में होने लगी और यह भी संभव है कि पचास या सौ वर्ष बाद उन्हें सर्वश्रेष्ठ उर्दू कवि कह दिया जाय। इस तर्क विरुद्ध समालोचना के विकास का रहस्य इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि 'नज़ीर' की चेतना अपने समय से [illegible]त आगे बढ़ी हुई थी, जिसे उनके समकालीनों ने बहुत पीछे की चीज़ समझ [illegible]र उसको कोई महत्त्व नहीं दिया। 'नज़ीर' के समय का भारत सामंतवादी [illegible]रत था, जिसमें या तो धर्म और दर्शन के आधार पर साहित्य-सर्जन किया [illegible]ता था, या फिर सौंदर्य के बोध का ऐसा आधार ढूंढा जाता था, जो सामंत वर्ग [illegible] जीवन में मिल सके। इसके विरुद्ध 'नज़ीर' बिलकुल जन-साधारण के कवि थे, [illegible]ो सारे जीवन को जनसाधारण की दृष्टि से देखा करते थे। उन्होंने जीवन की [illegible]त्येक अनुभूति का चित्रण किया है, किन्तु उनकी चेतना जन-साधारण के जीवन [illegible] परिप्रेक्ष्य में ही देखी जा सकती है। वे प्रेम की बात करेंगे तो भी उसमें राज-[illegible]मारों और राजकुमारियों के विरहाग्नि में जलने का वर्णन न होगा, बल्कि [illegible]ाधारण जन का तूफ़ानी प्रेम होगा, भक्ति की बातें करेंगे तो भी उस साधारण [illegible]न की भावना का चित्रण करेंगे जो कृष्ण और मुहम्मद दोनों के आगे नतमस्तक [illegible]ो जाता है। महलों और दरबारों की सजावट की चकाचौंध और शाही सवा-[illegible]रियों या शिकार के वर्णन की बजाय उनके यहाँ तैराकी, बलदेवजी का मेला, आगरे [illegible]ी ककड़ी, ताजमहल और रीछ का तमाशा दिखाई देगा। इसके अलावा वे [illegible]छ ऐसी भी बातें कह जायेंगे, जो सामंती युग के सभ्य समाज में वर्जित थीं— जैसे ग़रीबी का रोना, मौत का डर और रोटियों का महत्त्व। स्पष्ट है कि साधारण, किन्तु सम्पूर्ण जीवन के ऐसे यथार्थवादी कवि को सँभालना उस समय की सामंती दरबारी चेतना के वश की बात नहीं थी। इसीलिए तत्कालीन आलोचकों ने बाज़ारूपन के नाम पर उनकी लोकप्रियता से छुट्टी पा ली।

'नज़ीर' की कला का महत्त्व भी तत्कालीन साहित्यिक रुचि के लिए जो परिष्कृत होते-होते कृत्रिमता और अवास्तविकता की सीमा छूने लगी थी, समझ के बाहर की चीज़ है। 'नज़ीर' की कला में टेढ़ी-मेढ़ी नदी का बहाव है, बाग़ की नहरों की रवानी नहीं। 'नज़ीर' ने काव्य नियमों की अक्सर उपेक्षा कर दी

है, फिर भी उनकी कविताओं में अजीब ताज़गी है। उनका ध्वनि-सौंदर्य
रुबाब की कोमल तानों का नहीं है, लेकिन खुले मैदान में गूंजती हुई
ध्वनि का ज़रूर है।

'नज़ीर' के काव्य में अपने समकालीनों और बाद के कवियों से एक
स्पष्टत. अधिक दिखाई देती है। 'नज़ीर' ने रूपकों का प्रयोग उर्दू में शायद
अधिक किया है। उर्दू में फ़ारसी के प्रभाव से सूफ़ी दर्शन में प्रयुक्त कुछ
विषयक रूपक—जैसे ईश्वर का प्रियतम तथा साधक का प्रेमी के रूप में
बहुत दिनों से प्रयुक्त होते आ रहे थे और अब भी हो रहे हैं। किन्तु 'नज़ीर'
इस विषय में काफ़ी विस्तार किया है। 'हंसनामा' 'बंजारा नामा'
इसके उदाहरण हैं, जिनमें मनुष्य के क्षण-भंगुर जीवन को हंस, बंजारा
के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह प्रभाव उनमें फ़क़ीरों की सगत से आया
और तत्सम्बन्धी उनकी कविताओं में ही इस शैली का प्रयोग
हुआ है। उनकी नज़्म 'रीछ का बच्चा' के बारे में भी कुछ आलोचकों का
है कि रीछ के रूपक में मन के साथ होने वाले संघर्षों का वर्णन है।

भाषा के क्षेत्र में 'नज़ीर' से अधिक उदार कोई उर्दू कवि नहीं हुआ है।
उन्होंने जन-संस्कृति का (जिसमें हिन्दू-संस्कृति भी शामिल थी) दिग्दर्शन
है। इसलिए चलताऊ और हिन्दी के शब्द भी बहुतायत से प्रयोग किये
व्याकरण सम्बन्धी नियमों की दृष्टि से 'नज़ीर' की भाषा 'मीर' और
के ज़माने की उर्दू है, जिसमें आज जैसी व्याकरण की कठोरता नहीं है।
उनकी भाषा आज से कुछ अलग मालूम हो सकती है। किन्तु व्याकरण के
नियमों पर ध्यान न दिया जाय तो कुछ पुराने मुहावरों के बावजूद नज़ीर की
रचनाएं जनसाधारण की समझ में अन्य उर्दू कवियों की रचनाओं से कहीं अधिक
आ सकती है।

'नज़ीर' की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

> क्या क़हर है यारो जिसे आ जाय बुढ़ापा
> और ऐश जवानी के तईं खाय बुढ़ापा।
> इशरत को मिला ख़ाक में ग़म लाय बुढ़ापा
> हर काम को हर बात को तरसाय बुढ़ापा।

सब चीज़ को होता है बुरा हाय बुढ़ापा
आशिक़ को तो अल्लाह न दिखलाय बुढ़ापा ।

फल पात कहीं झाड़ कहीं फूल कहीं बेल
नरगिस कहीं, सौसन कहीं, बेला कहीं रावेल ।
आज़ाद कोई सबसे, किसी का है कहीं मेल
मलता है कोई राख, चमेली का कोई तेल ।
करता है कोई जुल्म को, लेता है कोई झेल
बाँधे कहीं तलवार, उठाता है कोई सेल ।
अदना कोई, आला कोई, मुआ कोई डंडपेल
जब ग़ौर से देखा तो उसी के हैं ये सब खेल ।

हर आन में हर बात में हर ढंग में पहचान
आशिक़ है तो दिलबर को हरएक रंग में पहचान ।

तारीफ़ करूं अब मैं क्या क्या उस मुरली अधर बजय्या की
नित सेवा कुंज फिरय्या की और बन बन गऊ चरय्या की ।
गोपाल, बिहारी, बनवारी, दुख हरना, मेह्र करय्या की
गिरधारी, सुन्दर, श्याम-बरन और हलधर जू के भय्या की ।

यह लीला है उस नन्द ललन, मनमोहन, जसुमति छय्या की
रख ध्यान सुनो, डंडौत करो, जै बोलो किशन कन्हय्या की ।

: ४ :

लखनवी कविता

दिल्ली की तबाही के बाद लखनऊ उर्दू कविता का केन्द्र हो गया। प
शहर में वे ही कवि प्रमुख हुए जो दिल्ली से आये थे। उनका कुछ अपना
था, कुछ अपनी विशेषताएँ थीं। उनके बाद आनेवाले कवियों ने, जो मूल
से दिल्ली या उसके आसपास के निवासी थे, अपनी जवानी की आँखें लख
में ही खोली, जहाँ के दरबार में उस समय हँसने-हँसाने और विलास-प्रियता
अतिरिक्त अन्य कोई वातावरण न था। इसलिए इन बाद वाले कवियों
गंभीरता के तत्त्व गायब हो गये और उच्छृंखल, तथा सतही प्रेम की ही आध
भूमि पर कविता की जाने लगी। भाषा तथा अभिव्यक्ति-शैली के क्षेत्र में
काल में अवश्य पहले से विकास हुआ और दिल्ली के कवियों द्वारा व्यवहृत ब
से शब्द तथा वाक्य-विन्यास छोड दिये गये। यद्यपि इन लोगों ने भी कुछ
पुराने शब्द—यथा नित, टुक, अखड़ियाँ, भल्ला रे, झमकड़ा आदि—का
रखे, जिन्हें बाद में उस्ताद 'नासिख' ने छोड़ कर परिष्कृत उर्दू भाषा का रू
पेश कर दिया, फिर भी प्रारंभिक लखनवी कवियों की भाषा में पुराने क
को देखते हुए बहुत कुछ सुधराव है। जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है, उसमें
गंभीरता की बजाय उत्फुल्लता का बोलबाला दिखाई देता है और शब्द भा
भी विषय और शैली के अनुरूप दिखाई देती है। इस युग के प्रमुख कवियों
'मुसहफ़ी', 'इंशा', 'जुरअत', तथा 'रंगी' का नाम लिया जा सकता है, जिन
संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

शेख गुलाम हमदानी 'मुसहफ़ी'—यह अमरोहा, जिला मुरादाबाद के ह
अकबरपुर गाँव में एक कुलीन वंश में १७५० ई० में पैदा हुए। पिता का
शेख वली मुहम्मद था। शेख गुलाम हमदानी युवा होने पर दिल्ली चले
उन्हें पढ़ने का बड़ा शौक था, किताबें माँग-माँग कर पढ़ा करते थे। मीर

के तज़किरे के अनुसार उनकी कविता की ख्याति १७८१ ई० से आरम्भ हुई। वे अपने घर पर मुशायरे करते और उनमें दिल्ली के मशहूर कवि 'इंशा' 'जुरअत' आदि सम्मिलित होते थे। दिल्ली में काफ़ी वर्ष रहकर वे नवाब आसफ़ुद्दौला के ज़माने में लखनऊ चले आये और दिल्ली के राजवंश के मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के यहाँ नौकर हो गये। इसके पहले वे कुछ दिनों तक टाँडा में नवाब मुहम्मद यार के यहाँ भी रहे थे। एक तज़किरे के अनुसार उन्होंने कुछ दिनों व्यापार से भी जीवन निर्वाह किया था। सन् १२४० हिजरी (१८२४ ई०) में हिजरी हिसाब से ७६ वर्ष और ईसवी हिसाब से ७४ वर्ष की अवस्था में 'मुसहफ़ी' का देहान्त हो गया।

'मुसहफ़ी' ने बहुत कविता की है। कहा जाता है कि उन्होंने फ़ारसी के चार दीवान लिखे थे, जिनमें से अब एक ही उपलब्ध है। उर्दू में आठ दीवान हैं, जिनमें हज़ारों ग़ज़लें, क़सीदे, तारीख़ें, रुबाइयाँ आदि हैं।

उनकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना मुहम्मद शाह के ज़माने से लेकर अपने समय तक के लगभग साढ़े तीन सौ उर्दू कवियों का जीवन-वृत्त है, जो 'मुसहफ़ी' का 'तज़किरा' कहलाता है। इस पुस्तक का रचना-काल १७९४ ई० है। यह पुस्तक बड़े काम की है। इसमें उन्होंने समकालीनों की ओर अधिक ध्यान दिया है और उनके जीवन-वृत्त के अतिरिक्त उनकी रचनाओं के नमूने भी दिये हैं। यह पुस्तक उन्होंने मीर हसन के पुत्र मीर मुस्तहसन 'खलीक़' की प्रेरणा से लिखी थी।

'मुसहफ़ी' बड़े प्रतिभाशाली कवि थे, इतनी तेज़ी से कविता करते थे जैसे गद्य लिख रहे हों। उनका उपलब्ध संग्रह भी किसी से कम नहीं है। इसके अलावा भी उन्होंने असंख्य शेर लिखे, जिनमें कुछ बिक गये और कुछ उनके मित्र और रिश्तेदार ले गये। उनके शागिर्द मीर 'खलीक़', ख्वाजा 'आतश', मीर 'ज़मीर', 'असीर', 'शहीदी' जैसे प्रतिभावान कवि थे, जिन्होंने अपने कृत्यों से उर्दू काव्य को चमका दिया। काव्यशास्त्र की दृष्टि से उनकी रचनाएँ त्रुटिहीन होती थीं, जो कम से कम उस प्रारंभिक काल में बहुत बड़ी बात थी।

दुर्भाग्य से ऐसा प्रतिभाशाली कवि ऐसे ज़माने में पैदा हुआ, जिसने न केवल उसकी क़द्रदानी नहीं की, बल्कि उसे अपनी रचनाओं को इस तरह बिखरा देने

के लिए मजबूर कर दिया कि बाद वालों के लिए भी उनकी कविता की देन का सही अनुमान करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, असंभव तक हो गया। यह जमाना उठा-पटक और हँसी-ठिठोली का था, इसीलिए 'इंशा' जैसे हँस तबीयत के आदमी उस जमाने पर छा गये (यद्यपि अंत उनका भी अच्छा नहीं हुआ)। मिर्जा सुलेमान शिकोह की सरकार में पहले मुसहफ़ी को पचास रुपया महीना मिलता था, 'इंशा' के पहुँचने के बाद इनके पाँच रुपये कर दिये गये जो कि रो पीटकर मान रुपये करवा लिये गये। 'मुसहफ़ी' ने एक भूल यह की कि जमाने की रफ़्तार को देखकर चुप्पी साधने की बजाय निन्दा के क्षेत्र में भी 'इंशा' से भिड़ गये। किन्तु 'इंशा' से कौन पार पा सकता था? दोनों ओर से युक्ता-फ़ज़ीहत हुई, स्वांग और जुलूस निकाले गये, लेकिन पल्ला 'इंशा' ही का भारी रहा। नवाब अवध सआदत अलीख़ाँ ने भी 'इंशा' का साथ दिया। इससे 'मुसहफ़ी' के दिल पर बड़ी चोट लगी। फिर उन्होंने बुढ़ापे में शादी भी कर ली थी। इससे एक ओर तो इनके विरोधियों को चिढ़ाने का मौका भी मिला और दूसरी ओर इनकी कविता की भी दुर्गति हो गयी। इनका शागिर्द इनकी अच्छी-अच्छी गजलें ले जाता, कुछ तो अपने लिए रख लेता, कुछ बेच देता। 'मुसहफ़ी' बेचारे के लिए रद्दी शेर ही रह जाते थे। इसीलिए अक्सर रचनाएँ फीकी मालूम होती हैं। एक मुशायरे में यह दाद (प्रशंसा) न मिलने पर झुंझलाकर कागज पटक कर चले आये थे। 'मीर' ने इनके एक शेर को दुबारा पढ़वाया तो इतने खुश हुए कि कई बार उठ-उठ कर सलाम किया।

इनके कविता-संग्रह में बहुत-से शेर इसी तरह के बचे-बचाये रद्दी हैं, जिनमें कोई मजा नहीं। जो अच्छे भी हैं उनमें भी कोई एक रंग नहीं है। मालूम होता है कि वे अपनी उस्तादी इसी में समझते थे कि यह सिद्ध कर दें कि वे हर प्रकार की काव्य-रचना कर सकते हैं। उनकी गजलों के शेरों में कहीं 'मीर' की तरह करुणा मिलेगी, कहीं 'सौदा' का ओज, कहीं 'सोज़' की सी सरलता, कहीं 'जुरअत' जैसी उच्छृंखलता और कहीं 'इंशा' जैसा फक्कड़पन। उनकी गजलों की भाँति उनके कसीदों में भी काव्य शास्त्र के नियमों का निर्वाह तो पूरी तरह से किया गया है, लेकिन उनके यहाँ 'सौदा' के कसीदों का ज़ोर देखने को नहीं मिलता। एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि वे हुए 'जुरअत'

इंशा' के काल मे हैं, किन्तु भाषा 'मीर' और 'सौदा' के ज़माने की ही प्रयोग
लाते हैं, इसी कारण उनके यहाँ परित्यक्त शब्दो का प्रयोग अधिक मिलता है।

मुसहफ़ी की कविता का नमूना निम्नलिखित है—

निगाहे-लुत्फ़ के करते ही रंगे-अंजुमन बिगड़ा
मुहब्बत में तेरी हमसे हर इक अहले-वतन बिगड़ा
जिसे सब बांके और टेढ़े करें थे दूर से मुजरा
वही रस्ते में आख़िर करके हमसे बाँकपन बिगड़ा
हमेशा शेर कहना काम था वाला-नज़ादों का
रुफ़ीहों ने दिया है दख़्ल जब से बस ये फ़न बिगड़ा
नहीं तक़सीर कुछ दरज़ी की इसमें 'मुसहफ़ी' हरगिज़
हमारी ना-दुरुस्ती से बदन की पैरहन बिगड़ा

यार बिन बाग़ से हम आते हैं दुख पाये हुए
अश्क आँखो में भरे हाथ में गुल खाये हुए
किसके आने की ख़बर है जो चमन में गुलचीं
ज्यूं सबा चार तरफ़ फिरते हैं घबराये हुए
उसके कूचे से जो उठ आते हैं हम दीवाने
फिर इन्हीं पाँव चले जाते हैं बौराये हुए
'मुसहफ़ी' क्योंकि अनीं-गारी हो उसका ज्यूं बर्क़
तौलने नाज़ को जब जाय वो चमकाये हुए

सय्यद इंशा अल्ला ख़ाँ 'इंशा'—यह उच्च वंशीय थे। इनके पूर्वज अरब के प्रसिद्ध क्षेत्र नजफ़ से भारत आये थे। कुछ लोगों के विचार से इनके पूर्वज समरकन्द से कश्मीर आकर रहे थे, फिर दिल्ली में आ बसे। इनके पिता मीर माशा अल्ला ख़ाँ थे जो शाही दरबार के हकीम थे। इनके घराने की शराफ़त का चरचा दूर-दूर तक था। ख़ानदानी प्रतिष्ठा का हाल यह था कि घर की स्त्रियों के कपड़े घर में धुलते थे या जला दिये जाते थे, धोबी के यहाँ न डाले जाते

थे क्योंकि अपरिचित व्यक्तियों के हाथ में पड़ेंगे। सय्यद इंशा की पैदाइश दिल्ली में हुई। उनके पिता कुछ दिनों के लिए मुर्शिदाबाद के दरबार में चले गये, किन्तु शाह आलम के काल में फिर दिल्ली आ बसे। सय्यद 'इंशा' उस समय तक जवान हो चुके थे। शिक्षा-दीक्षा अच्छी हुई, किन्तु जी इनका काव्य-सर्जन में ही लगा। किसी को अपना काव्य-गुरु नहीं बनाया। अपनी काव्य-प्रतिभा तथा विनोद-प्रियता के कारण शाह आलम के दरबार में प्रविष्ट हो गये और उनके अत्यत प्रिय मुसाहब हो गये। बादशाह को एक दम के लिए भी इनका अलग होना अच्छा नहीं लगता था। 'इंशा' को अपनी कविता पर बड़ा गर्व था। इसीलिए शायद इन्हें ख्याल हुआ कि दिल्ली के पुराने कवि मेरी कविता की कद्र नहीं करते हैं। इन्होंने एक ओर तो उन लोगों से कलमी लड़ाई छेड़ दी, दूसरी ओर बादशाह से कह दिया कि आप अपनी गजल मुशायरे में भेजते हैं तो उसका लोग मज़ाक उड़ाते हैं। बादशाह ने इस पर क्रोध तो न किया लेकिन मुशायरों में गज़ल भेजना बंद कर दिया। अन्य कवियों को इंशा की यह हरकत बुरी लगी। वे लोग फिर भी कुछ कर नहीं सके, लेकिन इंशा के मुँह खून लग गया था और उन्होंने लखनऊ में भी यही हरकतें जारी रखीं, जिसका हाल आगे आयेगा।

दिल्ली मे शाह आलम नाम के ही बादशाह थे। उनकी आर्थिक दशा खराब थी। इंशा अपनी लच्छेदार बातो से उनसे रोजाना कुछ पैसा झटक लिया करते थे, लेकिन इस तरह कबतक काम चलता? आखिर लखनऊ में आसफुद्दौला का नाम सुनकर आये और मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के दरबार में पहुँच गये। पहले मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह 'मुसहफी' से अपनी कविताओं में संशोधन कराया करते थे, किन्तु इनके पहुँचते ही उनका रग उखड़ गया। 'मुसहफी' ने कविता में अपने मन की भड़ास निकाली तो 'इंशा' उनके पीछे बुरी तरह पड़ गये और नौबत इस पर आ गयी कि दोनों एक दूसरे के विरुद्ध स्वांग बना-बनाकर जुलूसो में निकालने लगे। सुलेमान शिकोह के दरबार के एक सम्मानित विद्वान् तफ़ज्जुल हुसेन खाँ थे। इंशा उनके पास भी जाया करते थे। उन्होंने तत्कालीन नवाब सआदत अली खाँ के दरबार में इन्हें पहुँचा दिया।

सआदत अली खाँ से पहले इनकी बहुत पटी। इनकी चुहलें नवाब

मनोरञ्जन की सामग्री होती थी। दोनों में बेतकल्लुफ़ी भी बहुत बढ़ गयी थी। इसी बेतकल्लुफ़ी में इनके मुँह से एक दिन ऐसी बात निकल गयी जिससे नवाब के दासी-पुत्र होने की ओर भी इशारा होता था। नवाब नाराज़ हो गये और एक दिन बहाना मिलने पर उन्हें दरबार के अलावा और कहीं न जाने का आदेश दे दिया। इससे यह बहुत दुखी हुए। इसी अरसे में इनका जवान बेटा मर गया जिससे इनका दिमाग़ क़रीब-क़रीब ख़राब हो गया और इसी दशा में इन्होंने नवाब सआदत अली खाँ को, जिनकी सवारी इनके घर के सामने से निकल रही थी, उनके मुँह पर ही भला-बुरा कहा। नवाब ने महल वापस जाकर इनका वेतन बंद करवा दिया। अंत समय बड़े कष्ट से बीता। इसी उन्माद की दशा में कई बरस बिताने के बाद १८१७ ई० में इनका देहान्त हो गया।

सय्यद इंशा बड़े विद्वान् पुरुष थे। विनोद प्रियता आवश्यकता से अधिक न बढ़ी होती तो उर्दू कविता के नाम को चमका जाते। फ़ारसी और अरबी के प्रकाण्ड विद्वान् थे और भारत की कई भाषाओं पर भी उन्हें अधिकार प्राप्त था। यही नहीं, भाषा पर ऐसा अधिकार था कि देशज शब्दों में ही एक पूरी पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' लिख गये, जिसका हिन्दी तथा उर्दू दोनों मे ऐतिहासिक महत्त्व है। इस कहानी में संस्कृत, अरबी या फ़ारसी एक भी शब्द नहीं है। नयी-नयी तरह की चीज़ें लिखना उनका प्रिय कार्य था। इसी नवीनता के चक्कर में वे अक्सर काव्य नियमों की अवहेलना कर दिया करते थे, जो उनकी कमज़ोरी कही जायेगी। एक छोटा-सा दीवान ऐसा लिखा है, जिसमें फ़ारसी लिपि का कोई बिन्दी वाला अक्षर प्रयोग में नहीं आया है। कठिन से कठिन छंदों तथा तुकान्तों में उन्होंने ग़ज़लें लिखी हैं। इसी प्रकार अपने मित्र सआदत यार खाँ 'रंगीं' के आविष्कार रेख़्ती (स्त्रियों की बोलचाल की भाषा में कविता) को उन्होंने न केवल शौक़ से अपनाया बल्कि इतना विस्तार दिया कि कुछ लोग भ्रमवश रेख़्ती को 'इंशा' का ही आविष्कार समझने लगे। उर्दू के व्याकरण तथा काव्य शास्त्र पर उन्होंने 'दरियाए-लताफ़त' नामक एक ग्रंथ लिखा है, जो अपने समय का तद्विषयक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

इंशा के काव्य को उनकी अति विनोदी प्रवृत्ति ने बिगाड़ दिया। उनकी समस्त रचनाओं में प्रवाह और सरलता तथा ओज तो दिखाई देता है, किन्तु

गंभीरता बहुत कम मिलती है। कुछ ग़ज़लें उन्होंने गंभीरतापूर्वक कही हैं, किन्तु उनमें भी ठिठोलेपन के दौर आ गए हैं। हाँ, दरबार-दारी छूटने के बाद की रचनाएँ बेजोड़ हैं, विशेषतः यह ग़ज़ल जिसका मतला यह है—

> कमर बाँधे हुए चलने को याँ सब यार बैठे हैं
> बहुत आगे गये, बाक़ी हैं जो, तैयार बैठे हैं

'इंशा' की रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—(१) उर्दू का दीवान, (२) फ़ारसी का दीवान, (३) उर्दू के क़सीदे, (४) फ़ारसी के क़सीदे, (५) दो फ़ारसी की मसनविया जिनमें से एक बिन्दुहीन अक्षरों में लिखी गयी है और दूसरी 'शीर बिरंज' जिसमें सूफ़ी अध्यात्मवाद का मज़ाक़ उड़ाया गया है, (७) एक अरबी मसनवी का 'मायतुल-अमल' के नाम से फ़ारसी में अनुवाद, (८) उर्दू की मसनवी 'शिकारनामा', (९) एक अन्य उर्दू मसनवी 'शिकायते-ज़माना', (१०) दो मनोरंजक उर्दू मसनविया जिनमें एक में मुर्गों की लड़ाई का वर्णन है और दूसरी में एक हाथी और हथिनी के विवाह का किस्सा है, (११) निन्दात्मक मसनविया जिनमें 'मुसहफ़ी' तथा दुकानदारों से लेकर गर्मी, बर्रों, खटमल, मच्छर, मक्खी आदि सभी को कोसा गया है, (१२) रानी केतकी की कहानी, (१३) दरियाए-लताफ़त, आदि।

'इंशा' की ग़ज़लों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

> जिगर की आग बुझे जिससे जल्द वह शैला
> लगा के बर्फ़ में साक़ी सुराहिए-मैं ला
> क़दम को हाथ लगाता हूँ उठ कहीं घर चल
> ख़ुदा के वास्ते इतने तो पाँव मत फैला
> गिरा जो हाथ से फ़रहाद के कहीं तेशा
> दुरूने-कोह से निकली सदाए-वावैला
> नज़ाकत उस गुले-रअना की देखियो 'इंशा'
> नसीमे-सुब्ह जो छू जाय रंग हो मैला

यह जो महंत बैठे हैं राधा के कुण्ड पर
अवतार बन के गिरते हैं परियों के झुण्ड पर
शिव के गले से पारवती जी लिपट गयीं
क्या ही बहार आज है ब्रह्मा के रुण्ड पर
राजा जी एक जोगी के चेले पे ग़श हैं आप
आशिक हुए हैं वाह अजब लुण्ड मुण्ड पर
'इंशा' ने सुन के किस्सए-फ़रहाद यूँ कहा
करता है इश्क़ चोट तो ऐसे ही मुण्ड पर

शेख क़लन्दर बख़्श 'जुरअत'—इनका असली नाम यहिया अमान था। देहलवी मशहूर हैं, किन्तु इनके पिता हाफ़िज़ अमान थे। इनके पूर्वज मुग़ल बादशाहों के दरबान हुआ करते थे और अकबर के समय उन लोगों ने 'अमान' की वंशानुगत उपाधि पायी थी। इनमें से राय अमान मुहम्मद शाह के ज़माने में थे और नादिर शाही कत्ले-आम के समय उसके सिपाहियों से मुकाबला करने के अपराध में गले में पटवा कस कर मार डाले गये थे। किन्तु 'जुरअत' लड़कपन में ही घर छोड़ कर बाहर निकल गये। पहले उन्होंने बरेली के नवाब हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ के पुत्र मुहब्बत ख़ाँ के यहाँ नौकरी की, फिर फ़ैज़ाबाद चले आये और फिर १८००ई० में लखनऊ आ गये, जहाँ वे मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के दरबार में पहुँच गये। अंत तक वे उसी सरकार में रहे और १८१० ई० में उनका देहांत हो गया। 'नासिख़' ने उनके मरने की तारीख़ कही है।

मियाँ 'जुरअत' अधिक पढ़े-लिखे न थे। वे अरबी नहीं जानते थे और काव्य शास्त्र की भी उन्हें अधिक जानकारी नहीं थी, फिर भी अपनी प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा की बदौलत कविता में नाम कर गये। कविता में वे जाफ़र अली 'हसरत' के शागिर्द थे, किन्तु उनके उस्ताद की कुछ अधिक ख्याति नहीं थी। 'इंशा' के साथ ही यह भी अपने हँसोड़पन और चुटकुलेबाज़ी के कारण अमीरों का खिलौना बने हुए थे। कभी अपने घर में न रहने पाते थे, रईस उन्हें हाथों हाथ लिये रहते थे।

'जुरअत' युवावस्था में अन्धे हो गये थे। कुछ लोगों का कहना है कि चेचक के कारण ऐसा हुआ था, किन्तु कुछ लोग दूसरा ही क़िस्सा बताते हैं।

कहते हैं कि एक अमीर के यहाँ यह बड़े ही प्रिय थे। केवल बाहरी बैठक में ही इनकी लच्छेदार बातों और चुटकुलों का रस नही लिया जाता था, बल्कि पर्दे डलवा कर घर की महिलाएँ भी इनकी बातें सुनती थी। लेकिन इन्हें शौक चर्राया कि महिलाओं को आँख भर कर देखें भी। इसलिए यह बहाना किया कि आँखें दुखने आयी है, फिर कह दिया कि आँखें फूट ही गयी। जब अंधे मशहूर हो गये तो घर में ही रहने लगे। लेकिन एक रोज अजब तरह भंडाफोड़ हुआ। इन्होंने एक नौकरानी से आफताबे (बडे टोंटीदार लोटे) में पानी माँगा। नौकरानी ने टालने के लिए कह दिया कि बीबी उसे जाजरूर (पाखाने) मे ले गयी हैं। इन्हें क्रोध आ गया, डाँट कर बोले, "पागल हुई है? सामने तो रखा है, देती क्यो नही?" नौकरानी ने यह घटना घरवालों को बतायी। गृह-स्वामी को इतना क्रोध आया कि उसने इनकी आँखें फोड़ ही दी। इस प्रकार अंधा बनकर धोखा देने का उन्हें आवश्यकता से अधिक दंड मिल गया।

'जुरअत' का काव्यसग्रह साधारण-सा है। एक दीवान है जिसमें ग़ज़लें, छिटपुट शेर, रुबाई, मुखम्मस तथा अन्य काव्यरूप है तथा एक फ़ालनामा (शकुन पत्रिका) और दो मरसिये भी है। इसके अलावा उनकी दो मसनवियाँ हैं—एक में बरसात की निन्दा है और दूसरी में ख्वाजा हसन तथा लखनऊ की एक वेश्या 'बख्शी' के प्रेम का वृत्तात है। दूसरी मसनवी का नाम 'हुस्नो इश्क' है।

'जुरअत' पूर्णतः उच्छृंखलतावादी कवि हैं। उन्होंने कसीदा या गंभीर काव्य-रचना नही की—दो मरसिये ज़रूर इस नियम के अपवाद हैं। वे स्पष्टत. ही वेश्याओ के साथ होने वाले प्रेमालापो के कवि थे और इसी लिहाज से उनकी कविता में प्रतिद्वद्वियो के साथ होने वाली नोकझोक के काफ़ी वर्णन मिलते हैं और शराब-कबाब की बातें भी खूब होती हैं। होने को यह विषय थोड़े बहुत अन्य कवियों के यहाँ भी हैं, किन्तु 'जुरअत' के काव्य में इनकी पराकाष्ठा दिखाई देती है और इसी विस्तार के कारण वे अक्सर अश्लीलता की सीमा छूने लगते है। मजे की बात यह है कि वे 'मीर' का अनुकरण करना चाहते हैं, किन्तु न तो वे 'मीर' की भाँति गभीर थे, न उनके जैसे विद्वान्, न उनकी

भांति कविता की पवित्रता में विश्वास करने वाले थे। इतना मनोबल भी न था कि 'मीर' की भांति अमीरों, रईसों की रुचि की उपेक्षा करके कविता संबंधी अपने मानदंड बनाते और उन्हें कायम रखते। वे तो अमीरों के हाथ के खिलौने बने हुए और उन्हीं के मनबहलाव के लिए हल्की-फुल्की चीजें लिखते थे। उनके अपने स्वभाव का भी यही तकाजा था। इसीलिए उनकी कविता में गंभीर तत्वों की तलाश करना बिलकुल बेकार है।

फिर भी यह कहना अन्याय होगा कि 'जुरअत' की कविता का सिरे से छ महत्व ही नहीं। उनकी कविता में गांभीर्य न सही और यह भी मान लिया कि उनके वर्णन का विषय कोठों की मजलिसें थी, लेकिन अगर इस दृष्टि से देखा जाय कि उन्होंने अपने विषय को सफलतापूर्वक निभाया है या नहीं तो में मानना पड़ेगा कि इस मामले में वे पूर्णतः सफल हुए थे। संयोग-शृंगार के से सजीव चित्रण 'जुरअत' ने किये हैं, वे 'दाग़' के अलावा और कहीं देखने को नहीं मिलते। बल्कि कहना चाहिए कि 'जुरअत' के शब्द-चित्रों के रंग दाग़' से ज्यादा शोख हैं—चाहे रेखाओं का सौष्ठव दाग से कहीं कम हो। फिर भी उनका वर्णन-सौन्दर्य 'दाग़' को छोड़कर किसी से घटकर भी नहीं ठहरता। भाषा का प्रवाह और शब्दों की गठन उन्हें ऊँचे दरजे का कवि सिद्ध करती है। उनके आरंभ काल में ही उनके एक मतले की, जो 'सौदा' की ग़ज़ल की जमीन पर लिखा गया था, स्वयं 'सौदा' ने प्रशंसा की थी। डा० रामबाबू सक्सेना ने 'जुरअत' की काफी भर्त्सना करते हुए और उन्हें द्वितीय कोटि का कवि ठहराते हुए भी यह स्वीकार किया है कि "जुरअत अपने पद-प्रवाह, सरलता और माधुर्य में प्रसिद्ध हैं।" भाषा के विकास में उनकी वही देन है जो 'इंशा' की, यानी बहुत-से पुराने शब्द छोड़ कर उन्होंने भाषा को परिमार्जित किया है। बल्कि 'इंशा' के विपरीत 'जुरअत' ने काव्य नियमों का भी ध्यान रखा है। 'जुरअत' की नमूने की ग़ज़लें निम्नलिखित हैं —

लग जा गले से, ताब अब ऐ नाज़नीं नहीं
है है, ख़ुदा के वास्ते मत कर 'नहीं, नहीं'
उस बिन जहान कुछ नज़र आता है और हीं
गोया वो आसमान नहीं वह ज़मीं नहीं

क्या जाने क्या वो उसमें है लोटे है जिस पे दिल
यूँ और क्या जहान में कोई हसीं नहीं
फ़ुरसत जो पाके कहिए कभू दर्दे-दिल सो हाय
वह बदगुमां कहे है कि हमको यक़ीं नहीं
हैरत है मुझको क्योंकि वो 'जुरअत' है चैन से
जिस बिन करार जी को हमारे कहीं नहीं

इस ढब से किया कीजे मुलाकात कहीं और
दिन को तो मिलो हमसे रहो रात कहीं और
घर उसको बुला नज्र किया दिल तो वो 'जुरअत'
बोला कि ये बस कीजे मुदारात कहीं और

जब ये सुनते हैं कि हमसाया है आप आये हुए
क्या दरो बाम पे हम फिरते हैं घबराये हुए

सआदत यार ख़ाँ 'रंगी'—यह भी 'इंशा' के रंग में कहने वाले एक शायर हुए हैं, जिनका इतिहास में स्थान इनके नये आविष्कार रेख़्ती (स्त्रियों की बोलचाल की भाषा) में कविता के आधार पर बना है। रेख़्ती को बाद में लोगों ने और सँभाला, किन्तु 'रंगी' ने इसमें कामुकता प्रदर्शन के अलावा और कुछ नहीं किया। यह तहमास्प बेग ख़ाँ तूरानी के पुत्र थे। तहमास्प बेग नादिर शाह के साथ आये थे और दिल्ली में बस गये थे। उन्हें हफ़्त हजारी का मनसब तथा 'मुहकमुद्दौला' की उपाधि भी मिली थी। 'रंगी' चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही काव्य रचना करने लगे थे। शाह हातिम के शागिर्द थे। पहले 'मीर' के पास शागिर्दी के लिए गये थे, लेकिन उन्होंने टका-सा जवाब दे दिया। हातिम के मरने के बाद उनके शिष्य 'निगार' से काव्य संशोधन कराने लगे। पहले ये लखनऊ में मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह की सरकार में नौकर हुए। फिर कुछ दिनों तक वे निज़ाम के तोपख़ाने में अफ़सर रहे थे। इसके बाद स्वतन्त्र रूप से घोड़ों का व्यापार करने लगे। वे बहुत अच्छे घुड़सवार

दि और नृत्य-कला में पारंगत। उन्होंने देशाटन बहुत किया था और रंगीन मिज़ाज आदमी थे। वे मिलनसार और हँसमुख व्यक्ति थे। इनकी मृत्यु हिजरी के हिसाब से ८० वर्ष और ईसवी के हिसाब से ७७ वर्ष की अवस्था में १२५० हि० (१८३४ ई०) में हुई।

रेख्ती-जैसी चीज अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के पर्दे में जकड़े हुए उत्तर भारतीय सभ्य मुस्लिम समाज के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिल सकती। सामाजिक विलगता के कारण यहाँ स्त्रियों और पुरुषों की भाषा में काफी अंतर हो गया। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस पतनोन्मुख सामंती व्यवस्था में स्त्री-पुरुष सभी का ध्यान कामुकता तथा मनोरंजन पर ही केंद्रित था, इसीलिए मियाँ 'रंगीं' की नयी ईजाद को हाथोंहाथ लिया गया और बाद में भी कुछ दिनों तक रेख्ती की परम्परा चली।

'रंगीं' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) एक जिल्द 'नौरतन' में चार दीवान जिसमें एक रेख्ती का दीवान है, (२) मसनवी 'दिलपिज़ीर', मसनवी 'ईजादे-रंगीं', मसनवी 'मजहरुल-अजायब' तथा अन्य छोटी-छोटी मसनवियाँ। 'दिल पिज़ीर' में लगभग दो हज़ार शेर हैं और यह एक प्रेम कथा है, अन्य मसनवियों में छोटे-छोटे किस्से और चुटकुले हैं। (३) कुछ कसीदे, (४) 'मजलिसे-रंगीं', इसमें अपने समकालीन कवियों की आलोचना है, (५) 'फ़स्स नामा' इसमें घोड़ों की पहचान और उनके रोगों की चिकित्सा आदि का वर्णन है।

'मुसहफ़ी', 'इंशा' और 'जुरअत' के समय में लखनवी कविता शैली की दागबेल पड़ चुकी थी। इस काल के कवि भी 'मीर', 'सौदा' आदि की भाँति दिल्ली से आये थे, किन्तु उनका दिल्ली का आवास उनके नवयौवन काल में ही था। दूसरी बात यह है कि उनके समय में दिल्ली में कोई ऐसा मारके का कवि नहीं था, जिसके अनुसरण या प्रभाव में ये लोग अपनी शैली पर दिल्ली की छाप लिये होते। लखनऊ में तत्कालीन राग-रंग के वातावरण में इन कवियों को एक नयी उल्लासवादी, गंभीरताहित शैली का निर्माण करना पड़ा। इनके बाद आने वाले कवि भी 'मीर' और 'सौदा' की परम्परा को न अपना सके। उच्छृंखल प्रेम की उल्लासवादी परम्परा में इतना दम नहीं

था कि नये कवि भी अपनी प्रतिभा के प्रकाशन की गुंजाइश उसमें देखें।
इसीलिए उन्होंने कविता में विषय की अपेक्षा उसके कहने के ढंग, शब्दों के
गठन, भाषा की साज-सँवार और अलंकारों के प्रयोग में अधिक से अधिक
शक्ति लगायी। तत्कालीन लखनवी वातावरण के प्रभाव से नख-शिख वर्णन
आदि भी होने लगे, यहां तक कि कुछ अश्लील तत्व भी कविता में आ गये और
कविता में ऐसे स्पष्ट संकेत मिलने लगे कि कविता में वर्णित प्रियतमाएं
हाट में बैठने वाली सुन्दरियाँ हैं। इस काल के दो प्रमुख कवि लखनऊ
दिखाई देते हैं जिनकी अपनी-अपनी शैली में भी काफ़ी अंतर है और जिन्होंने
अपने-अपने क्षेत्र में कविता को बड़ी देनें दी हैं। ये महाकवि 'नासिख़' और
'आतश' हैं।

शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़'—उर्दू भाषा की साज-सँवार तो प्रत्येक कवि
ने अपने जमाने में कुछ न कुछ की है, किन्तु 'नासिख़' की इस बारे में जो देन
उससे उर्दू संसार कभी उऋण नहीं हो सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने
बुजुर्गों की परम्परा छोड़कर उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों और शब्द-विन्यास
की बहुतायत कर दी और परिष्कार के नाम पर हिन्दी के बहुत से मधुर शब्द
भी वर्जित कर दिये, किन्तु फ़ारसी का निचोड़ लेकर उन्होंने उर्दू को ऐसा
साली बना दिया कि वह ऊँचे से ऊँचे विषयों के प्रतिपादन के योग्य हो गयी
और उसमें आगे के लिए बड़ी गुंजाइशें पैदा हो गयीं।

शेख़ इमाम बख़्श के पिता का नाम नहीं मालूम हो सका है। मालूम हुआ
है कि वे कोई छोटे-मोटे व्यापारी थे और व्यापार के लिए ही लाहौर से अ
आये थे। शेख़ इमाम बख़्श का जन्म फ़ैज़ाबाद में हुआ। बचपन में ही ख़ु
बख़्श नामक एक धनवान् ख़ेमा-दोज़ (डेरा सीनेवाले) ने इन्हें गोद ले लि
क्योंकि उसके कोई औलाद नहीं थी। ख़ुदा बख़्श के मरने के बाद उसके भा
ने उत्तराधिकार का दावा किया। शेख़ इमाम बख़्श ने अपने चचा से कहा
मुझे धन-दौलत की चाह नहीं है, जैसे उनको (ख़ुदा बख़्श को) अपना
समझता था, वैसे ही आपको समझता हूँ, सिर्फ़ मेरी मामूली जरूरतें आप
करते रहिए। चचा ने इस बात को स्वीकार तो कर लिया, लेकिन उसके
का खोट न गया। इमाम बख़्श उन दिनों ख़ून की ख़राबी के कारण सिर्फ़

की रोटी घी में चूर करके खाया करते थे। चचा ने एक दिन उसमें विष मिला दिया। इन्हें संदेह हो गया और रोटी कुत्ते को डाली तो कुत्ता मर गया। अब शेख इमाम बख्श ने उत्तराधिकार के लिए मुकदमा चलाया जो शाही अदालत तक पहुँचा और इसमें उनकी जीत हो गयी। उन्होंने कुछ रुबाइयों में इस घटना का उल्लेख किया है।

नवाब आसफ़ुद्दौला के समय में अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद से लखनऊ आ गयी तो शेख नासिख भी लखनऊ आकर टकसाल नामक मुहल्ले में बस गये। इन्होंने सारी उम्र किसी की नौकरी नहीं की। उत्तराधिकार में यथेष्ट धन मिला हुआ था, साहित्य-मर्मज्ञ अमीर उमरा भी अक्सर भेंटें दिया करते थे। विवाह किया ही नहीं था जो लड़की-बच्चों का झंझट होता। सारी आयु आर्थिक निश्चिन्तता के साथ कटी।

लेकिन इन्हें दो बार लखनऊ छोड़ने के लिए भी विवश होना पड़ा था। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय में उन्होंने इनकी कविता की प्रशंसा सुनकर इन्हें बुलाया और अपने मन्त्री मोतमिद्दौला आग़ामीर से कहा कि 'नासिख' दरबार में आकर क़सीदा सुनायें तो हम उन्हें मलिकुश्शुअरा (कवि सम्राट्) की उपाधि देंगे। 'नासिख' को मालूम हुआ तो बिगड़ कर बोले कि अँगरेज़ी सरकार उपाधि दे या युवराज मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह दिल्ली के बादशाह हो जायें तो उपाधि दें, नवाब की उपाधि लेकर मैं क्या करूँगा। नवाब की इस बात पर इन्हें लखनऊ छोड़ना पड़ा। यह इलाहाबाद में आकर रहे। इस अरसे में दो बार हैदराबाद से दीवान चन्दूलाल ने बुलाया, एक बार बारह हज़ार और दूसरी बार पन्द्रह हज़ार रुपये भेजे। लेकिन 'नासिख' लखनऊ के लिए तड़प रहे थे, वे हैदराबाद न गये।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के मरने पर 'नासिख' फिर लखनऊ आये। लेकिन अवध की सरकार के मुख्तार हकीम मेहदी से उनका बिगाड़ हो गया। इसका कारण यह था कि हकीम मेहदी नासिख के संरक्षक आग़ामीर के प्रतिद्वन्द्वी थे और इसीलिए 'नासिख' ने अपनी कविता में उन पर कुछ चोटें कर दी थीं और वह भी उस समय जब कुछ भ्रम के कारण हकीम मेहदी अस्थायी रूप से पदच्युत हो गये थे। कुछ ही दिनों बाद हकीम मेहदी बहाल हो गये और

'नासिख़' जान बचा कर भागे। पहले इलाहाबाद गये, फिर सोचा कि काशी में जाकर जम जायें। बनारस में उन्हें शायरों की गर्मी अखरी, इसलिए पटना चले गये। पटने में उनकी बड़ी क़द्र हुई, लेकिन वे यह कहकर वहाँ से भी चले आये कि यहाँ मेरी ज़बान ख़राब हो जायेगी। फिर इलाहाबाद में आये और दायरा अजमल में रहने लगे। इलाहाबाद में रहते हुए भी यह लखनऊ के लिए बेचैन रहते थे। अंत में १८३२ ई० में हकीम मेंहदी के मरने पर वे फिर लखनऊ में जा बसे। उनका देहान्त १८३८ ई० में लखनऊ में ही हुआ।

शेख़ 'नासिख़' की शिक्षा-दीक्षा लखनऊ में ही हुई थी। फ़ारसी की किताबें हाफ़िज़ वारिस अली लखनवी से पढ़ी थीं और फ़िरंगी महल के विद्वानों से भी विद्या लाभ किया था। अरबी का ज्ञान विद्वत्तापूर्ण तो न था, फिर भी अच्छा ख़ासा था। काव्य शास्त्र की पूरी जानकारी इन दोनों भाषाओं से प्राप्त की थी और कविता करते समय इन सिद्धांतों का बहुत ध्यान रखते थे।

कविता में शेख़ नासिख़ किसी के शिष्य नहीं हुए। एक बार 'मीर' के पास अपनी कुछ ग़ज़लें ले गये थे, लेकिन उन्होंने इन्हें शिष्य बनाने से इनकार कर दिया। यह इसके बाद किसी के पास शागिर्दी के लिए नहीं गये। ग़ज़लें कह कर रख लेते थे और कुछ-कुछ दिनों के बाद ख़ुद उसमें संशोधन करते रहते थे। आरंभ में किसी मुशायरे में ग़ज़ल न पढ़ी। मिर्ज़ा हाजी साहब के मकान पर होने वाले मुशायरों में, जिनमें 'जुरअत', 'इंशा' आदि आया करते थे, बराबर जाते रहते थे, लेकिन सुनाते कुछ नहीं थे। जब 'इंशा', 'जुरअत' आदि से मैदान साफ़ हो गया तो यह मैदान में उतरे। उस समय तक आत्मविश्वास भी हो चुका था। कुछ ही दिनों में इनकी कविता की धाक जम गयी। कुछ लोगों का कहना है कि कुछ समय तक शेख़ मुसहफ़ी से भी कविताओं में संशोधन कराया, लेकिन उनसे किसी शेर पर झगड़ा हो गया और यह उनके पास फिर न गये। कुछ दिनों तक 'तनहा' नामक एक कवि को भी कविताएँ दिखाते रहे।

'नासिख़' कविता के अखाड़े के पहलवान नहीं थे, वास्तविक जीवन में भी डंडपेल कसरती जवान थे। डील-डौल भी भारी-भरकम था। रंग काला होने

थे (इस मस्ती के कारण बीमार भी) ।
बदन तहमद पहने बैठे रहते थे । जाड़ों में
ुत सर्दी हुई तो लखनऊ की छींट का दुहरा
ाऊ कुछ नही पहनते थे । दिन में केवल एक
े, लेकिन रोज़ाना पक्की तौल से पाँच सेर की
रखवाते थे । एक-एक चीज़ सामने लायी जाती
। खाने के बाद खाली प्यालों-तश्तरियों से दो
ौसम में दो-तीन बार मौसमी फल ही खाने की
ी मात्रा भी खाने की तरह ही होती थी ।
अलावा हुक्कों का भी शौक था । एक कोठरी
पास में और हर मेहमान के लिए अलग हुक्का

ाफ़ी थी । 'मीर' की तरह बिगड़ैल तो नही थे,
ा भी नही जानते थे । अदब कायदे का बहुत
की बात करने वालों को आड़े हाथों ले लेते थे,
ारे में इनके कई किस्से मशहूर है । कभी-कभी
थे कि अपरिचित व्यक्ति उन्हे शिष्टाचार-विहीन

कहे जाते हैं, किन्तु इनमें से प्राप्त दो ही है ।
ं कुछ नही लिखे । एक [illegible] लिखी है
है । एक म [illegible] है ।
(

मे

नये से नये चित्र भी कम से कम आकार की दृष्टि से पूर्ण हैं (यद्यपि उनके आलोचकों ने इस बारे में उनकी थोड़ी बहुत आलोचना की है)।

किन्तु जहाँ तक भाव-पक्ष का सम्बन्ध है, 'नासिख़' से अधिक असफल महाकवि नहीं हुआ। उनके शेरों में न तो प्रवाह है और न वास्तविक काव्य-चेतना का उनके यहाँ अभाव दिखाई देता है। वे आध्यात्मिक प्रवृत्ति के न थे, सूफ़ीवादी प्रतीक उनके यहाँ मिलते नहीं। शाब्दिक संकेत उनके वही लखनवी की अंगिया-चोली के हैं, लेकिन प्रभाव का इतना अभाव है कि शेर पढ़कर कामुकता की भावना भी नहीं उमड़ती। शाब्दिक खिलवाड़ के कारण उनके शेर कभी-कभी नीरस ही नहीं, निरर्थक भी हो जाते हैं। [... का तत्त्व उनके यहाँ नाम को भी नहीं है। किसी प्रकार का गंभीर अर्थ ... गांभीर्यहीन भाव उनके यहाँ नहीं है। संक्षेप में कहा जाय तो उनकी कविता का कलेवर तो बड़ा सुंदर है, लेकिन उसमें प्राणों की कमी ही नहीं, अभाव है। कठिन शब्दावली ने उनके काव्य-दोषों को और भी बढ़ा दिया है।

'नासिख़' के प्रमुख शिष्य यह हैं—मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ा ख़ाँ 'बर्क़' ... नवाब वाजिद अली शाह के मुसाहिब थे और नज़रबन्दी के समय में भी ... साथ कलकत्ता में रहे थे, शेख़ इमदाद अली 'बहर' जो अन्त समय ... के दरबार में चले गये थे, ख़्वाजा मुहम्मद वज़ीर 'वज़ीर' जो सूफ़ी ... पन में से थे और 'नासिख़' के सबसे प्रसिद्ध और प्रिय शिष्य थे; मीर ... औसत 'रश्क' जो 'नासिख़' कहने और शब्दों और मुहावरों की ... के लिए प्रसिद्ध थे, मिर्ज़ा हातिम अली 'मेह्र' जिनको 'ग़ालिब' ने कई ... पत्र लिखे हैं, सय्यद इस्माईल हुसैन 'मुनीर' शिकोहाबादी जो अपने ... समय में रामपुर के दरबार के पाँच रत्नों में गिने जाते थे और आगा ... 'शाइर' जिन्होंने कविता के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी लिखा है।

शेख़ 'नासिख़' की रचना के नमूने निम्नलिखित शेरों से मिल सकेंगे—

> खींच दिल को जो लगे आईना पैदा हो
> सरमा छोटे को जो पहुँचे तो नशा पैदा हो
> जिस जगह ख़ाक में मिल मिल के हसीनों पर मैं
> उस पर बैठें कोई चिड़िया, हुमा पैदा हो

अश्क थम जाये जो फुर्कत में तो आहें निकलें
खुश्क हो जाय जो पानी तो हवा पैदा हो
बोसा मांगा जो दहन का तो वो क्या कहने लगे
तू भी मानिन्दे-दहन अब कहीं ना पैदा हो
क्या मुबारक है मेरा दस्ते-जुनूं ऐ 'नासिख़'
बैज़ए-बूम भी टूटे तो हुमा पैदा हो

खाक में मिल जाइए ऐसा अखाड़ा चाहिए
लड़के कुश्ती देवे-हस्ती को पछाड़ा चाहिए
और तख़्तों की हमारी क़ब्र में हाजत नहीं
खानए-महबूब का कोई किवाड़ा चाहिए
इन्तहाए लागरी से जब नज़र आया न मैं
हँस के वह कहने लगे 'बिस्तर को झाड़ा चाहिए'

आँसुओं से हिज्र में बरसात रखिए साल भर
हमको गर्मी चाहिए हरगिज़ न जाड़ा चाहिए
जल्द रँग ऐ दीदए-खूँबार अब तारे-निगाह
है मुहर्रम, उस परी पैकर को नाड़ा चाहिए
लड़ते हैं परियों से कुश्ती, पहलवाने इश्क़ हैं
हमको 'नासिख़' राजा इन्दर का अखाड़ा चाहिए

ख्वाजा हैदर अली 'आतिश'—'आतिश' फ़ारसी शब्द है, जिसका अर्थ है 'अग्नि'। ख्वाजा हैदर अली भी आग ही थे और इस तख़ल्लुस के रखने का उन्हें पूरा अधिकार था। अग्नि जीवन और शक्ति की प्रतीक है। ढंग से उसका प्रयोग किया जाय तो मनुष्यों की शक्ति के मूल में अग्नि ही है, किन्तु गलत तरीके से उसे प्रयोग करने या उसके साथ बेजा छेड़-छाड़ करने से वह जीवन का अन्त भी तुरंत ही कर देती है। ख्वाजा हैदर अली 'आतिश' भी यही गुण लेकर पैदा हुए थे। फ़क़ीर आदमी थे, किसी के लेने में न देने में;

के पास आये । कहा कि 'लखनऊ जा रहा हूँ, आपको कुछ मँगवाना हो कोई काम हो तो कहिए।' यह बोले, "भई, वहाँ के ख़ुदा को हमारा भी म कह देना।" एकेश्वरवाद इस्लाम का मूल मन्त्र है। शागिर्द ने न होकर पूछा 'क्या वहाँ का ख़ुदा कोई और है?' यह बोले कि 'यहाँ का ा कंजूस है, वहाँ का शायद दानशील हो।' शागिर्द ने और हैरान होकर कहा 'आप कैसी बातें करते हैं?' यह बोले, "भई, अगर यहाँ-वहाँ का ख़ुदा एक है वहाँ जाने की क्या ज़रूरत है? जैसे यहाँ उससे माँगोगे, वैसे यहीं माँगो। वहाँ देगा वह यहीं देगा।" शागिर्द इतना प्रभावित हुआ कि घर आकर ासबाब खोल डाला और यात्रा का विचार छोड़ दिया।

'आतिश' ने ग़ज़लों के अलावा कुछ नहीं लिखा। क़सीदा या हजो न्दा पद्य) से उन्हें कोई सरोकार न था। ग़ज़लों के दो दीवान हैं। पहला य उन्होंने संगृहीत किया, दूसरा उनकी मृत्यु के बाद उनके प्रिय शिष्य ील ने इधर-उधर से ग़ज़लें इकट्ठी करके संगृहीत किया। 'आतिश' नी मस्ती में अक्सर मुशायरों के बाद ग़ज़लें वहीं दे आते थे और उनकी ई प्रति उनके पास न रहती थी। इन्हीं ग़ज़लों को बाद में इकट्ठा करके दूसरा ान बनाया गया। इसी चक्कर में उनकी बहुत-सी ग़ज़लें खो भी गयी।

'आतिश' की रचनाओं में 'नासिख़' की भाँति शब्द-व्यंजना का सौन्दर्य ी है। कभी-कभी वे मुहावरों और शब्दों के सम्बन्ध में भूल भी कर देते । उन्नीसवीं शताब्दी में यह कवि के लिए अक्षम्य अपराध था, ख़ासतौर पर ़नऊ में। फिर भी 'आतिश' की रचनाओं में कुछ ऐसी बात थी कि वे अपने ीवन काल में जितनी लोकप्रिय रहीं, उतनी ही अब भी हैं। इसका कारण है ़ उनमें सरलता, स्वाभाविकता, प्रभाव, संगीत और आध्यात्मिकता का त्यन्त सुंदर समन्वय है। ये बातें लखनवी शैली की दृष्टि से अनुकरणीय ीं हैं, फिर भी 'आतिश' ने जब इन्हें सामने ला ही दिया तो लोगों को इन्हें ान्यता देनी ही पड़ी। 'आतिश' के यहाँ वर्णन या चिन्तन के क्षेत्र में कल्पना ी ऊँची उड़ान नहीं दिखाई देती। हाँ, लखनवी शैली के मानदंडों के विप- ीत उन्होंने सूफ़ीवादी संकेतों और प्रतीकों को बहुत जगह दी है। यह स्वाभा- िक ही है क्योंकि वे स्वयं फ़क़ीर थे। उनकी चेतना एक ओर तो गीतोन्मुख

तो उसी तरह बोलूंगा जैसे तुम कहते हो, यहाँ उर्दू बोलने वाले जिस ढंग बोलते हैं वैसे ही मैं बोलूंगा।

शेख 'नासिख' के साथ इनके बड़े जोरदार मारके चलते थे। एक … तो खून-खराबी होते-होते बच गयी। एक नवाब साहब 'नासिख' के प्रशं… थे। उन्होंने चाहा कि एक मुशायरे में ही 'नासिख' की रचना को सर्वोत्कृ… मनवा कर उन्हें खिलअत (सम्मानसूचक वस्त्र) दें। डर सिर्फ़ 'आतिश' की रचना से था। 'आतिश' के पास सूचना उस समय भिजवायी गयी, जब मुशायरे का एक ही दिन रह गया था। यह बहुत बिगड़े और कहा कि अब हम लखनऊ नहीं रहेंगे, यह रहने की जगह नहीं रही। इसी क्रोध की दशा में उठ कर चले गये और एक सुनसान मसजिद में बैठ कर ग़ज़ल लिखी। मुशायरे के दिन बड़े कड़े तेवर लेकर पहुँचे और साथ में एक क़राबीन (पुराने ढंग की बंदूक) भी ले गये। बार-बार क़राबीन उठाते और रख देते। समय आने पर आयी तो गजल पढ़ी और गजल ऐसी कि हर शेर में 'नासिख' पर चोट। गज़ल का पहला मिसरा है —"सुन तो सही जहां में है तेरा फ़साना क्या।" नवाब साहब घबराये कि 'नासिख' को खिलअत दी तो 'आतिश' ज़रूर बंदूक चला देंगे। उन्होंने चुपचाप एक और खिलअत मँगायी और मुशायरे में ही दोनों उस्तादों को सम्मानित करके अपनी साहित्य-मर्मज्ञता और समझदारी का सबूत दिया।

इतनी जबर्दस्त प्रतिद्वंद्विता के बावजूद तबीयत की सफ़ाई का यह हाल था कि 'नासिख' के मरने पर खुद ही 'तारीख' (समयसूचक पद्य) कही और इसके बाद … करना छोड़ … थे कि "कहने का लुत्फ़ सुनने और सुनाने के … था, जब वह न रहा तो अब … शेर …

… संतोष के साथ जीना जिसे … है। इनके एक शागिर्द … जीविका का प्रश्न … , यही संतोष इनके … विदा लेने के लि…

रिन्द मशरिब हूँ मुझको क्या होवे
मज़हबों में जो इख़्तलाफ़ हुआ

सुन तो सही जहाँ में है तेरा फ़साना क्या
कहती है तुझको ख़ल्क़े-ख़ुदा ग़ायबाना क्या
उड़ता है शौक़े-राहते मंज़िल से अस्पे-उम्र
महमीज़ किसको कहते हैं और ताज़ियाना क्या
चारों तरफ़ से सूरते-जानाँ हो जल्वागर
दिल साफ़ हो तेरा तो है आईना-ख़ाना क्या
गर मुद्दई हसद से न दे दाद तो न दे
'आतिश' ग़ज़ल ये तूने लिखी आशिक़ाना क्या

दोस्त हो जब दुश्मने-जाँ हो तो क्या मालूम हो
आदमी को किस तरह अपनी क़ज़ा मालूम हो
आशिक़ों से पूछिए ख़ूबी लबे-जाँबख़्श की
जौहरी को क़द्रे-लाले - बेबहा मालूम हो
दाम में लाया है 'आतिश' सब्ज़ए-ख़त्ते-बुताँ
सच है क्या इंसा को क़िस्मत का लिखा मालूम हो

काम हिम्मत से जवाँमर्द अगर लेता है
साँप को मार के गंजीनए-ज़र लेता है
हिज्र में वस्ल का मिलता है मज़ा आशिक़ को
शौक़ का मरतबा जब हद से गुज़र लेता है
इज़्ज़ते-नाल-ओ-फ़रियाद न खो ऐ 'आतिश'
आशना कोई नहीं, कौन ख़बर लेता है

ण्डित दयाशंकर 'नसीम'—नसीम को उर्दू काव्य के इतिहास में उनकी
ी गुल्ज़ारे-नसीम ने अमर कर दिया है। इनका जन्म १८११ ई० में
।

है और दूसरी ओर स्वच्छ विचारों को अधिकाधिक आकर्षक रूप में देखे आग्रह करती है। शायद इसीलिए 'आतिश' के यहाँ सरलता का तत्त्व है, क्योंकि अर्थात्मक और शाब्दिक विलष्टता चाहे विद्वता की निशानी हो, अधिकतर दशाओं में गीतात्मकता और उसके आधार पर होने वाले प्र को हत्या कर देती है। सरलता और स्वाभाविकता उनके सीधे-सादे जि जीवन का ही काव्य में प्रतिबिंब है और हम कह सकते हैं कि उनके काव्य उनका व्यक्तित्व दिखाई देता है।

'आतिश' की भाषा और शब्दावली पर ज़रूर 'नासिख' द्वारा प्रतिपा मानदंडों का असर पड़ा है। वे अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक अर फ़ारसी-मय भाषा का प्रयोग करते हैं। साथ ही उनकी शब्द-व्यंजना चमत न होते हुए भी परिष्कृत है। किन्तु इन दोनों बातों में भी उन्होंने 'नासि की तरह अति नहीं कर दी है। संक्षेप में 'आतिश' की कविता आधुनिक के लिए लखनऊ काल की सबसे अधिक आकर्षक कविता है।

'आतिश' के शागिर्दों की संख्या बहुत अधिक है, जिनमें से 'खलील', 'नि 'सबा' और आगा हज्जू 'शरफ़' प्रसिद्ध हैं। नवाब सय्यद मुहम्मद खाँ 'रि नवाबी खान्दान के रत्न थे। इनके दो दीवान हैं। मीर दोस्त अली 'खली 'आतिश' के सबसे प्रिय शिष्य थे। ठेठ लखनवी रंग के कवि थे। मीर वज़ी अली 'सबा' भी लखनवी शैली के कवि थे। एक दीवान और एक मसन छोड़ी है। आगा हज्जू 'शरफ़' उर्दू के एक मात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने उर्दू कवि के इस्लामी कर्मकांड-विरोधी प्रतीकों—शराब, बुत, शेख़, जनेऊ आदि का पूर्ण बहिष्कार कर दिया। पं० दयाशंकर 'नसीम' भी 'आतिश' शिष्य थे। इनका उल्लेख आगे होगा।

'आतिश' की कविता के नमूने निम्नलिखित हैं—

हुस्न फिर रोज़ हमसे साफ़ हुआ
गुनहे इश्क़ कब मुआफ़ हुआ
फ़ातहे को जो यह परी आया
संगे-क़ब्र अपना कोहे-क़ाफ़ हुआ

प्रमुख ये हैं—'हुस्ने-अख्तर' जिसमें
। है, यह उनकी सबसे प्रसिद्ध मसनवी
ो सारी बेगमों का उनकी उपाधियों
। 'बानी', 'नाज़ो', 'दुल्हन', 'मसनवी
आदि। मसनवी दरफ़ने-मौसीकी में
।
ैं—'जिल्दे-मरासी' जिसमें पच्चीस
समें २२ मरसिये हैं और 'सरमायए-

ोदे जिनका संग्रह 'कसायदुल-मुबारक'

हिमा बैनुल नसमुलअक्ल' (मन और
(कुरानी स्तुति), 'नमायहे-अख्तरी'
रेम पत्र), 'रिसालए-ईमान', 'दफ्तरे-
ाजिदी', 'सौतुल-मुबारक', 'जौहरे-
हैं। उनकी कुल रचनाओं की संख्या
याँ भी अवधी भाषा में लिखी हैं जो
ज्ञान की दृष्टि से भी इन ठुमरियों का

— 'नासिख' के शागिर्दों मुज़फ्फर
थे। यह दोनों उनके मुसाहिब
और वे नवाब के प्रति बड़े वफ़ा-
ृ थे। असीर लखनऊ में ही रह
न 'बेवफ़ाई' का बड़ा अफसोस भी
रस' भी कविता करते थे।
प्रथम श्रेणी का कवि नहीं कहा
तो ज़रूर है, लेकिन लखनवी
और नखशिख तथा शृंगार प्रमा-

लखनऊ में एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का न
पण्डित गंगा प्रसाद कौल था। बचपन में तत्कालीन पद्धति के अनुस
अरबी और फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त की और तत्कालीन रुचि के अनु
काव्यालोकन और काव्य-सर्जन में आरंभ ही से रुचि रही। बीस वर्ष
अवस्था में ख्वाजा हैदर अली 'आतिश' के शागिर्द हो गये। कुछ ही दिनों
मीर हसन की प्रसिद्ध मसनवी सहरुल्-बयान की तरह की एक लम्बी मस
लिखकर उस्ताद के पास लाये। 'आतिश' ने इसे देखकर कहा कि इतनी ब
मसनवी कौन पढ़ेगा। चुनांचे 'नसीम' ने इसे छोटा कर दिया और वही सं
संस्करण वर्तमान गुल्ज़ारे-नसीम है।

'नसीम' ठिगने कद, छरहरे बदन और गेहुँए रंग के थे। तत्का
अवध नरेश अजमद अली शाह की सेना में वकील थे। उनकी बुद्धि अ
प्रखर थी और त्वरित वृद्धि भी अत्यधिक थी। धार्मिक पक्षपात से कोसों
थे और हँसने-हँसाने वाले आदमी थे। इनके बारे में एक किस्सा मशहू
जिससे इनके उक्त गुणों का पता चलता है। एक मुशायरे की सभा में
पाठ आरंभ होने के पहले इधर-उधर की बातचीत हो रही थी। 'ना
भी मौजूद थे। उन्होंने इन्हें छेड़ने के लिए कहा, "पण्डित जी! ए
में पहला मिसरा हो गया है, दूसरे में दिक़्क़त हो रही है।" इनके क
नासिख ने मिसरा सुनाया, "शेख ने मसजिद बना मिसमार बुतख़ाना कि
नासिख को आशा थी कि हिन्दू होने के नाते 'नसीम' इस पर कुछ कर
कर रह जायेंगे। लेकिन 'नसीम' ने फ़ौरन गिरह लगायी, "तब तो इ
भी थी, अब साफ़ वीराना किया।" इस प्रकार उक्त धार्मिक चोट
साहित्यिक परम्परा से सँभाल कर खत्म कर दिया। उपस्थित
प्रशंसा में टोपियाँ उछाल दीं, स्वयं 'नासिख' ने उनकी प्रतिभा की मु
प्रशंसा की।

'नसीम' का स्वर्गवास १८४३ ई० में केवल बत्तीस वर्ष की अवस्थ
... का कारण हैज़ा था। कीट्स और शेली की भाँति नसीम
ही अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन कर दिया। यदि उनकी
न होती तो मालूम नहीं वे उर्दू साहित्य को कितने अमूल्य

जानें। इस समय उनकी रचनाओं में मसनवी गुल्ज़ारे-नसीम और एक छोटा सा दीवान है जिसमें ग़ज़लों के अतिरिक्त तरजीबन्द, तरकीबबन्द आदि अन्य काव्य रूप भी हैं।

'नसीम' के बारे में चकबस्त का निम्नलिखित मत शत-प्रतिशत ठीक है—"गो यह 'आतिश' के शागिर्द थे, लेकिन 'आतिश' की गर्मीए-मुहब्बत इनके कलाम में नहीं पायी जाती। इनकी मुश्किल-पसन्द तबीयत ने 'नासिख़' का रंग पसन्द किया, मगर बावजूद तसन्नो (बनावट) के, जो इस रंग का खास जौहर है, 'नसीम' का कलाम बिलकुल बे-नमक नहीं। तबीयत में एक खुदा-दाद कैफियत है जो कलाम को मज़ेदार बना देती है।"

'नसीम' का यह ठेठ लखनवीपन उनकी मसनवी में खूब उभर कर आया है। मीर हसन की मसनवी अपनी सादा बयानी, साफ़ ज़बान और अपने प्रभाव के लिए प्रसिद्ध है। 'नसीम' की मसनवी में प्रभाव का उतना गुण नहीं है, लेकिन वर्णन-सौन्दर्य, शाब्दिक अनुरूपता और मुहावरों के उचित प्रयोग ने इसमें बहुत ताज़ापन और आकर्षण पैदा कर दिया है। शाब्दिक अनुरूपता में भी 'नसीम' की भाषा ने भावों की हत्या नहीं होने दी है। उनके कई समकालीन कवि शाब्दिक अनुरूपता के चक्कर में सारहीन बल्कि अर्थहीन शेर कहने लगते थे। 'नसीम' की काव्य-प्रतिभा ने कहीं ऐसा अनर्थ नहीं होने दिया है। चकबस्त का कहना है—"नसीम के अदाआर ज़बान की पाकीज़गी और तरकीबे-अल्फ़ाज़ की चुस्ती के लिहाज़ से तासीर का तिलिस्म बने हुए हैं।"

नीचे गुल्ज़ारे-नसीम के कुछ शेर दिये जाते हैं, जिनसे 'नसीम' की वर्णन-शैली का आभास मिल सकता है—

बोली वो सुनो तो बन्दा-परवर	गुल्ज़ारे-इरम है परियों का घर
इन्सानो परी का सामना क्या	मुट्ठी में हवा का थामना क्या
शहज़ादा हँसा, कहा कि दिलबर	कुछ बात नहीं जो रखिए दिल पर
इन्सान की अक्ल अगर न हो गुम	है चश्मे-परी में जाये-मर्दुम
यह कहके उठा, कहा कि लो जान	जाते हैं, कहा खुदा निगहबान
दौलत थी अगर्चे इख़्तियारी	पामर्दी से उसपे लात मारी

लखनऊ में एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम पण्डित गंगा प्रसाद कौल था। बचपन में तत्कालीन पद्धति के अनुसार अरबी और फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त की और तत्कालीन रुचि के अनुसार काव्यालोकन और काव्य-सर्जन में आरंभ ही से रुचि रही। बीस वर्ष की अवस्था में ख्वाजा हैदर अली 'आतिश' के शागिर्द हो गये। कुछ ही दिनों बाद मीर हसन की प्रसिद्ध मसनवी सहरूल-बयान की तरह की एक लम्बी मसनवी लिखकर उस्ताद के पास लाये। 'आतिश' ने इसे देखकर कहा कि इतनी लम्बी मसनवी कौन पढ़ेगा। चुनांचे 'नसीम' ने इसे छोटा कर दिया और वही संक्षिप्त सस्करण वर्तमान गुल्ज़ारे-नसीम है।

'नसीम' ठिगने कद, छरहरे बदन और गेहुँए रंग के थे। तत्कालीन अवध नरेश अजमद अली शाह की सेना में वकील थे। उनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी और त्वरित वृद्धि भी अत्यधिक थी। धार्मिक पक्षपात से कोसों दूर थे और हँसने-हँसाने वाले आदमी थे। इनके बारे में एक किस्सा मशहूर है जिससे इनके उक्त गुणों का पता चलता है। एक मुशायरे की सभा में काव्य पाठ आरंभ होने के पहले इधर-उधर की बातचीत हो रही थी। 'नासिख' भी मौजूद थे। उन्होंने इन्हें छेड़ने के लिए कहा, "पण्डित जी! एक शेर में पहला मिसरा हो गया है, दूसरे में दिक्कत हो रही है।" इनके कहने पर नासिख ने मिसरा सुनाया, "शैख ने मसजिद बना मिसमार बुतखाना किया।" नासिख को आशा थी कि हिन्दू होने के नाते 'नसीम' इस पर कुढ़ कर या झेंप कर रह जायेंगे। लेकिन 'नसीम' ने फ़ौरन गिरह लगायी, "तब तो इक सूरत भी थी, अब साफ वीराना किया।" इस प्रकार उक्त धार्मिक चोट को एक साहित्यिक परम्परा से सँभाल कर खतम कर दिया। उपस्थित जनों ने प्रशंसा में टोपियाँ उछाल दीं, स्वयं 'नासिख' ने उनकी प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

'नसीम' का स्वर्गवास १८४३ ई० में केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था में हो गया। मृत्यु का कारण हैज़ा था। कीट्स और शेली की भाँति नसीम ने भी अल्पायु में ही अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन कर दिया। यदि उनकी असामयिक मृत्यु न होती तो मालूम नहीं वे उर्दू साहित्य को कितने अमूल्य रत्न

जाते। इस समय उनकी रचनाओं में मसनवी गुल्ज़ारे-नसीम और एक छोटा सा दीवान है जिसमें ग़ज़लों के अतिरिक्त तरजीबन्द, तरकीबबन्द आदि अन्य काव्य रूप भी हैं।

'नसीम' के बारे में चकबस्त का निम्नलिखित मत शत-प्रतिशत ठीक है—"गो यह 'आतिश' के शागिर्द थे, लेकिन 'आतिश' की गर्मीए-सुखन इनके कलाम में नहीं पायी जाती। इनकी मुश्किल-पसन्द तबीयत ने 'नासिख़' का रंग पसन्द किया, मगर बावजूद तसन्नो (बनावट) के, जो इस रंग का खास जौहर है, 'नसीम' का कलाम बिलकुल बे-नमक नहीं। तबीयत में एक खुदादाद कैफियत है जो कलाम को मज़ेदार बना देती है।"

'नसीम' का यह ठेठ लखनवीपन उनकी मसनवी में खूब उभर कर आया है। मीर हसन की मसनवी अपनी सादा बयानी, साफ़ ज़बान और अपने प्रभाव के लिए प्रसिद्ध है। 'नसीम' की मसनवी में प्रभाव का उतना गुण नहीं है, लेकिन वर्णन-सौन्दर्य, शाब्दिक अनुरूपता और मुहावरों के उचित प्रयोग ने इसमें बहुत ताज़ापन और आकर्षण पैदा कर दिया है। शाब्दिक अनुरूपता में भी 'नसीम' की भाषा ने भावों की हत्या नहीं होने दी है। उनके कई समकालीन कवि शाब्दिक अनुरूपता के चक्कर में सारहीन बल्कि अर्थहीन शेर कहने लगते थे। 'नसीम' की काव्य-प्रतिभा ने कहीं ऐसा अनर्थ नहीं होने दिया है। चकबस्त का कहना है—"नसीम के अशआर ज़बान की पाकीज़गी और तरकीबे-अल्फ़ाज़ की चुस्ती के लिहाज़ से तासीर का तिलिस्म बने हुए हैं।"

नीचे गुल्ज़ारे-नसीम के कुछ शेर दिये जाते हैं, जिनसे 'नसीम' की वर्णन-शैली का आभास मिल सकता है—

बोली वो सुनो तो बन्दा-परवर गुल्ज़ारे-इरम है परियों का घर
इन्सानो परी का सामना क्या मुट्ठी में हवा का थामना क्या
शहज़ादा हँसा, कहा कि दिलबर कुछ बात नहीं जो रखिए दिल पर
इन्सान की अक़्ल अगर न हो गुम है चश्मे-परी में जाये-मर्दुम
यह कहके उठा, कहा कि लो जान जाते हैं, कहा खुदा निगहबान
दौलत थी अगर्चे इख़्तियारी पामर्दी से उसपे लात मारी

जुज़ जेब न मात पर पड़ा हाथ   जुज़ साया न कोई भी लिया हाथ
बुखेश था बन्दए ख़ुदा यह   अल्लाह के नाम पर चला य

वाजिद अली शाह 'अख्तर'—यह अवध के वही अंतिम नवाब थे, जिनकी विलासप्रियता और कला-प्रेम की कहानियाँ चारों ओर फैली हैं। यह १८४७ ई० में गद्दी पर बैठे। उनकी विलासप्रियता कह लीजिए या अंगरेज़ों के सामने विवशता समझ लीजिए, किन्तु यह ऐतिहासिक सत्य है कि उन्होंने अपने राजकाज की ओर से बिलकुल मुँह मोड़ लिया था और भोग-विलास और नाच-रंग में ऐसे फँस गये थे कि राज्य बरबाद हो गया। ख़ैर, इस समय हमें उनके व्यक्तिगत चरित्र से कुछ अधिक लेना-देना नहीं है। केवल यह बात उल्लेखनीय है कि 'अख्तर' की रुचि बहुमुखी थी। वे १८५६ ई० में रियासत ज़ब्त होने तक नौ साल ही गद्दी पर रहे। इसी अरसे में उन्होंने लखनऊ में कैसर बाग (जो दो करोड़ की लागत से बना था) और अनेक सुन्दर इमारतें बनवायी और एक चिड़िया घर भी बनवाया। संगीत और नाटक के वे बड़े प्रेमी थे और उन्होंने रहस ख़ाना नामक नाट्य गृह की भी स्थापना की थी और इसके नाटक 'इन्दर सभा' में वे स्वय राजा इन्दर का पार्ट लिया करते थे। कुछ आलोचक इस बात को नहीं मानते थे कि वे स्वयं नाटक खेलते थे। लखनऊ में वह 'जाने-आलम पिया' के नाम से मशहूर थे।

'अख्तर' को १८५६ ई० में लखनऊ से निर्वासित करके कलकत्ते के समीप मटियाबुर्ज में रखा गया। यहाँ भी उन्होंने छोटे पैमाने पर वही लखनऊ का राग-रंग शुरू कर दिये। उनके बहुत-से वफ़ादार मुसाहिबों ने लखनऊ के बजाय उनके साथ मटियाबुर्ज में ही रहना पसंद किया। कलकत्ते में भी उन्होंने एक चिड़िया घर बनवाया था।

कविता के क्षेत्र में भी उनकी रचनाएँ मात्रा के लिहाज़ से बहुत अधिक हैं। रचनाओं की सूची निम्नलिखित है—

(१) ग़ज़लों के छः दीवान 'शुआए-फ़ैज़', 'कमरे-मज़मून', 'सुखने-अशरफ़', 'गुलदस्तए-आशिकाँ', 'अख्तरे-मुल्क' और 'नज्मे-नामवर' के नाम से संगृहीत हैं।

(२) अनेक मसनवियाँ जिनमें प्रमुख ये हैं—'हुज़्ने-अख्तर' जिसमें अपने निर्वासन के कष्टों का वर्णन किया है, यह उनकी सबसे प्रसिद्ध मसनवी है। 'ख़िताबाने-महल्लात' जिसमें अपनी सारी बेगमों का उनकी उपाधियों और सन्तानों के साथ वर्णन किया है। 'बानी', 'नाजो', 'दुल्हन', 'मसनवी दरफ़ने मौसीक़ी', 'दरियाये-तअश्शुक़' आदि। मसनवी दरफ़ने-मौसीक़ी में संगीत कला की विवेचना की गयी है।

(३) मरसिये तीन खण्डों में हैं—'जिल्दे-मरासी' जिसमें पच्चीस मरसिये हैं, 'दफ्तरे-ग़मो-दफ़्ते-अलम' जिसमें २२ मरसिये हैं और 'सरमायए-ईमान' जिसमें २३ मरसिये हैं।

(४) उर्दू और फ़ारसी में कई क़सीदे जिनका संग्रह 'क़सायदुल-मुबारक' के नाम से किया गया है।

(५) अन्य रचनाएँ जिनमें 'मुबाहिसा बैनुल नफ़्सुलअक़्ल' (मन और बुद्धि की बहस), 'सहीफ़ए-सुल्तानी' (क़ुरानी स्तुति), 'नसायहे-अख्तरी' (अख्तर के उपदेश), 'इश्क़ नामा' (प्रेम पत्र), 'रिसालए-ईमान', 'दस्तूरे-परीशां', 'मसतले-मोनविर', 'दस्तूरे-वाजिदी', 'सौतुल-मुबारक', 'जौहरे-उरूज़', 'इरशादे-ख़ाक़ानी' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी कुल रचनाओं की संख्या लगभग चालीस है। उन्होंने कुछ ठुमरियाँ भी अवधी भाषा में लिखी हैं जो उनके काल में बड़ी प्रिय हुईं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी इन ठुमरियों का बहुत महत्व है।

'अख्तर' अपनी कविता का संशोधन 'नासिख़' के शागिर्दों मुबारक अली 'अमीर' और फ़तेहुद्दौला 'बर्क़' से करवाते थे। यह दोनों उनके मुसाहिब भी थे। 'बर्क़' का प्रशासन में भी बड़ा हाथ था और वे नवाब के प्रति बड़े वफ़ादार थे और मटियाबुर्ज में भी उनके साथ रहे थे। अमीर लखनऊ में ही रह गये थे और वाजिद अली शाह को उनकी इस 'बेवफ़ाई' का बड़ा अफ़सोस भी था। नवाब के पुत्र 'कौकब' और 'फ़िरदौस' भी कविता करते थे।

अख्तर ने कविता बहुत की, लेकिन उन्हें प्रथम श्रेणी का कवि नहीं कहा जा सकता। उनकी ग़ज़लों में कुछ ख़ूबियाँ तो ज़रूर है, लेकिन लखनवी शैली के समस्त दुर्गुण—शाब्दिक अलंकरण और नारीत्व तथा शृंगार प्रधा-

घनों का वर्णन आदि—पूरी तरह से मौजूद हैं। साथ ही भावो में गहराई या मौलिकता भी बहुत कम मिलती है, मरसिये तक यूँ ही से हैं। हाँ 'हुस्ने-अख्तर' नामक मसनवी जरूर उन्होंने दिल पर चोट खाकर लिखी थी, इसलिए उसमें प्रभावोत्पादकता गज़ब की है, यद्यपि यह भी सही है कि वे 'ज़फर' की भाँति अपने दर्द को ज़माने का दर्द बनाने में सफल बिलकुल नहीं हुए। फिर भी उनके शेरों की करुणा वास्तविक है और उसका प्रभाव सहृदय पाठको पर पड़ता ही है। भाषा उनकी साधारणत. साफ़-सुथरी है, यद्यपि कहीं-कहीं भूलें कर जाते हैं।

उन्होंने कलकत्ते से अनेक पत्र अपनी प्यारी बेगम ज़ीनत महल के नाम लिखे थे जो उनके साथ न जा सकी थी और लखनऊ में ही रह गयी थी। ज़ीनत महल की उपाधियाँ 'अकलैले-महल' (अत.पुर की मुकुट) और 'मुमताज़े-जहाँ' (ससार में प्रतिष्ठित) थी। इन पत्रो का सग्रह नवाब की आज्ञा से उनके एक मुशी अकबर अली खाँ 'तौकीर' ने किया है और इनकी पुराने ढग की सानुप्रास लच्छेदार भाषा में भूमिका भी लिखी है। बादशाह ने अपनी प्रिय रानी के विछोह में अपनी सात्वना के लिए इन पत्रो का सग्रह कराया था। इसका सम्पादन काल १८८६ ई० है। इन पत्रों में वाजिद अली शाह ने अपनी विरहवेदना का उद्गार मर्मभेदी ढग से किया है और फिर राजधानी में आकर सिंहासनारूढ़ होने की हार्दिक अभिलाषा प्रकट की है।

'अख्तर' की कविता के नमूने के तौर पर मसनवी 'हुस्ने-अख्तर' के कुछ शेर नीचे दिये जाते हैं—

दुआ के लिए हाथ उठाता हूँ मैं	दुरे अश्क रोकर बहाता हूँ मैं
मेरी आबरू रख खुदाए करीम	बहुत अपने बन्दों पे है तू रहीम
इलाही रहें शाद याराने-हिन्द	फिर आबाद होवें जवानाने-हिन्द
रिहाई तेरी हो तू है बेगुनाह	ये दर गुज़रा इससे नहीं बादशाह
इवज बादशाही का गर जान है	तो बन्दा भी खायफ हर इक आन है
फ़क़त नामे-शाही से हूँ मैं खराब	करूँ मैं कहाँ क़ैद कैसा अज़ाब
उठाता हूँ फ़ुरक़त नहीं है यकीं	करूँ किससे फरियाद मैं दिल हज़ीं
दिले-ज़ार होंठो पे आ आ गया	मैं घबरा गया सख्त घबरा गया

ाही मुझे क़ैद से दे नजात   निकलती नहीं ग़म से अब मुँह से बात
। अब अल-हज़र-अलहज़र ऐ ख़ुदा   कर इस 'अख़्तरे'-ज़ार को तू रिहा

सय्यद आग़ा हसन 'अमानत'—अमानत उर्दू के प्रथम नाटककार हैं। ा जन्म १८१५ ई० में लखनऊ में हुआ था। आरंभ में यह केवल मरसिये हते थे और 'दिलगीर' के शिष्य थे। बाद में इन्होंने ग़ज़लें भी लिखना आरंभ दिया, किन्तु चूँकि 'दिलगीर' ने ग़ज़लों का संशोधन करने से इनकार दिया था, इसलिए वे अपनी ग़ज़लों का संशोधन स्वयं ही करने लगे। ३५ ई० में यह गूंगे हो गये थे और नौ वर्ष तक ऐसी ही अवस्था में रहे। के बाद यह करबला की यात्रा पर गये, जहाँ कहा जाता है इनकी वाणी फिर पड़ी। १८५८ ई० में ४३ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गयी।

कवि की हैसियत से 'अमानत' का कोई बहुत ऊँचा स्थान नहीं है, किन्तु की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी रचनाओं में कुछ मरसिये, ग़ज़लों का वान 'ख़ज़ायनुल-फ़साहत' और स्फुट पद्यों का एक संग्रह 'गुलदस्तए अमानत' नाम आता है। किन्तु अमानत को सबसे अधिक प्रसिद्धि देनेवाला उनका द नाटक 'इन्दर सभा' है, जो उर्दू का पहला नाटक है। पहले ख़्याल था कि ह नाटक वाजिद अली शाह की आज्ञा से 'अमानत' ने लिखा। किन्तु सय्यद मसऊद हसन रिज़वी इस बात को नहीं मानते। बहर हाल 'इन्दर सभा' अपने ज़माने में इतनी प्रसिद्ध हुई कि नाटक को 'इन्दर सभा' ही कहा जाने लगा। ई लोगों ने इसकी देखा-देखी 'इन्दर सभाएँ' लिखीं और कई नाटक मण्डलियाँ केवल 'इन्दर सभा' खेलने के ही लिए स्थापित हो गयीं। इस नाटक के सैकड़ों संस्करण निकले। नागरी और गुजराती लिपि में भी इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। इंडिया ऑफिस के पुस्तकालय में इसके ४० संस्करण हैं। ब्लूमहार्ट ने ऐसे ५० संस्करणों का उल्लेख किया है, जो [illegible] में हो भारत, जर्मनी और फ्रांस में प्रकाशित हुए थे। इसका नमूना यह है—

गुलफ़ाम—साथ अपने मुझे ले चल कहीं [illegible] दिखला
राजा इन्दर के अखाड़े का तमाशा दिखला

परी— ऐसी बातों का जबाँ पर नहीं लाना अच्छा
जान आफ़त में नहीं मुफ़्त फँसाना अच्छा

गुलफ़ाम—याँ न ले जायेगी तो जी से गुज़र जाऊँगा
मैं अभी अपना गला काट के मर जाऊँगा

परी— थक गये होंठ, कहाँ तक इसे समझाऊँ मैं
चल अखाड़ा तुझे इन्दर का दिखा लाऊँ मैं

'इन्दर सभा' के अलावा 'अमानत' को उनकी वासोख्त ने भी बहुत प्रसिद्ध किया है। वासोख्त ऐसी भावनाओं के उद्‌गार को कहते हैं, जिनमें प्रेमी की प्रेमिका के प्रति खीझ प्रकट होती है। उर्दू में 'मीर' को वासोख्त का जन्मदाता कहा जाता है, किन्तु इस काव्यरूप की उन्नति लखनऊ में ही हुई और लखनवी शैली के साथ ही इस काव्यरूप का भी अंत हो गया। विषय-बाहुल्य और वर्णन की सजीवता की दृष्टि से 'अमानत' की वासोख्त सर्वोत्कृष्ट है।

मिर्ज़ा 'शौक़'—लखनवी काव्य का उल्लेख करते समय 'शौक़' की मसनवियों 'ज़हरे-इश्क', 'फ़रेबे-इश्क' आदि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अश्लीलता के नाम पर इनकी काफ़ी भर्त्सना की गयी है और बहुत दिनों तक इनका प्रकाशन अवैध भी रहा है, तथापि साहित्यिक दृष्टि से इनका काफ़ी मूल्य है। इनमें भले ही कामुक जीवन का चित्रण हो, किन्तु भावों की तीव्रता और भाषा की सरलता और प्रवाह इन मसनवियों में देखते ही बनते हैं। इनमें तत्कालीन लखनऊ के विलासी जीवन का सच्चा चित्रण है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन मसनवियों का वही महत्त्व है जो पण्डित रतननाथ 'सरशार' के प्रसिद्ध उपन्यास 'फ़सानए-आज़ाद' का है। उर्दू में यथार्थवादी वर्णन इन मसनवियों से पहले कहीं नहीं दिखाई देती।

: ५ :

उर्दू गद्य का आरम्भ और स्थापना

उर्दू कविता की भाँति उर्दू गद्य के भी सबसे पुराने नमूने हमें दक्षिण में ही मिलते हैं। कहने की जरूरत नही कि इस प्राचीन गद्य में दक्खिनीपन बहुत है। साथ ही इस गद्य का साहित्यिक मूल्य कुछ नही है। अधिकतर ये पुस्तकें धार्मिक भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं। कहा जाता है कि उर्दू गद्य की सबसे पहली पुस्तकें सूफ़ी सत शेख ऐनुद्दीन गजुलइल्म ने लिखी थी, जो अब अप्राप्य हैं। शेख साहब का देहात ७९५ हि० (१३९३ ई०) में हुआ था। अतएव ये पुस्तकें चौदहवीं शताब्दी में ही लिखी गयी होगी।

उर्दू गद्य की प्राचीनतम पुस्तक प्रख्यात सूफ़ी सत ख्वाजा सय्यद मुहम्मद गेसूदराज की 'मेराजुलआशिकीन' है। ख्वाजा साहब का देहात ८३५ हि० (१४३२ ई०) में हुआ था। इसकी भाषा का नमूना यह है—

"एक बादशाह की ताज़ीम एक अमीर कूँ बडी करता है तो अव्वल जा-ब-जा आरायश करता है।

सो मुहम्मद को पाच तन संवार का सात ईमान के ऊपर लाये।"

सय्यद गेसूदराज के नवासे सय्यद मुहम्मद अब्दुल्ला अल-हुसैनी ने ईरान के सूफ़ी सत अब्दुल्कादिर जीलानी की पुस्तक 'निशातुल-इश्क़' का दक्षिणी भाषा में अनुवाद किया था और उसका भाष्य भी लिखा। एक अन्य सत सय्यद शाह मीराजी (देहात १४९७ ई०) की कई गद्य पुस्तकें 'जल तरंग', 'गुलबास', 'शाहेमरग़ूबुल-क़ुलूब' आदि हैं, जिनमें सूफ़ी मत के सिद्धातो की व्याख्या की गयी है।

प्राचीनकाल की सर्वप्रथम साहित्यिक गद्य कृति मुल्ला वजही की 'सब रस' (रचनाकाल १६३६ ई०) है। इसकी शैली अनुप्रास-युक्त है और भाषा दक्षिणी। सूफ़ी सिद्धांतों को एक कहानी के रूपक में दिया गया है। इसकी भाषा का नमूना यह है—"अक़्ल बग़ैर दिल कूँ नूर नही, अक्ल कूँ खुदा बग़ैर भी कुछ दूर नही। जात ते सिफात है, जात ते जो कुछ निकल्या सो बेजात है। जूँ रख़ता होर उसका नूर। अगर रख़ता बपजा न ना अछे तो नूर क्यों होवे मशहूर।"

१६६८ ई० के लगभग एक सूफी सत मीराँ याकूब ने 'शुभायल-उल-अतकिया व दलायल-उल-अतकिया' नामक फारसी ग्रंथ का अनुवाद दक्षिणी भाषा में किया था। औरंगज़ेब के काल मे रायचूर के एक धार्मिक बुज़ुर्ग सन्त शाह मुहम्मद कादरी ने कई धार्मिक पुस्तिकाएँ लिखी। एक अन्य सत सन्त शाह मीर ने 'असरारुल-तौहीद' नामक एक पुस्तिका लिखी, जो अद्वैत सम्बन्धी पुस्तक है।

प्राचीन काल की सबसे प्रसिद्ध गद्यकृति फ़ज़ली की 'दह मजलिस' है जिसका रचनाकाल १७३३ ई० है। यह पुस्तक पहले मसनवी के रूप में 'करी' ने लिखी थी, जिसे फ़ज़ली ने गद्य रूप दिया। इसकी भाषा का नमूना यह है—"फिर दिल में गुजरा कि इस काम को अक्ल चाहिए कामिल और मदद ग़ैब तरफ की होए शामिल क्योंकि बेताइंदे-समदी और बे मददे-जनाबे-अहमदी यह मुश्किल सूरत पिज़ीर न होए और गौहरे-मुराद रिश्तए उम्मीद में न आवे।"

१७९८ ई० में मीर मुहम्मद अता हुसैन खाँ 'तहसीन' ने फारसी के 'किस्स-चहार-दुरवेश' का अनुवाद फारसी से उर्दू में किया और उसका नाम 'नौ तर्ज़ मुरस्सा' रखा। 'तहसीन' ने फ़ारसी में भी पुस्तकें लिखीं। वे पहले जेनरल स्मिथ के मीरमुंशी थे। फिर कुछ दिनों पटना में वकालत करने के बाद फ़ैज़ाबाद नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में नौकर हो गये। यहीं उन्होंने उक्त पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की शैली बड़ी अलंकार-युक्त और बोझिल है। बाद में डा० गिल्क्रिस्ट ने मीर अम्मन से इसका सरल अनुवाद 'बाग़ो-बहार' के नाम से कराया, जिसका उल्लेख आगे होगा।

फोर्ट विलियम कालेज

उर्दू में (बल्कि हिन्दी में भी) गद्यलेखन का व्यवस्थित कार्य सबसे पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी के कलकत्ता स्थित फ़ोर्ट विलियम कालेज में हुआ। कम्पनी को भारत में अपने अधिकार के विस्तार के साथ ही इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि कर्मचारियों को इस देश की भाषाएँ सिखायी जायें। लार्ड वेलेज़ली के प्रयत्नों से १८०० ई० में इस कालेज की स्थापना हुई। इसमें अँगरेज कर्मचारियों को देशी भाषाएँ सिखाने के साथ ही उर्दू और हिन्दी के गद्य-साहित्य के निर्माण का भी प्रबंध किया गया, जिससे कि नवशिक्षितों को भाषा पर अधिकार हो जाय। यद्यपि कालेज के प्रोफ़ेसर अँगरेज़ ही होते थे और किसी गैर-ईसाई को कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं दिया जाता था, तथापि भारत के चुने हुए विद्वानों को मुंशी या पण्डित की उपाधि देकर उनसे अध्यापन और अनुवाद दोनों का काम लिया जाता था। इस कालेज की स्थापना में सबसे अधिक योग डा० गिलक्रिस्ट ने दिया, जिनके प्रयत्नों की हिन्दी तथा उर्दू सदा आभारी रहेंगी।

डा० जॉन बार्थविक गिलक्रिस्ट—डा० गिलक्रिस्ट १७५९ ई० में स्काटलैंड की राजधानी एडिनबरा में पैदा हुए। उन्होंने उसी नगर के प्रसिद्ध 'जॉर्ज हेरियट हास्पिटल' नामक चिकित्सा विद्यालय में चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा ली। १७८२ ई० में उन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने वेतनभोगी डाक्टर बना कर बम्बई भेज दिया। बम्बई में ही उन्होंने जन-साधारण की भाषा हिन्दुस्तानी सीखी। अगले वर्ष उन्हें कलकत्ता भेज दिया गया। दो-तीन वर्ष में उन्होंने काफ़ी परिश्रम से उर्दू सीखी और अप्रैल १७८५ ई० में उर्दू में और अधिक योग्यता प्राप्त करने के लिए फ़ैज़ाबाद आ गये। यह भारतीय वस्त्र पहन कर बाज़ारों में घूमते थे और उर्दू के मुहावरे सीखते थे। इसी सिलसिले में इन्होंने दिल्ली, लखनऊ और बनारस की भी यात्रा की और पण्डितों तथा मौलवियों की सहायता से उर्दू और हिन्दी में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली।

उर्दू और हिन्दी में योग्यता प्राप्त करने के बाद डा० गिलक्रिस्ट ने अँगरेज़ों को उर्दू में दक्ष बनाने के विचार से अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इनकी

रचनाएँ ये हैं—(१) अँगरेज़ी-हिन्दुस्तानी शब्दकोश (यह नौ वर्ष के परिश्रम का फल था), (२) हिन्दुस्तानी भाषाशास्त्र, (३) उर्दू व्याकरण, (४) पूर्वीय भाषाविज्ञ, (५) उर्दू की रूपरेखा, (६) हिन्दी के गल्प अनुवाद (७) फारसी क्रियाएँ, (८) अजनबियों के लिए उर्दू पथप्रदर्शक, (९) हिंदी काव्य संग्रह, (१०) दस्ती गाने, (११) हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति, (१२) हिन्दी शिक्षक, (१३) हिन्दी-अरबी दर्पण, (१४) अँगरेज़ी-हिन्दुस्तानी वार्तालाप, (१५) पूर्वीय कहानियाँ, (१६) हिन्दी कथासार। उर्दू और हिन्दी कोशों और भाषा-शास्त्र तथा लिपियों पर डा० गिलक्रिस्ट से पहले किसी ने कुछ नहीं लिखा। इन्हीं की कृतियों से प्रेरणा पाकर 'इंशा' ने 'दरिया-ए-लताफ़त' लिखी थी।

फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना पर इन्हें उसका मुख्याधीश बना दिया गया। इन्होंने चार वर्ष में ही भारत के चुने हुए विद्वानों को (जिनका उल्लेख आगे होगा) एकत्र करके उनसे ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तकें लिखवायीं। १८०४ ई० में यह अस्वस्थ हो गये और स्काटलैंड चले गये। फिर १८१६ ई० में लंदन आकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के भावी कर्मचारियों को भारतीय भाषाएँ सिखाने लगे। १८१८ ई० में कम्पनी ने लीस्टर स्क्वायर में 'ओरिएंटल इंस्टीट्यूट' स्थापित किया, जिसका उर्दू का प्रोफ़ेसर इन्हें बनाया गया। इंस्टीट्यूट १८२६ ई० में बंद हो गया, किन्तु इन्होंने अपने तौर पर काम जारी रखा। कुछ दिनों बाद अपना काम मि० सैंडफोर्ट अरटाट तथा मि० डनकन फ़ोर्ब्स के सुपुर्द करके स्काटलैंड चले गये। फिर कुछ दिन बाद स्वास्थ्य-लाभ के लिए उन्होंने फ्रांस की यात्रा की और पेरिस में ही ९ जनवरी, १८४१ ई० को उनका देहावसान हो गया।

कैप्टेन टॉमस रोबक—कैप्टेन रोबक सेनाधिकारी थे, जो डा० गिलक्रिस्ट के प्रभाव से उर्दू में रुचि लेने लगे। १८०४ ई० में डा० गिलक्रिस्ट के अवकाश ग्रहण के बाद फोर्ट विलियम कालेज के मुख्याधीश पद पर सुशोभित हुए। इन्होंने भी कई विद्वानों को कालेज में बुलाया, जिनमें मुंशी बेनीनारायन 'जहाँ' प्रमुख हैं, जिन्होंने उर्दू कवियों का तज़किरा (वृत्तांत) लिखा है। मिर्ज़ा जान 'तपिश' ने अपनी मसनवी 'बहारे-नादिश' में इनकी बड़ी प्रशंसा की है। कैप्टेन

रक ने डा० गिलक्रिस्ट को उनके शब्दकोष की तय्यारी में बहुत सहायता दी। य भी इन्होंने 'रुमूजे-जहाजरानी' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें नाविक-शास्त्र न्धी पारिभाषिक शब्दों के पर्य्यायवाची हिन्दोस्तानी शब्द बताये गये थे। की दूसरी पुस्तक 'इंडियन इंटरप्रेटर' है, जिसमें हिन्दुस्तानी व्याकरण के मूल-त सिद्धान्त बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने अंगरेजी में फ़ोर्ट विलियम लेज का एक इतिहास भी लिखा है।

रोबक के अतिरिक्त फ़ोर्ट विलियम कालेज के अंगरेज अध्यापकों में कैप्टेन लर और डा० विलियम हंटर के नाम भी उल्लेखनीय हैं। कैप्टेन जोज़फ़ लर ने भी एक अंगरेज़ी-हिन्दोस्तानी शब्दकोष तय्यार किया था। इसमें डा० हंटर ने इनकी बहुत सहायता की थी।

मीर 'अम्मन'—इनका असली नाम मीर अमान था और 'अम्मन' तख-ल्लुस, लेकिन प्रसिद्ध ये मीर अम्मन के ही नाम से हैं। इनके आदि पुरुष हुमायूं के समय में भारत आये। आलमगीर द्वितीय के समय (१७५४ ई० से १७५९ ई०) तक इस खानदान के लोग मुगल सम्राटों की सेवा में रहे। १७५६ ई० में ल्ली पर अहमद शाह दुर्रानी का आक्रमण हुआ और फिर भरतपुर के सूरजमल ट ने दिल्ली को लूट लिया। राज्य बहुत अशक्त हो गया तो मीर अम्मन भी शानी में दिल्ली छोड़ कर निकले। दिल्ली से पटने पहुँचे। कुछ वर्ष वहाँ हे, किन्तु जीविका का कोई उपयुक्त साधन न मिला। मजबूरी में बालबच्चों ो वहीं छोड़कर कलकत्ते गये जहाँ नवाब दिलावर जंग के छोटे भाई मीर मुहम्मद ाज़िम खां को पढ़ाने के लिए नौकर हो गये। कुछ दिनों बाद उनके मित्र मीर बहादुर अली हुसैनी ने, जो फ़ोर्ट विलियम कालेज में मीरमुंशी थे, इनका परिचय डा० गिलक्रिस्ट से करवा दिया। उन्होंने इनको कालेज में रख लिया। डा० गिलक्रिस्ट ने उनसे 'क़िस्सए चहार दुरवेश' का सरल उर्दू में अनुवाद कराया, जो 'बाग़ो बहार' के नाम से आधुनिक उर्दू गद्य का रत्न समझा जाता है। इसके अतिरिक्त मीर अम्मन ने मुल्ला हुसैन वाइज़ काशिफ़ी की फ़ारसी रचना 'इखलाके-मुहसिनी' का अनुवाद भी 'गंजीनए-खूबी' के नाम से किया। इन्हीं दो पुस्तकों ने उर्दू के गद्य में मीर अम्मन का स्थान सदा के लिए सुरक्षित कर दिया।

'बागो बहार' फ़ारसी के 'क़िस्सए चहार दुरवेश' का अनुवाद है। कहा जाता है कि यह पुस्तक अमीर खुसरो ने अपने आध्यात्म गुरु-निज़ामुद्दीन औलिया की बीमारी में उनका जी बहलाने को लिखी थी और उन्होंने आशीर्वाद दिया था कि बीमारी में जो कोई इस कहानी को सुनेगा उसे स्वास्थ्य-लाभ होगा। किन्तु मौलवी अब्दुलहक़ और डा० शेरानी की खोजों से सिद्ध हुआ है कि यह कहानी दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के समय में लिखी गयी थी और इसका अमीर खुसरो से कोई सम्बन्ध नहीं है। मीर अम्मन के पहले मीर 'तहसीन' ने 'नौतर्ज़-मुरस्सा' के नाम से इस कहानी का उर्दू में अनुवाद किया था, किन्तु यह पुराने ढग की अरबी-फ़ारसी-युक्त उर्दू और अनुप्रास-युक्त भाषा से इतना बोझिल था कि डा० गिलक्रिस्ट ने मीर अम्मन को सरल उर्दू में 'नौतर्ज़-मुरस्सा' का भाषांतर करने को कहा। मीर अम्मन ने १८०१ ई० में इसे पूरा किया।

मीर अम्मन के 'बागो बहार' की स्थायी ख्याति का कारण उसकी सरल, प्रवाहमय और मुहावरेदार भाषा है। इसे दिल्ली की टकसाली उर्दू का नमूना कहा जा सकता है और यद्यपि इसकी रचना को डेढ सौ वर्ष से अधिक हो गये हैं, तथापि अब भी कुछ प्रयोगो को छोडकर इसमें कहीं पुरानापन नहीं मालूम होता। साहित्यिक गद्य-लेखन का उर्दू में यह लगभग सबसे पुराना नमूना है, लेकिन इसकी सरलता और प्रवाह अब भी इसे साहित्यिक मान्यता प्रदान किये हुए हैं। भाषा के मामले मे गद्य में मीर अम्मन का वही स्थान है, जो कविता के क्षेत्र में मीर तक़ी 'मीर' का है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें मीर अम्मन ने अपने काल के रीति-रिवाजों, सामाजिक परिस्थितियों और नैतिक मूल्यो का बडा सफल दिग्दर्शन कराया है। इसके अतिरिक्त एक अन्य विशेषता यह भी है कि यह केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं है, बल्कि किस्से की आड़ में कुछ सामाजिक-नैतिक मूल्यों की भी स्थापना की गयी है और यह सोद्देश्य रचना का अच्छा नमूना है।

निम्नलिखित उद्धरण से 'बागो बहार' की भाषा और शैली का आभास मिलेगा—

"एक दिन वह बहन जो बजाय वालिदा के मेरी खातिर करती थी, कहने लगी, 'ऐ बहन, तू मेरी आँखों की पुतली और माँ-बाप की मुई मिट्टी की

ताती है। तेरे आने से मेरा कलेजा ठंडा हुआ। जब तुझे देखती हूँ खुश
ती हूँ, तूने मुझे निहाल किया। लेकिन मर्दों को खुदा ने कमाने के लिए पैदा
या है, घर में बैठा रहना उनको लाजिम नहीं। जो मर्द निखट्टू होकर
र में बैठा रहता है, लोग उसको ताना देते हैं। खसूसन इस शहर के आदमी
छोटे-बड़े तुम्हारे बेसबब बैठे रहने पर कहेंगे कि माँ-बाप का माल खोकर बहनोई
के टुकड़ों पर आ पड़ा। निहायत बेइज्जती और मेरी-तुम्हारी हँसाई और
माँ-बाप के नाम को लाज लगने का सबब है, नहीं तो मैं अपने चमड़े की जूतियाँ
बनाकर तुम्हें पिन्हाती और कलेजे में बिठाती। अब सलाह यह है कि सफर
करो। खुदा चाहे दिन फिरें और हैरानी परेशानी व मुफ़लिसी के बदले दिल-
जमई और खुशी हासिल हो।' यह बात सुनकर मुझे भी गैरत आयी। उसकी
नसीहत पसंद करके जवाब दिया, 'अच्छा अब तुम माँ की जगह हो, जो कहो
सो करूँ।' मेरी मरजी पाकर घर से पचास तोड़े अशर्फ़ियों के असील व लौंडियों
के हाथ लिवाकर मेरे आगे रखे और बोली, 'सौदागरों का एक काफ़िला दमिश्क
को जाता है। तुम इन रुपयों से जिन्स तिजारत की खरीद करके एक ताजिरे-
ईमानदार के हवाले करके दस्तावेज लिखवा लो और आप भी दमिश्क का कस्द
करो। जब वहाँ खैरियत से जा पहुँचो अपना माल मए-मुनाफ़ा समझ-बूझ लो।'
मैं वह नक़द लेकर बाजार गया। असबाब सौदागरी का खरीद करके एक
सौदागर के सुपुर्द किया और नविश्त-ओ-ख्वांद से फ़राग़त पाकर वह ताजिर
दरिया की राह से जहाज पर सवार होकर रवाना हुआ और फ़िदवी ने खुश्की
की राह इख्तियार की। जब रुखसत होने लगा तो बहन ने एक भारी जोड़ा और
एक घोड़ा जड़ाऊ साज से मुरस्सा तवाजो किया और एक खासदान में मिठाई
भरकर हर्ने से लटका दी और छागल पानी की शिकार बंद में बँधवा दी।
इमाम ज़ामिन का रुपया मेरे बाजू पर बाँधा, दही का टीका मेरे माथे पर
लगाया। आँसू पीकर बोली, 'सिधारो, तुमको खुदा को सौंपा। पीठ दिखाकर
जाते हो इसी तरह मुँह दिखाते जल्द आना।' मैंने फ़ातिहा पढ़कर कहा,
'अल्लाह तुम्हारा भी हाफ़िज़ है, मैंने क़बूल किया।' वहाँ से निकलकर घोड़े
पर सवार हुआ और तवक्कुल पर भरोसा करके दो मंज़िल की राह एक मंज़िल
करता हुआ दमिश्क के पास जा पहुँचा।"

मीर अम्मन कवि भी थे। 'अम्मन' के पहले यह 'लुत्फ़' तख़ल्लुस करते थे। इनका एक दीवान भी कहा जाता है, जो अब कहीं नहीं मिलता। मीर अम्मन के जन्म और मृत्यु काल तथा दिल्ली छोड़ने का ठीक समय अभी तक नहीं मालूम हो सका है।

सय्यद हैदरबख़्श 'हैदरी'—यह भी दिल्ली में पैदा हुए थे। इनके पिता सय्यद अबुलहसन लाला सुखदेव राय के साथ दिल्ली से निकल कर बनारस में रहने लगे। उसी समय 'गुल्ज़ारे-इब्राहीमी' नामक कवि-वृत्तांत के रचयिता नवाब अली इब्राहीम ख़ाँ 'ख़लील' बनारस में न्यायाधीश थे। यह बड़े विद्वान् पुरुष थे और हैदरी को उन्होंने बहुत-कुछ सिखाया-पढ़ाया और उनमें साहित्यिक रुचि पैदा कर दी। फ़ोर्ट विलियम कालेज में लेखकों की भरती होने लगी तो हैदरी ने 'क़िस्सए मह्रो-माह' नामक एक पुस्तक लिखकर डा० गिलक्रिस्ट के पास भेजी। उन्होंने इसकी भाषा को पसंद किया और हैदरी को कलकत्ते बुला लिया। कलकत्ते में उन्होंने कई पुस्तकें लिखी, जिनका विवरण इस प्रकार है—(१) क़िस्सए लैला मजनूं (अमीर ख़ुसरो की मसनवी का अनुवाद), (२) तोता कहानी (सय्यद मुहम्मद क़ादिरी के 'तूतीनामा' का उर्दू अनुवाद। क़ादिरी ने संस्कृत की 'शुक सप्तति' की सत्तर कहानियों में से बावन का अनुवाद फ़ारसी में करके उसका नाम 'तूतीनामा' रखा था), (३) आरायशे-महफ़िल (हातिमताई की कहानी का अनुवाद), (४) तारीख़े नादिरी (मिर्ज़ा मेहदी द्वारा फ़ारसी में रचित 'नादिरनामा' का अनुवाद, जिसमें नादिर शाह का जीवनचरित्र है), (५) गुले-मग़फ़िरत (मुल्ला काशिफ़ी की प्रसिद्ध फ़ारसी पुस्तक 'रौज़तुश्शुहदा' के—जिसमें करबला के शहीदों का वर्णन है—उर्दू अनुवाद 'गुलशने-शहीदों' का संक्षिप्त रूप), (६) गुलज़ारे-दानिश (शैख़ इनायतुल्ला के फ़ारसी 'बहारे-दानिश' का अनुवाद, जिसमें त्रिया चरित्र सम्बन्धी कहानियाँ हैं), (७) हफ़्त पैकर (निज़ामी गंजवी की इसी नाम की फ़ारसी मसनवी का उर्दू मसनवी में रूपान्तर), (८) गुलदस्तए-हैदरी (हैदरी के विभिन्न लेखों और पद्यों का संग्रह), (९) गुलशने-हिन्द (उर्दू कवियों का वृत्तांत जो अभीतक अप्रकाशित है। इसी नाम का एक कवि-वृत्तांत अली 'लुत्फ़' ने लिखा था, जो प्रकाशित हो चुका है।)

हैदरी की भाषा में [illegible] और मुहावरेदारी [illegible] जैसी ही है, किन्तु [illegible] कुछ कम है किन्तु इतनी कम नहीं कि खटके। भाषा का नमूना निम्नलिखित उद्धरणों से मालूम होगा —

"जब सुबह हुआ और चाँद निकला [illegible] गलियाँ [illegible] हुई [illegible] मैं [illegible] देता है। नसीहत की बातें [illegible] न सुना। मैं आशिक हूँ [illegible] क्या ?' तोता कहने लगा, 'ऐ [illegible] यह क्या कहती है ? बड़ों की बात मानना चाहिए क्योंकि जो कहना बड़ों का नहीं मानता [illegible] होता है और परेशानी खेंचता है'।" (तोता कहानी)

"किताब ऐवाने [illegible] में यूँ लिखा है कि [illegible] के [illegible] व ऐ साहिबे-अक्ल के [illegible] ! शाहे-मुहर्रम में [illegible] करके खुशी व खुर्रमी को अपने दिल में राह मत दो। [illegible] और गम करने का अज्रे-अज़ीम देगा, बहिश्ते-बरीं का मकान [illegible]।" (गुल-मग़फ़िरत)

मीर शेर अली 'अफ़सोस'—फ़ोर्ट विलियम कालेज के लेखकों में 'अफ़सोस' शेख सादी की 'गुलिस्तां' के अनुवाद 'बागे-उर्दू' के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्वज अरब के खाफ़ नामक स्थान के निवासी थे, जहाँ से भारत आकर आगरे के समीप नारनौल में बस गये थे। 'अफ़सोस' के पितामह सय्यद गुलाम मुस्तफ़ा खाँ अपने दो बेटों सय्यद अली मुज़फ़्फ़र खाँ ('अफ़सोस' के पिता) और सय्यद गुलाम अली खाँ के साथ दिल्ली आये और उनके बेटों ने नवाब अमीर खाँ की नौकरी कर ली। यहीं १७३८ ई० के लगभग 'अफ़सोस' पैदा हुए। नवाब अमीरखाँ का १७४६ ई० में देहान्त हो गया। इसके तीन-चार वर्ष बाद अली मुज़फ़्फ़र खाँ पटना आकर वहाँ के नवाब मीर क़ासिम अली खाँ के यहाँ तोपखाने के दारोगा हो गये। इसके बाद फ़ैज़ाबाद में नवाब शुजाउद्दौला की कुछ वर्षों तक नौकरी के बाद हैदराबाद चले गये और उनका वहीं देहान्त हुआ।

'अफ़सोस' अपने पिता के फ़ैज़ाबाद आने के पहले ही नवाब शुजाउद्दौला के भतीजे सालारजंग के यहाँ नौकर हो गये, फिर दिल्ली के युवराज मिर्ज़ा

जरादत्त थे, जो लखनऊ में रहने लगे थे, दरबार में नौकर हो गये। फिर जरादत्त दिल्ली वापस गये तो 'अफ़सोस' नवाब आसफ़ुद्दौला के मन्त्री हसन रज़ा खाँ के मुसाहिब हो गये।

१८०१ ई० में हसन रज़ा खाँ ने इनका परिचय कर्नल स्काट से करा दिया जिन्होंने उन्हें फ़ोर्ट विलियम कालेज भेज दिया। उनका वेतन २००) महीने हो गया। लगभग आठ वर्ष कलकत्ते में रहकर उन्होंने १८०९ ई० में परलोक गमन किया।

'अफसोस' की रचनाओं में एक दीवान, शेख सादी की 'गुलिस्तां' का उर्दू अनुवाद 'बागे-उर्दू' और मुंशी सुब्हान राय की १६८६ ई० में रचित प्रसिद्ध फ़ारसी इतिहास पुस्तक 'खुलासतुल-तवारीख' का उर्दू अनुवाद 'आरायशे महफ़िल' के नाम से किया। 'अफसोस' कवि की हैसियत से काफ़ी प्रसिद्ध हैं। उनका 'बागे-उर्दू' अपनी प्रवाहमय शैली के कारण काफ़ी लोकप्रिय है और यही हाल 'आरायशे महफ़िल' का है। भाषा का नमूना यह है—

"जब से यह मरकज़े-खाकी आरामगाहे-हैवानात हुआ, सैकड़ों लाखों शहर कस्बे बसे और बसते जाते हैं। कोई अदना कोई आला, लेकिन हिन्दोस्तान की सर-ज़मीन का आलम सबसे निराला है। कोई विलायत इसकी वुसअत को नही पहुँचती और किसी मुमलिकत की आबादी इसको नहीं लगती।" (आरायशे-महफ़िल)

मिर्ज़ा काज़िम अली 'जवान'—मिर्ज़ा काज़िम अली दिल्ली के मूल निवासी थे, किन्तु दिल्ली की तबाही के बाद लखनऊ पहुँचे, जहाँ कवि की हैसियत से इन्हें ख्याति मिलने लगी। १८०० ई० में कर्नल स्काट की सिफारिश पर यह फ़ोर्ट विलियम कालेज में पहुँचे। यह और इनके दो बेटे कलकत्ते में भी कविता करते रहे और मुशायरे करवाते रहे। 'जवान' की सबसे प्रसिद्ध अनुवाद पुस्तक 'शकुन्तला नाटक' है। मूल संस्कृत का अनुवाद ब्रजभाषा के कवीश्वर नवाज़ ने किया था, जिसका अनुवाद उक्त पुस्तक है। डा० गिलक्रिस्ट के आदेशानुसार पण्डित लल्लूलाल ने ब्रजभाषा से बोल-बोलकर इसके अनुवाद में सहायता की थी। फ़ारसी लिपि में लिखा हुआ यह सर्वप्रथम नाटक है। इसके अतिरिक्त 'जवान' की दो पुस्तकें—'बारहमासा' और 'तारीखे-फ़रिश्ता'—भी प्रसिद्ध हैं।

फ़रिश्ता' बहमनी बादशाहों का इतिहास है। 'बारहमासा' मसनवी बारह महीनों के अनुसार बारह भागों में है और उसमें हिन्दू-मुसलमान त्योहारों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'मिहमान दस्तोंमी' बाद में भी लल्लूलाल की सहायता की थी। कुरान का अनुवाद भी किया था, किन्तु उसे पूरा न कर सके।

ीर बहादुर अली हुसैनी—यह फ़ोर्ट विलियम कालेज में मीरमुंशी थे और म्मन इन्हीं की मध्यस्थता से वहाँ आये। इनका कुछ हाल नहीं मिला, दिल्ली के निवासी थे। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक हितोपदेश के मुफ्ती न कृत फ़ारसी रूपान्तर 'मुफ़र्रहुल-कुलूब' का उर्दू अनुवाद 'इख़्लाके-' है। अन्य पुस्तकें ये हैं—(१) मीर हसन की मसनवी सहरुलबयान द्य रूप 'नस्रे-बेनज़ीर', (२) डा० गिलक्रिस्ट के व्याकरण का संक्षिप्ती- 'रिसालए-गिलक्रिस्ट', (३) शहाबुद्दीन तालिश की फारसी 'तारीखे-म' का इसी नाम से अनुवाद, जिसमें औरंगज़ेब के जनरल मीर जुमला के म पर आक्रमण का वर्णन है। इनके अलावा हुसैनी ने 'किस्सए-लुकमान' कुरान के अनुवाद में भी योग दिया था।

मज़हर अली 'विला'—इनका असली नाम लुत्फ़ अली था, किन्तु प्रसिद्ध ज़हर अली खाँ 'विला' के नाम से है। इनके बारे में इससे अधिक कुछ मालूम हो सका है कि दिल्ली के रहने वाले थे और फ़ोर्ट विलियम कालेज ाने से पहले बादशाह के दरबारी शायरों में थे। इनकी सबसे प्रसिद्ध अनुवाद-क 'बैताल पच्चीसी' है। इसके अलावा इन्होंने 'माधोनल और कामकन्दला न्दला)' की हिन्दी प्रेमकथा का भी अनुवाद किया है। अन्य पुस्तकों में दी के 'करीमा' का पद्यमय अनुवाद, नासिर अली खाँ वास्ती बिलग्रामी की रसी नीति सम्बन्धी पुस्तक 'हफ्तगुलशन' का इसी नाम से अनुवाद,'तारीखे-रशाही' का फ़ारसी से अनुवाद और रेख्ता (उर्दू) का एक दीवान है। दा' अपने काल के प्रसिद्ध कवियों में से थे।

ख़लील अली खाँ 'अश्क'—इनकी अनुवाद-पुस्तक 'अमीर हमज़ा' से तो सी उर्दू-भाषी परिचित हैं, किन्तु इनका हाल कुछ नहीं मिलता, बल्कि 'अमीर मज़ा' के अनुवादक की हैसियत से भी हाल में ही इनका नाम मालूम हुआ है।

'आराइशे महफ़िल' हातिमताई की बड़ी लम्बी कथा है जिसके लेखक का [illegible] [illegible] मालूम नहीं सका। अन्य पुस्तकें हैं—(१) 'तारीख़े [illegible]' जो [illegible] के 'अकबर नामा' का अनुवाद है और [illegible] है, (२) 'क़िस्सए गुलज़ारे-चीन' [illegible] चीन देश की एक [illegible] का [illegible] उर्दू में अनुवाद है और, (३) 'रिसाला [illegible]'।

बेनीनारायण 'जहाँ'—यह लाहौर के एक विद्वान वंश में पैदा हुए। फ़ोर्ट विलियम कालेज में यह कैप्टेन रोबक के समय में पहुँचे। इनकी पुस्तकें पाण्डुलिपियों के रूप में ही उपलब्ध हैं। कैप्टेन रोबक के आदेश से इन्होंने उर्दू कवियों का चुनाव 'दीवाने-जहाँ' के नाम से किया। एक फ़ारसी ग्रन्थ का अनुवाद 'चार गुलशन' के नाम से और शाह रफ़ीउद्दीन की फ़ारसी पुस्तक 'तम्बीहुल ग़ाफ़िलीन' का भी उर्दू अनुवाद इन्होंने किया है। अंतिम दिनों में यह मुसलमान हो गये थे।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के उर्दू लेखकों की सूची बड़ी लम्बी है। इनमें प्रसिद्ध कवि-वृत्तान्त 'गुलशने-हिन्द' के लेखक मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़', कई धार्मिक पुस्तकों तथा क़ुरान के अनुवादक मौलवी अमानतुल्ला, 'बहारदानिश' और 'यूसुफ़ जुलेख़ा' के अनुवादक मिर्ज़ा जान 'तपिश', प्राचीन मरसियाकार मीर अब्दुल्ला 'मिस्कीं', बाइबिल के न्यू टेस्टामेंट (अहदनामा-ए-जदीद) के अनुवादक मिर्ज़ा मुहम्मद 'फ़ितरत', अरबी की प्रसिद्ध पुस्तक 'अख़वानुस्सफ़ा' के अनुवादक मौलवी इकराम अली, फ़ारसी की प्रसिद्ध कहानी 'ताजुलमुलूक और बकावली' के (जिसके आधार पर उर्दू की प्रसिद्ध मसनवी 'गुलज़ारे-नसीम' रची गयी है) 'मज़हबे इश्क़' नाम से उर्दू अनुवाद के रचयिता निहालचन्द लाहौरी, शेख़ फ़रीदुद्दीन अत्तार के फ़ारसी 'पिन्दनामा' का उर्दू में पद्यबद्ध अनुवाद करनेवाले मीर मुहीउद्दीन 'फ़ैज़' और 'ख़्वाने-अलवान' नामक पाक पुस्तक के रचयिता सय्यद हमीदुद्दीन बिहारी हैं।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों और पंडितों में पण्डित लल्लूलाल का नाम हिन्दी पुस्तकों 'प्रेम सागर', 'राजनीति', 'सभा विलास', 'महादेव विलास', 'सिंहासन बत्तीसी' आदि के कारण तो प्रसिद्ध है ही, कई उर्दू अनुवादों 'शकुन्तला नाटक' आदि के सम्बन्ध में भी उनका सहयोग महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीलिए

[illegible] इन्होंने फ़ारसी लिपि में कोई पुस्तक नहीं लिखी, तथापि इन्हें भी उर्दू [illegible] में स्थान दे दिया गया है।

अन्य लेखक

फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर भी इस ज़माने में उर्दू गद्य-लेखन का कुछ काम हो ही रहा था। दिल्ली में शाह वली उल्ला तथा उनके लड़कों [illegible] लिखित धार्मिक पुस्तकें तथा कुरान के अनुवाद शायद उर्दू भाषा की [illegible] पहली उर्दू गद्य रचनाएँ हैं, जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। शाह [illegible] उल्ला के पोते और उनके बाद के प्रख्यात धार्मिक विद्वान मौलवी मुहम्मद [illegible] इस्माइल देहल्वी ने 'सिरातुल-मुस्तक़ीम', 'तक़वियतुल ईमान', 'मिराते-मुस्लिमीन' आदि अनेक धार्मिक पुस्तकें लिखीं। १८३१ ई० में सय्यद अहमद बरेल्वी के [illegible] में धर्म-युद्ध के लिए [illegible] आ गये थे। [illegible] में इन्हें [illegible] मार डाला। फिर भी अभी तक गद्य-लेखन मुख्यतः धार्मिक और इस्लामी कर्मकाण्ड के प्रतिपादन के ही लिए किया जाता था। साहित्यिक गद्य-लेखन पर कम ही हुआ। सिर्फ़ फ़कीर मुहम्मद खाँ 'गोया' और मिर्ज़ा रजब अली [illegible] 'सरूर' की कृतियाँ इस क्षेत्र में हैं।

नवाब फ़क़ीर मुहम्मद खाँ 'गोया'—इनकी ख्याति मुख्यतः कवि के रूप में [illegible]ई है। यह लखनऊ के नवाब के रिसालदार थे और इन्हें हिसामुद्दौला की उपाधि मिली हुई थी। कविता में यह शेख़ इमाम बख़्श नासिख़ के शागिर्द थे। इनका दीवान इनके देहांत (१८५० ई०) के बाद नवलकिशोर प्रेस से छपा है। गद्य में इन्होंने फ़ारसी की प्रसिद्ध पुस्तक 'अनवारे-सुहेली' का उर्दू अनुवाद 'बुस्ताने-हिकमत' के नाम से किया था। अब तो इसका महत्त्व ख़त्म हो गया है, किन्तु एक ज़माने में यह पुस्तक काफ़ी प्रसिद्ध थी। यह पुराने ढंग की लच्छेदार उर्दू में लिखी गयी है, यद्यपि 'फ़सानए-अजायब' से इसकी भाषा सरल है।

मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सरूर'—यह आगरे के एक प्रतिष्ठित परिवार के रत्न थे और इनकी शिक्षा-दीक्षा लखनऊ के साहित्यिक वातावरण में हुई थी। यह अरबी, फ़ारसी, सुलेखन तथा संगीत में पारंगत थे। कविता में यह मिर्ज़ा नवाज़िश हुसैन 'नवाज़िश' के शागिर्द थे। 'ग़ालिब' से भी इनकी मित्रता थी

...य आकर्षण उनके विवरण की सफलता है। वे किसी वस्तु का वर्णन करते हैं उसका पूर्ण चित्र खींच देते हैं, जिसमें रेखाओं तथा रंगों का पूर्ण सामञ्जस्य ...ता है, यद्यपि यह भी सही है कि उन्हें जीवन के जीते-जागते और तड़पते हुए ...त्र देने में पण्डित रतन नाथ 'सरशार' की तरह सफलता बिलकुल नहीं ...मली है।

नीचे हम 'फ़सानए-अजायब' का एक उद्धरण दे रहे हैं, जिससे 'सरूर' की शैली का पता चल जायेगा—

"फिर मशविरा हुआ कि यह जंगल सुनसान हू का मकान है। यहाँ दरिन्दा व गुज़िन्दा—साँप, बिच्छू, शेर, भेड़िए के सिवा परिन्दा दरिन्दा नजर नहीं आता। जो हम तुम दोनों सो रहें, ख़ुदा जाने क्या हो। तीन पहर रात बाकी ... पहर रात हम जागें, फिर तुम होशियार रहो। यह सलाह पसन्दे-ख़ातिरे... र हुई। पहले बड़े भाई ने आराम किया, छोटे ने जागने का सरजाम ...। तीरो-कमान हाथ में उठा टहलने लगा। जब ज़ुल्फ़े-लैलाए-शब कमर तक ..., उसी दरख़्त पर दो जानवर अपनी-अपनी तौसीफ़ो-तारीफ़ ज़बाने-...नी में करने लगे। और यह शख़्स बहुत जानवरों की बोली समझता ... आवाज़ पर कान लगाये। एक बोला मेरे गोश्त में यह तासीर है जो खाये ...साल तो पहले दो पहर के बाद उगले, फिर हर महीने मुँह से निकले। ...ा बोला जो शख़्स मेरा गोश्त खाये, उसी रोज बादशाह हो जाये। वह ये ...समझ दिल में निहायत ख़ुश हुआ। तीरो-कमान तो मौजूद था, 'इल्लल्लाह' ...कर तीर बेनाम्मुल चिल्ले से जोड़ कर खैंचा। लबे-सूफ़ार कान के पास आव-...ता-ए-निशाना सरगोशी करके रवाना हुआ। क़ज़ा ने हरचन्द उनके सरपर ...रदार पुकारा, कमान कड़कड़ाकर चिल्लायी कि वह मारा। रान का ...र सरसरी ऑटकर लेस, मगर मर्ग जो दरपे हो गयी जान न बची। ...ान से ला-सूफ़ार दोनार हो ज़मीन पर छिद कर दोनों एक तीर में गिर ...े। उसने तकबीर पढ़कर ज़िब्ह किया, ताइरे-रूह उनका उड़ गया। दिन की ...रहियाँ इसी मुल्ला कबाब लगाये। जिसके गोश्त में सल्तनत का ज़ायका ...स्सा था उसे खाया। दूसरा भाई के वास्ते उठाकर रखा और ऐसा ख़ुश हुआ कि ...ाम ... भाई को तकलीफ़ न दी। मगर मुआ-

मिलाते कजा-ओ-कद्र से मजबूर बशर है, इंसान के क़ब्ज़ए-कुदरत में क्या है जरर है।

"जिस वक्त जागे-शब ने बैज़हाए-अंजुम आशियान ए-मग़रिब में छुपाये और सय्यादाने महरखेज दाम-बरदोश आये और सीमुर्गे-ज़र्री-जिबाह निकाल गैरते-लाल कफ़से मशरिक से जल्वा अफ़रोज हुआ यानी शब गुज़री रोज़ हुआ, बड़ा भाई उठा। छोटे ने वह कबाब पसमादए-शब यानी रात के बचे खुचे वह नोश कर गया और हाल कुछ-न-कहा। दो घड़ी दिन चढ़े जब लाल उगला, तब समझा हमने बहुत तदबीर की, मगर सलतनत बड़े भाई की किस्मत में थी। फिर वह लाल ब-तरीके-नज़्र रू-ब-रू लाया और रात का अहवाल मुफस्सिल सब कह सुनाया, अल्लाह की इनायत से जल्द आपको मतलब हुसूल हो, यह नज्रगुलाम की कुबूल हो। उसको उसकी सआदतमन्दी से बुलन्दी हासिल हुई।"

: ६ :

दिल्ली की मध्यकालीन कविता

शुजाउद्दौला और आसफुद्दौला के ज़माने में दिल्ली से बड़े-बड़े कवि उठकर लखनऊ को चले गये थे, लेकिन दिल्ली की भूमि की उर्वराशक्ति समाप्त नहीं हुई। कुछ ही समय में वहाँ से ऐसे-ऐसे महाकवि उठे, जिनका डंका उर्दू संसार में अब तक बजता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली का साम्राज्य नाम के लिए ही रह गया था। दिल्ली का बादशाह हर मामले में कम्पनी के रेजीडेण्ट की इच्छा से काम करने के लिए विवश था। सम्भवतः इसी विवशता को साहित्य के नशे में डुबोने की कोशिश की गयी और लाल क़िला अपने मुशायरों के लिए प्रसिद्ध हो गया। अन्तिम मुग़ल सम्राट् बहादुर शाह द्वितीय को अपनी नौजवानी से ही कविता में अत्यधिक रुचि थी। दिल्ली के लगभग सभी बादशाह कविता के मर्मज्ञ ही नहीं, स्वयं भी कवि थे और अन्तिम तीन सम्राट—शाह आलम 'आफ़ताब', अकबर शाह (द्वितीय) 'शुआ' और बहादुर शाह (द्वितीय) 'ज़फ़र'—उर्दू में कविता करते थे। इनमें भी बहादुरशाह 'ज़फ़र' तो उर्दू कविता के लिए भी उतने ही प्रसिद्ध हैं, जितने अपने ऐतिहासिक शासनकाल और उसके दुःखान्त नाटकीय अन्त के लिए।

दरअसल उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली और लखनऊ दोनों में साहित्य का ज़ोर होने का एक यह भी कारण मालूम होता है कि ये राज्य वस्तुतः कम्पनी के आधीन हो चुके थे और यहाँ के शासकों और सामन्तों को राजनीति के क्षेत्र में व्यस्त होने का अवसर न था, न उनके सामने लड़ाई-भिड़ाई की समस्या थी। इसीलिए इनका अधिकतर समय साहित्य-सर्जन में ही बीतता था।

फिर भी इन दोनों राज्यों के सामन्तों की मनोवृत्ति में एक मौलिक अन्तर था। दिल्ली के अमीर पहले का समृद्धि काल देख चुके थे, यह उनकी बरबादी का ज़माना था और उन्हें अवकाश के समय में, जिसकी उन्हें कोई कमी न थी,

अवसाद की भावनाएँ घर दबाती थीं। दिल्ली में सूफ़ी संतों की परम्परा भी आरंभ से ही (अफ़ग़ानों के शासनकाल में ही) चली आ रही थी। इस अवसाद काल में सूफ़ी दर्शन उनके लिए सहारा था। अवध में इसके विपरीत नया राज था, वहाँ सत्ता न सही, किन्तु समृद्धि अवश्य थी, दिल्ली के विध्वंस के विपरीत अवध के सामन्तों ने केवल निर्माण का उल्लास देखा था। इसलिए उन्हें अपनी राजनीतिक परवशता खटकती नहीं थी और उनका जीवन उल्लास और आनन्द से भरा था। साथ ही कोई आध्यात्मिक या बौद्धिक परम्परा उनके पीछे नहीं थी। इसीलिए उनके जीवन में उल्लास ही नहीं, विलास का भी बोलबाला होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दिल्ली और लखनऊ के सामन्तों की मनोवृत्ति के इसी मौलिक अन्तर के आधार पर दिल्ली और लखनऊ की कविता के स्वर में भी स्वभावतः ही अ[illegible] आ गया। फ़ारसी भावभूमि की परम्परा पर आधृत होते हुए भी लखनऊ कविता मुख्यतः करुणा और आध्यात्मिकता से अलग सी ही रही (यद्यपि उसमें भी 'आतिश' के स्वर कुछ दूसरी तरह के हैं) और गंभीरता के कारण उसमें शाब्दिक सौन्दर्य पर ही अधिक ज़ोर दिया गया, लेकिन दिल्ली की कविता में भावों की प्रखरता और आध्यात्मिकता का पुट इतना स्पष्ट दिखाई देता कि दिल्ली के कवियों की एक अलग ही शैली मानी जाने लगी। इस शैली प्रमुख कवियों में 'ग़ालिब', 'ज़ौक़', 'मोमिन', बहादुरशाह 'ज़फ़र' तथा प्र[illegible] तीन कवियों के शिष्यगण आते हैं।

मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ 'ग़ालिब'—उर्दू के काव्य-गगन में छोटे-बड़े ला[illegible] सितारे चमक रहे हैं, लेकिन इनमें से सबकी नहीं तो अक्सर की रोशनी माद कर देने वाला चाँद सिर्फ़ एक है और वह है 'ग़ालिब'। डा० अब्दुर्रहमान बिजनौरी ने तो उनके दीवान को भारत की दो उल्लेखनीय पुस्तकों में माना जिनमें दूसरी पुस्तक वेद है। निश्चय ही यह प्रशंसा सीमा को पार कर ग[illegible] है और हास्यास्पद तक हो जाती है, फिर भी हम अत्यधिक भावुकता[illegible] प्रशंसा में न पड़े तो भी कह सकते हैं कि मिर्ज़ा 'ग़ालिब' ने उर्दू कविता की संकुचि[illegible] [illegible] गुंजायशें पैदा हो गयीं। उनकी चेतना भी इतनी विस्तृत थी कि काव्य-नियमों की मर्यादा तोड़

स्तर हो गयी, यहाँ तक कि प्रचलित शब्द-विन्यास आरंभ में उनकी चेतना
बोझ न सँभाल सके और उसके तीव्र प्रवाह में इतने टूट-फूट गये कि उनमें
तो सिरे से कोई अर्थ ही नहीं रह गया या कुछ अर्थ निकला भी तो इतनी
जद्दोजहद के बाद कि कविता का रस बिलकुल सूख गया। ख़ैरियत यही है कि
ग़ालिब बाद में खुद सँभल गये और उन्होंने अपनी चेतना को ऐसे मोड़ दिये
कि वह सरलता और माधुर्य के क्षेत्र में मंद-मंद गति से बहने लगी और अपने
किनारों को उसने हरा-भरा करके नन्दन कानन-जैसा बना दिया।

मिर्ज़ा 'ग़ालिब' की वंश-परम्परा तूरान (ईरान के पूर्वोत्तर भाग) के
प्रसिद्ध बादशाह अफ़रासियाब से मिलती है। मध्ययुगीन ईरान के सलजूकी
नरेश इसी वंश से थे। सलजूकियों के पतन के बाद तूरानी सामंत परेशान
होकर इधर-उधर चले गये। मिर्ज़ा 'ग़ालिब' के पितामह भी समरकन्द छोड़-
कर शाहआलम के समय में भारतवर्ष आये। इनके उच्चवंश के बावजूद दिल्ली
में इन्हें विशेष सम्मान न मिल सका, क्योंकि दिल्ली का साम्राज्य वैसे ही बरबाद
हो रहा था। शाही दरबार में इन्हें केवल पचास घोड़ों, झंडे और नक्कारे
सम्मानित किया गया। इसके अलावा मासूका एक परगना भी मिल गया।
शाह आलम के अंतिम समय में दिल्ली बिलकुल उजड़ गयी और सामंतगण
इधर-उधर भागने लगे। इसी गड़बड़ी में उनकी जागीर भी छिन गयी। मिर्ज़ा
ग़ालिब के पिता अब्दुल्ला बेग ख़ाँ लखनऊ जाकर नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार
में पहुँचे। कुछ दिनों बाद हैदराबाद जाकर निज़ाम अली ख़ाँ बहादुर की
सरकार में तीन सौ सवारों के अफ़सर नियुक्त हुए। कई बरस के बाद एक
गृह-युद्ध के चक्कर में उन्हें हैदराबाद भी छोड़ना पड़ा। वहाँ से घर आये और
अलवर में राजा बख़्तावर सिंह के यहाँ नौकर हो गये। इसी नौकरी के सिलसिले
में वे किसी युद्ध में मारे गये।

मिर्ज़ा की माता ख़्वाजा ग़ुलाम हुसैन की, जो आगरे के सेनापति और प्रसिद्ध
रईस थे, पुत्री थीं। मिर्ज़ा का जन्म १२१२ हि० (१७९६ ई०) में हुआ।
पिता की मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। पिता के
मरने के बाद मिर्ज़ा का पालन-पोषण उनके चचा नसीरुल्ला बेग ने, जो मरहठों
की ओर से अकबराबाद के सूबेदार थे, किया। १८०६ में कम्पनी का राज्य

दस हजार की बजाय तीन हजार रुपया सालाना देना ही मंजूर किया, जिसमें से मिर्ज़ा के हिस्से में सिर्फ साढ़े सात सौ रुपया सालाना ही आया। इन्होंने दरख्वास्त दी कि मेरा हिस्सा ग़बन किया गया है। इसी सिलसिले में वे कलकत्ते जाकर गवर्नर जनरल से मिले और दफ्तर दिखवाया। वहाँ पेंशन का तो कुछ मामला तय न हुआ, कुछ और सम्मान मिल गये। इंग्लैंड तक अपील करने पर भी पेंशन जैसी की तैसी रही। आगरे में रहने में कोई लाभ न देखा तो दिल्ली चले गये। कलकत्ते की यात्रा के सिलसिले में ही लखनऊ और बनारस भी गये थे। लखनऊ में तत्कालीन नवाब नसीरुद्दीन हैदर की प्रशंसा में और एक गद्यरचना उनके मन्त्री की प्रशंसा में लिखकर पेश की। बाद में नवाब वाजिद अली शाह ने ५०० रुपया वार्षिक इनके लिए निश्चित किया, किन्तु यह इन्हें दो ही वर्ष तक मिल सका, क्योंकि उसके बाद अवध के नवाब नज़रबन्द करके मटियाबुर्ज कलकत्ता भेज दिये गये।

इन सारी आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद मिर्ज़ा अमीरों की तरह हँसते-खेलते ज़िन्दगी काटते रहे। १८४२ में उन्हें टामसन साहब ने दिल्ली कालेज में अध्यापन कार्य के लिए बुलाया, किन्तु वंश गौरव की दीवार आड़े आ गयी। इसी बीच १८४७ ई० में उन्हें कोतवाल की दुश्मनी के कारण जुए के अपराध में तीन महीने का कारावास भी भोगना पड़ा। १८४९ में बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने उन्हें बुलाकर नज्मुद्दौला दबीरुलमुल्क की उपाधि दी और ५० रुपया महीना देकर तैमूरी वंश का इतिहास लिखने को कहा। मिर्ज़ा ने 'मेह्रे-नीमरोज़' शीर्षक से यह इतिहास फारसी में लिखा है। १८५४ ई० में शेख इब्राहीम 'ज़ौक़' के मरने पर बादशाह ने 'ग़ालिब' को अपना काव्य-गुरु भी नियुक्त किया। १८५५ ई० में रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली खाँ ने भी उन्हें अपना उस्ताद बना लिया और कभी-कभी रुपये-पैसे से भी सहायता करने लगे।

लेकिन यह आराम थोड़े ही दिन रहा। गदर के बाद दिल्ली के किले का वेतन तो बंद ही हो गया, अंगरेज़ी सरकार की भी पेंशन बंद हो गयी, क्योंकि बादशाह के सान्निध्य के कारण इनपर भी बागी होने का संदेह किया गया था। मिर्ज़ा बेचारे को राजनीति से दूर का भी सम्बन्ध न था, किन्तु घटनाओं के चक्र में आ ही गये। कुछ महीने इसी दशा में बीते कि कहीं इधर से कर्ज़ लिया, कहीं

उधर से। आख़िर १८५९ में नवाब रामपुर ने इनके लिए सौ रुपया महीना नियत कर दिया और कहा कि रामपुर में आकर रहें तो दो सौ रुपया महीना मिलेगा। मिर्जा कुछ दिन के लिए वहाँ गये, लेकिन फिर दिल्ली आ गये। सौ रुपया महीना खोकर भी उन्होंने दिल्ली का प्रेम क़ायम रखा। बाद में लिखा-पढ़ी करने पर और अपने को निर्दोष सिद्ध कर देने पर पुरानी पेंशन भी जारी हो गयी। इसके बाद अंत समय तक उन्हें दोनों जगहों से बराबर रुपया मिलता रहा।

जीवन के अंत काल में कई वर्षों तक 'ग़ालिब' को शारीरिक कष्ट काफ़ी रहे। उन्हें दिखाई-सुनाई बहुत कम देने लगा, अपाहिज की तरह पलंग पर पड़े रहते और नाम के लिए कुछ खा लेते थे। अंत में १५ फ़रवरी १८६९ ई० को उनका देहावसान हो गया। मिर्जा के कई संतानें हुई, किन्तु वे अल्पायु में ही काल-कवलित हो गयी। उनके वंशजों में भी अब शायद कोई नहीं है।

मिर्जा का स्वभाव उनके एक शेर से प्रकट हो जाता है, जो उन्होंने एक किते में लिखा था—

आज़ाद रौ हूँ और मेरा मसलक है सुल्हे-कुल
हरगिज़ कभी किसी से अदावत नहीं मुझे

इसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं—उनका 'आज़ाद रौ' अर्थात् स्वाधीन प्रकृति का होना और दूसरा कभी किसी से संघर्ष में न आना। स्वतन्त्र प्रकृति का हाल यह था कि धार्मिक कर्मकाण्ड को तिलांजलि दे रखी थी। शराब पीते तो मामूली तौर से थे, लेकिन उसका ढिंढोरा बहुत पीट रखा था। रोज़ा, नमाज़ आदि से कोई सरोकार न था। इस स्वतन्त्र प्रवृत्ति के साथ ही वे विद्रोह भावना से भी दूर थे। यह तो सभी मानते हैं कि उनके हृदय में शिया-सुन्नी, हिन्दू-मुसलमान किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था, मित्रों को अपने घर वालों की भाँति सम्बोधित करते थे और उनके साथ वैसा ही व्यवहार रखते थे। उल्लेखनीय बात यह है कि राजनीति में भी उन्हें किसी से विरोध न था। वे बहादुरशाह और वाजिद अली शाह के साथ ही अँगरेज हाकिमों की प्रशंसा में भी क़सीदे कहते थे और

अपने इस कृतित्व को उन्होंने कभी छुपाया नहीं। उनके इस व्यवहार को अवसरवादिता समझना भूल है। वे शुरू से ही न अँगरेजों के विरोधी थे, न मुगल साम्राज्य के। उनसे जो कोई भी सलूक करता था या जिससे भी उन्हें यह आशा होती थी कि वह उनके साथ सलूक करेगा, उसी की प्रशंसा कर देते थे। रहा वफादारी का प्रश्न, सो उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में कभी कदम ही नहीं बढ़ाया। उनका मानसिक संसार सबसे अलग था, जहाँ किसी प्रकार के सामाजिक सिद्धांत लागू नहीं किये जा सकते।

मिर्ज़ा की सर्वमान्य विशेषता उनकी विनोदप्रियता है, जो उनके सार्वभौमिक प्रेम भाव का ही प्रकटीकरण है। मिर्ज़ा के चुटकुले उर्दू संसार की स्थायी निधि बन गये हैं। आगे उनका उल्लेख किया जायेगा।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि मिर्ज़ा का व्यक्तित्व नैतिक दृष्टि से निम्न कोटि का था। उनमें आत्मसम्मान की कमी नहीं थी। उन्हें अपने उच्चवर्गीय होने का बड़ा गर्व था। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि १८४२ ई० में जब उन्हें टामसन साहब ने दिल्ली कालेज में फारसी के अध्यापन के लिए सौ रुपया महीने पर बुलाया तो यह गये, लेकिन इस प्रतीक्षा में पालकी में बैठे रहे कि साहब स्वागत के लिए आयें तो जाऊँ। साहब को मालूम हुआ तो उन्होंने आकर कहा कि आप गवर्नर के दरबार में रईस की तरह आते तो हम स्वागत करते। इस समय आप नौकरी के लिए आये हैं, नियमानुसार हम आपका वैसा स्वागत नहीं कर सकते। मिर्ज़ा ने कहा कि 'मैंने सरकारी नौकरी को यह समझा था कि इससे मेरा सम्मान बढ़ेगा, लेकिन अगर पूर्व-पुरुषों का अर्जित सम्मान भी चला जाय तो नौकरी से क्या फायदा?' यह कहकर चले आये। यह संभव है कि आज की मानसिक पृष्ठभूमि में मिर्ज़ा का व्यवहार विचित्र मालूम हो, किन्तु इससे यह तो मालूम ही होता है कि मिर्ज़ा अपने सम्मान के मानदंडों पर पूरे उतरते थे।

'ग़ालिब' के व्यक्तित्व का चित्रण बिल्कुल अधूरा रह जायेगा, अगर उनसे सम्बन्धित कुछ चुटकुले यहाँ न दिये जायें। वे बात-बात में हँसोड़पन करते थे। सारे चुटकुले जमा किये जायें तो छोटी-मोटी पुस्तक बन जाये। फिर भी कुछ चुटकुले देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

१. एक बार मिर्ज़ा पर बहुत कर्ज़ हो गया। महाजनों ने नालिश कर दी तो अदालत में शेर पढ़ा—

क़र्ज़ की पीते थे मै लेकिन समझते थे कि हाँ
रंग लायेगी हमारी फ़ाक़ामस्ती एक दिन!

मुफ़्ती सदरुद्दीन की अदालत थी। सुनकर हँस पड़े और महाजनों को अपने पास से रुपया दे दिया।

२—मिर्ज़ा की बहन बीमार थी। उन्हें देखने गये। हाल पूछने पर वे बोलीं, "मरती हूँ, कर्ज़ की फ़िक्र लिये जाती हूँ।' मिर्ज़ा बोले, "बुआ, यह भी कोई फ़िक्र है? ख़ुदा के यहाँ क्या मुफ़्ती सदरुद्दीन खाँ बैठे हैं जो पकड़वा बुलायेंगे?"

३—ग़दर के बाद मुसलमानों को सदेह की दृष्टि से देखा जाता था। मिर्ज़ा को भी तत्सम्बन्धी अंगरेज़ अधिकारी ने बुलाया और पूछा, "तुम मुसलमान है?" इन्होंने कहा, 'आधा'। उसने हैरान होकर पूछा, "यह क्या बात?" मिर्ज़ा बोले, "शराब पीता हूँ, सुअर नहीं खाता!" अधिकारी ने हँसकर इन्हें छोड़ दिया।

४—एक साहब ने इनसे कहा 'शराब पीना गुनाह है।' यह बोले, "पिये तो क्या होता है?" वे बोले 'सब से बड़ी बात है कि उसकी दुआ (प्रार्थना) कबूल नहीं होती।' मिर्ज़ा ने कहा, "आप जानते हैं शराब पीता कौन है? अव्वल तो यह कि एक बोतल ओल्डटाम की बा-सामान सामने हाज़िर हो, दूसरे बेफ़िक्री, तीसरे सेहत। आप फ़रमाइए कि जिसे यह सब कुछ हासिल हो, उसे और चाहिए क्या जिसके लिए दुआ करे?"

५—मिर्ज़ा को आम बहुत पसंद थे। एक बार एक नवाब साहब के साथ उनके बाग में टहल रहे थे। पेड़ों पर उम्दा किस्म के मीठे-मीठे आम लगे थे। मिर्ज़ा एक-एक आम को गौर से देखते जा रहे थे। नवाब साहब ने पूछा कि यह क्या करते हो, तो मिर्ज़ा ने फ़ारसी का एक शेर पढ़ा जिसका अर्थ है कि हर दाने पर यह साफ़ लिखा होता है कि यह अमुक व्यक्ति का है, जो अमुक व्यक्ति का पुत्र और अमुक का पौत्र है। शेर पढ़कर कहा कि मैं यह देख रहा हूँ!

कि इनमें से किसी आम पर मेरा और मेरे बाप-दादा का नाम लिखा है या नहीं ? नवाब हँसकर चुप हो गये और उसी दिन मिर्ज़ा के घर एक बहँगी अच्छे-अच्छे आम भिजवा दिये।

'ग़ालिब' का काव्य—'ग़ालिब' के साथ एक परेशानी यह हुई कि उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रकाशन के लिए जो क्षेत्र चुना था, वह उन्हें सहारा नहीं दे सका। पहले कहा जा चुका है कि वह सर से पाँव तक ईरानी रंग में रँगे हुए थे। उन्होंने फारसी की पूर्ण शिक्षा ग्रहण की और उसी भाषा को अपनी चेतना के प्रकाशन का माध्यम बनाया। दुर्भाग्य से उन्होंने फारसी का दामन उस समय पकड़ा जब कि भारत में उस भाषा का ज़ोर लगभग समाप्त हो चला था। किसी भी पतनोन्मुख काव्यधारा में भाव पक्ष की प्रखरता की बजाय शाब्दिक उलझन की ही अधिकता होती है और यही बात भारत में फारसी कविता के साथ हुई। अठारहवीं शताब्दी में नासिर अली और 'बेदिल' दो प्रसिद्ध फारसी कवि हुए हैं, जिनकी कविता की विशेषता भावों की प्रखरता नहीं, बल्कि जटिलता रही है। इनमें भी 'बेदिल' अपने रंग के बेजोड़ कवि हुए हैं और 'ग़ालिब' ने इन्हीं का अनुसरण किया और अपनी कविता को क्लिष्ट शब्दों तथा जटिल भावों के चमत्कारों से लाद दिया। अपने आदर्श का चुनाव निस्सदेह 'ग़ालिब' ने ग़लत किया। अगर वे 'बेदिल' की बजाय अक्बर कालीन कवि 'उर्फ़ी' को अपना आदर्श बनाते तो उनकी फारसी कविता भी थोथे पाण्डित्य-प्रदर्शन से बच जाती। उसमें बेपनाह ज़ोर आ जाता, क्योंकि 'ग़ालिब' की उन्मुक्त चेतना को 'उर्फ़ी' ही ऊँचाइयों पर भी सीधी राहों पर डाल सकता था।

'ग़ालिब' ने अधिकतर कविता फारसी में की। आरंभ में जो कविता उन्होंने उर्दू में की, वह भी मालूम होता है कि मुँह का स्वाद बदलने के लिए की। फारसी में तो फिर भी सदियों की परम्परा थी, जिसके बाद 'बेदिल' और 'ग़ालिब' की जटिलता के लिए भी स्थान बन गया था, लेकिन बेचारी उर्दू में इतना दम कहाँ था कि वह इतनी अर्थात्मक बारीकियों को सँभाल पाये ? उर्दू के लिखने वालों और समझने वालों की चेतना का इतना विकास हो ही नहीं सका था कि वे इस शाब्दिक पच्चीकारी की कद्र कर सकते। इस पर तुर्रा यह कि ग़ालिब ने यह अर्थात्मक भूल-भुलय्या भी फारसी शब्दों के आधार पर

[illegible]नार्थी थी। फलत: उनकी प्रारंभिक उर्दू कविताओं में अगर क्रिया भी उर्दू की बजाय फ़ारसी की कर दी जाय तो पूरे के पूरे शेर फ़ारसी के हो जायें। ऊपर से उनकी अर्थात्मक जटिलता। इसीलिए इन शेरों को लोगों ने निरर्थक कहना शुरू कर दिया। एक मुशायरे में हकीम आगा जान 'ऐश' ने तंग आकर 'ग़ालिब' को सुनाने को यह कसीदा पढ़ दिया—

> अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे
> मज़ा कहने का जब है इक कहे और दूसरा समझे
> ज़बाने 'मीर' समझे और कलामे-मीरज़ा समझे
> मगर इनका कहा यह आप समझें या ख़ुदा समझे

अन्य लोग भी इनकी कविता का मज़ाक उड़ाते थे। इनके तर्ज़ पर शेर कहने के नाम पर निरर्थक शेर कहा करते और इन्हें सुनाते। एक साहब तो यहाँ तक बढ़ गये कि इनसे जाकर कहा कि आपका एक शेर समझ में नहीं आया, उसका अर्थ बता दें तो कृपा होगी। पूछने पर उन्होंने शेर पढ़ा—

> पहले तो रोग़ने-गुल भैंस के अण्डे से निकाल
> फिर दवा जितनी है कुल भैंस के अण्डे से निकाल

मिर्ज़ा हैरान होकर बोले कि यह शेर मेरा कहां है? कहकहा पड़ा तो समझे कि मज़ाक उड़ाया गया था।

'ग़ालिब' अपने उग्रताहीन स्वभाव के कारण इन मज़ाकों पर हँसते रहते लेकिन उन्हें दुख भी होता था। इसी झुंझलाहट में उन्होंने कभी-कभी ऐसे शेर भी कह डाले—

> न सतायश की तमन्ना न सिले की परवा
> न सही गर मेरे अशआर में मानी न सही

फिर भी उन्होने महसूस किया कि यह रविश ठीक नहीं है। उर्दू का दौर-दौरा देखकर फ़ारसी का भी पहले वाला मोह न रहा था। अब उन्होंने क्लिष्टता को छोड़कर केवल कल्पना की उड़ान को उन्मुक्त किया और अपनी प्रतिभा का

पूरा जोर दिखा दिया। इसी काल की कविता के बल पर 'गालिब' को देश में ही नहीं, देश के बाहर ख्याति मिली है। इसलिए इस काल की कविता की विस्तृत आलोचना आवश्यक है।

'गालिब' को दार्शनिक कवि कहा जाता है। मालूम नहीं यह भ्रम किसने और कब फैलाया—शायद डा० अब्दुर्रहमान बिजनौरी ने यह शब्द पहले पहल प्रयोग किया हो। फिर भी यह भ्रम बहुत फैला हुआ है। दर्शन या फिलासफी एक व्यवस्थित चिन्तन को कहते हैं। प्रत्येक दर्शन में सारी चीजों को एक विशेष दृष्टिकोण से देखा जाता है, उसमें प्रत्येक अवलोकन का एक दूसरे से पूर्ण समन्वय होता है। 'गालिब' के यहाँ कोई व्यवस्थित चिन्तन नहीं मिलता, हाँ व्यवस्थित चिन्तन के प्रति विद्रोह जरूर मिलता है। 'गालिब' की चेतना इतनी विस्तृत थी कि उसने प्रत्येक व्यवस्था के बंधन तोड़ दिये थे। सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का तो जिक्र ही क्या है, उन्होंने सूफीवाद जैसी व्यक्तिवादी विचार-धारा को जगह-जगह टक्कर मारकर तोड़-फोड़ डाला है। दरअस्ल 'गालिब' किसी प्रकार की भी व्यवस्था के विरोधी हैं। उनका व्यक्तिवाद सबसे बढ़ा-चढ़ा है। यदि उन्हें अराजकतावादी या अव्यवस्था-वादी नहीं कहा जाता तो उसका कारण यही है कि उनकी चेतना इतनी प्रखर थी कि उनके इस तोड़-फोड़ में भी निर्माण की झलक मिलने लगती है। इसी के आधार पर दार्शनिकता का भ्रम पैदा हुआ है।

'ग़ालिब' का व्यक्तित्व अपने को इतना पूर्ण समझता है कि उसे न धर्म की परवा है न परम्परा की (प्रेम की परम्परा की भी नहीं), इसीलिए तो वे बेझिझक कह सकते हैं—

> वफ़ा कैसी कहाँ का इश्क़ जब सर फोड़ना ठहरा
> तो फिर ऐ संग-दिल तेरा ही संगे-आस्ताँ क्यों हो
> दर्शादिश को अहमकों ने परस्तिश दिया क़रार
> क्या पूजता हूँ उस बुते-बेदादगर को मैं

'गालिब' का हर बात में नयी बात पैदा करना, हर बात को नयी तर्ज़ में कहना, यहाँ तक कि बहुत हद तक काव्य-नियमों की उपेक्षा भी उनमें इसी

नव व्यक्तिवाद की दलील है। विभिन्न मान्यताएँ एक दूसरे का विरोध
ती हैं। 'गालिब' न किसी के साथ थे, न किसी के विरुद्ध। वे इस ऊहापोह
मनोरंजन की दृष्टि से देखते थे, जैसे कि कोई वयस्क बच्चों के खेलों में
लेने लगे—

> बाज़ीचए अतफ़ाल है दुनिया मेरे आगे
> होता है शबो-रोज़ तमाशा मेरे आगे
> ईमां मुझे रोके है तो खींचे है मुझे कुफ़्र
> काबा मेरे पीछे है कलीसा मेरे आगे

'गालिब' का व्यक्तिवाद उनकी काव्य-चेतना में ही नहीं, उनके वैयक्तिक
न में भी परिलक्षित होता है। एक ओर तो वे बीसवीं शताब्दी के नास्तिकों
ांति जीवन व्यतीत करते थे, दूसरी ओर उनकी वेशभूषा बिलकुल पुराने
ी थी। दोनों की तह में सबसे अलग ढंग अपनाने का आग्रह था। उनसे
म्बित एक चुटकुला है, जिससे उनकी मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है।
ने भविष्यवाणी की थी कि एक निश्चित समय पर मरूंगा। उस साल
, तो किसी मित्र ने याद दिलायी कि आप की भविष्यवाणी गलत हुई।
मित्र को 'गालिब' खत में लिखते हैं कि भविष्यवाणी गलत नहीं थी, किन्तु
र्ष महामारी फैली थी, इतने लोगों के साथ मरना ठीक न समझा।
'गालिब' की कविता का तीसरा युग उनका अंतिम काल है, जब उनकी
याँ जवाब दे रही थीं। इस समय की कविता में नयी राहें निकालने का
नहीं है, किन्तु निराशा की भावना ने शब्दों तथा वर्णन के ढंग में सादगी
र दी है और करुणा बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से उभर कर सामने आयी है।
ब' ने शायद अनजाने ही इस प्रकार प्रभावपूर्ण सरल कविता के लिए
ार फिर रास्ता साफ़ कर दिया।
ालिब' का गद्य—'गालिब' ने उत्कृष्ट साहित्य समझ कर फारसी में
ौर पद्य दोनों लिखे। एक फारसी शेर में वे कहते हैं कि मेरी उर्दू रचनाएँ
हैं, देखना हो तो फारसी देखो। किन्तु उनकी ख्याति गद्य और पद्य दोनों
उर्दू के कारण हुई, जिसे वे बेकार समझे बैठे थे और उनकी उर्दू रचनाओं

ने ही उनकी मृत्यु के बाद उर्दू की राह मोड़ दी। फारसी में उन्होंने गंभीरतापूर्ण गद्य, इतिहास आदि, लिखा, उर्दू में केवल मित्रों को पत्र लिखे। लेकिन जहाँ 'मिहे-नीमरोज़' केवल पुस्तकालयों की शोभा है, वहीं उनके उर्दू पत्र दो संग्रहों में प्रकाशित होकर उर्दू गद्य साहित्य की अमूल्य निधि बन चुके हैं।

'ग़ालिब' से पहले फारसी के ढंग पर उर्दू के मुंशी लोग भी बड़े बनावटी और भारी भरकम ढंग से पत्र लिखा करते थे। आधा पत्र तो अल्काब-ओ-आदाब (प्राप्त कर्ता के प्रति सम्बोधन) में ही निकल जाता था, उसमें तरह-तरह के रूपकों और उपमाओं से काम लिया जाता था। शेष पत्र में भी जो कुछ तथ्य होता था, वह साहित्यिकता के जंगल में ऐसा फँसा होता था कि मुंशी लोग ही बस लिख पाते थे और मुंशी ही उन्हें पढ़कर मतलब की बात निकाल पाते थे। भाषा दस में से नौ भाग अरबी-फारसी होती थी, एक भाग उर्दू। गद्य होने पर भी वाक्यों या वाक्यांशों को तुकान्त रखा जाता था और पत्र, पत्र न रह कर किसी धर्म ग्रंथ का अंश मालूम होता था। ऐसा पत्र न लिखना अयोग्यता-सूचक समझा जाता था।

'ग़ालिब' ने इस तरीके को बिलकुल छोड़ दिया। अनजाने में कभी-कभी तुकान्त वाक्य या वाक्यांश उनकी लेखनी से भी निकल जाते हैं, और फारसी के शब्द भी उनके पत्रों में अधिक हैं (जो स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे सबसे पहले फ़ारसी में ही सोचते थे)। इन दो बातों के अलावा उनके पत्र पुराने पत्रों से बिलकुल अलग हैं। अल्काब-आदाब में सतरें की सतरें रंगने की बजाय वे 'मुशफ़िक़', 'मेरे शफ़ीक़', 'मेरी जान', 'सय्यद साहब' आदि से आरंभ कर देते हैं। चूँकि पत्र की भाषा और लहजा बिलकुल ऐसा होता था जैसे कि पत्र पाने वाले से बातचीत कर रहे हैं, इसलिए एक आध पत्र का आरंभ भी नाटकीय कथनोपकथन के ढंग से किया है। बात जो कहनी होती थी, उसे संक्षिप्त शब्दों में कहते थे, लेकिन कुछ इस तरह से कहते थे कि शुष्कता बिलकुल न रहती थी और मालूम होता था कि छेड़-छाड़ के ढंग से बातें कर रहे हैं। अन्त भी ऐसा ही संक्षिप्त होता था। कुछ उदाहरणों से उनके पत्र-लेखन की विशेषताएँ स्पष्ट हो जायेंगी।

(मीर मेहदी के नाम)

"जाने-गालिब ! अब की ऐसा बीमार हो गया था कि मुझको खुद अफ़सोस था। पाँचवें दिन गिज़ा खायी। अब अच्छा हूँ, तन्दुरुस्त हूँ। ज़िलहिज्ज १२७६ हि० तक कुछ खटका नहीं है। मुहर्रम की पहली तारीख़ से अल्लाह मालिक है। मीर नसीरुद्दीन आये कई बार, मैंने उनको देखा नहीं। अबकी बार दर्द में मुझको गफ़लत बहुत रही, अक्सर अहबाब के आने की खबर नहीं हुई। जब से अच्छा हुआ हूँ सय्यद साहब नहीं आये। तुम्हारे आँखों के गुबार की वजह यह है कि जो मकान दिल्ली में ढाये गये और जहाँ-जहाँ सड़कें निकली, जितनी गर्द उडी उसको आपने अज़राहे-मुहब्बत अपनी आँखों में जगह दी। बहरहाल अच्छे हो जाओ और जल्द आओ।"

(यूसुफ मिर्ज़ा को उनके पिता की मृत्यु पर)

"यूसुफ मिर्ज़ा ! तुझको क्योंकर लिखूँ कि तेरा बाप मर गया। और अगर लिखूँ तो फिर आगे क्या लिखूँ कि अब क्या करो मगर सब्र। यह एक शेवए फरसूदा अब्नाए-रोज़गार का है। ताज़ियत यूँही किया करते हैं और यही कहा करते हैं कि सब्र करो। भला एक का कलेजा कट गया है और लोग उसे कहते हैं कि तू न तड़प। भला क्यों न तड़पेगा ? सलाह इसमें नहीं बतायी जाती, दुआ को दख्ल नहीं, दवा का लगाव नहीं। पहले बेटा मरा फिर बाप। मुझसे कोई पूछे कि बे-सरो-पा किसे कहते हैं तो मैं कहूँगा यूसुफ मिर्ज़ा को। तुम्हारी दादी लिखती है कि रिहाई का हुक्म हो चुका था। यह बात है तो जवा मर्द एक बार दोनों कैदों से छूट गया, न कैदे-हयात रही न कैदे-फिरंग।"

(मुंशी हरगोपाल 'तफ़्ता' के नाम)

"बस अब तुम इस्कन्दराबाद में रहे, कहीं और क्यों जाओगे ! बंक घर का रुपया खा चुके हो, अब कहाँ से खाओगे ? मियाँ ! न मेरे समझाने को दख्ल है न समझने की जगह है। एक चर्ख है कि वह चला जाता है, जो कुछ होना है वह हुआ जाता है। इख़्तियार हो तो कुछ किया जाय, कहने की जगह हो तो कहा जाय। मुझको देखो, न आजाद हूँ न मुकय्यद, न रञ्जूर हूँ

न तन्दुरुस्त, न नुग हूँ न नातुश, न मुर्दा हूँ न जिन्दा। जिये जाता हूँ, बातें किये जाता हूँ, रोटी रोज खाता हूँ, शराब गाह-ब-गाह पिये जाता हूँ। जब मौत आयेगी मर भी रहूँगा। न शुक्र है, न शिकायत है, जो तकरीर है बतबीले-हिकायत है।"

(नवाब अलाउद्दीन खाँ के नाम)

"मिर्जा! बड़ी मुसीबत में हूँ। महलसरा की दीवारें गिर गयीं, पाखाना ढह गया, छतें टपक रही हैं। तुम्हारी फूफी कहती हैं हाय! दबी, हाय! मरी। दीवान-खाने का हाल महलसरा से बदतर है। मैं मरने से नहीं डरता, लेकिन फुकदाने-राहत से घबरा गया हूँ। अब्र दो घंटे बरसे तो छत चार घंटे बरसती है। अगर कोई चाहे कि मरम्मत करे तो क्यों कर करे। मेंह खुले तो सब कुछ हो। और फिर अस्नाए-मरम्मत में बैठा किस तरह रहूँ। अगर तुम से हो सके तो बरसात तक भाई से मुझको वह हवेली जिसमें मीर हसन रहते थे, अपनी फूफी को और कोठी में से वह बाराखाना मए-दालानें-जेरों जो इलाही बख्श मरहूम का मसकन था, मेरे रहने को दिलवा दो। बरसात गुजर जायेगी, मरम्मत हो जायेगी। फिर साहब और मेम और बाबा लोग अपने क़दीम मसकन में आ रहेंगे। तुम्हारे वालिद के जहाँ मुझ पर बहुत अहसान हैं, एक यह मुरव्वत का अहसान मेरे पायाने-उम्र में और सही।"

'ग़ालिब' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) ऊदे हिन्दी (उर्दू पत्रों का संग्रह), (२) उर्दू-ए-मुअल्ला (उर्दू पत्रों का दूसरा संग्रह), (३) उर्दू ग़ज़लों क़सीदों आदि का दीवान, (४) फारसी कुल्लियात (काव्य-संग्रह), (५) लताइफ़े-ग़ैबी (फ़ारसी), (६) तेग़े-तेज़ (उर्दू गद्य-रचना जो एक साहित्यिक बहस में लिखी गयी थी), (७) नामए-ग़ालिब (इसी प्रकार की फ़ारसी रचना), (८) क़ातए-बुरहान (प्रसिद्ध कोष बुरहान क़ाते का खंडन जिसपर साहित्यिक बहस छिड़ गयी थी), (९) पंज आहंग (फ़ारसी गद्य), (१०) मेहे-नीमरोज़ (तैमूरिया वंश का फ़ारसी में लिखित इतिहास), (११) दस्तम्बो (ग़दर का फ़ारसी में वर्णन) और (१२) सबदे-चीन (फ़ारसी की फुटकर कविताएँ)।

मिर्ज़ा के शिष्यों में सबसे पहले ख्वाजा अल्ताफ हुसैन 'हाली' का नाम आता है, जिन्होंने 'गालिब' की सहमति से ही उनसे पृथक् मार्ग अपनाया, किन्तु उर्दू काव्य में अमर हो गये। अन्य शिष्यों में मीर मेहदी मजरूह जिनका दीवान 'मजहरे-फानी' के नाम से छपा; मिर्ज़ा कुरबान अली बेग 'सालिक' जिन्होंने दीवान 'हजारे-सालिक' छोड़ा है; नवाब सय्यद जकरिया खाँ ज़की जिन्होंने एक दीवान छोड़ा है; नवाब जियाउद्दीन अहमद खाँ 'रख्शां' व 'नय्यर' जो अपने काल में इतिहास के विद्वान माने जाते थे, और मुफ्ती सद्रुद्दीन 'आज़ुर्दा' जो दिल्ली के जज थे और सर सय्यद के गुरु थे, के नाम प्रमुख हैं।

मिर्ज़ा 'गालिब' की कविता के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

(प्रारंभिक काल)

नक्श फ़रियादी है किसकी शोख़ीए तहरीर का
काग़ज़ी है पैर इन हर पैकरे तस्वीर का
आगही दामे-शनीदन जिस कदर चाहे बिछाय
मुद्आ अनक़ा है अपने आलमे तक़रीर का
न होगा यक बयाबां मांदगी से शौक कम मेरा
हुबाबे-मौजए रफ़्तार है नक़्शे-कदम मेरा
सरापा रहने इश्क़ो नागुजीरे-उल्फ़ते-हस्ती
इबादत बर्क़ की करता हूँ और अफ़सोस साहिल का

(मध्य काल)

दोस्त गमख्वारी में मेरी सई फ़रमायेंगे क्या
ज़ख्म के भरने तलक नाखुन न बढ़ आयेंगे क्या
बे-नियाज़ी हद से गुज़री, बन्दा-परवर कब तलक—
हम कहेंगे हाले-दिल और आप फ़रमायेंगे 'क्या ?'
गर किया नासिह ने हमको क़ैद, अच्छा यूँ सही
यह जुनूने इश्क के अंदाज छुट जायेंगे क्या

है अब इस मामूरे में कहते-ग़मे-उल्फत 'असद'
हमने यह माना कि दिल्ली में रहें खायेंगे क्या

इशरते-कतरा है दरिया में फना हो जाना
दर्द का हद से गुज़रना से दवा हो जाना
अब जफा से भी हैं महरूम हम अल्ला-अल्ला
इस क़दर दुश्मने-अरबाबे-वफा हो जाना
है मुझे अब्रे बहारी का बरस कर खुलना
रोते-रोते ग़मे-फ़ुरकत में फ़ना हो जाना

आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक
कौन जीता है तेरी जुल्फ़ के सर होने तक
दामे-हर-मौज में है हल्कए सद-कामे निहंग
देखें क्या गुज़रे है क़तरे पे गुहर होने तक
हमने माना कि तग़ाफ़ुल न करोगे लेकिन
ख़ाक हो जायेंगे हम तुमको ख़बर होने तक
ग़मे-हस्ती का 'असद' किससे हो जुज मर्ग इलाज
शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक

(अंतिम काल)

कोई दिन गर ज़िन्दगानी और है
अपने जी में हमने ठानी और है
बारहां देखी हैं उनकी रंजिशें
पर कुछ अबके सरगरानी और है

कोई उम्मीद बर नहीं आती
कोई सूरत नज़र नहीं आती
आगे आती थी हाले-दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती

मौत का एक दिन मुअय्यन है
नींद क्यों रात भर नहीं आती

दिले-नादाँ तुझे हुआ क्या है
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है
हम हैं मुश्ताक़ और वह बेज़ार
या इलाही ये माजरा क्या है
हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है
हमने माना कि कुछ नहीं 'ग़ालिब'
मुफ़्त हाथ आये तो बुरा क्या है

हकीम मोमिन ख़ाँ 'मोमिन'—उर्दू काव्य में 'मोमिन' का एक विशेष महत्त्व है। उनका क्षेत्र मुख्यतः प्रेम-व्यापार होते हुए भी उन्होंने वर्णन में जो तड़प पैदा की, वह उन्हीं का हिस्सा थी। वर्णन-सौन्दर्य की तारीफ़ यह है कि ये अभिव्यक्ति की मौलिकता और भावपक्ष की प्रबलता दोनों के लिए प्रसिद्ध हो गये और उर्दू में अपना नाम अमर कर गये।

मोमिन ख़ाँ के पिता का नाम हकीम गुलाम नबी और पितामह का हकीम नामदार ख़ाँ था। यह कश्मीर के पुराने उच्च वंश के रत्न थे। मुग़ल साम्राज्य के अंतिम काल में हकीम नामदार ख़ाँ और उनके भाई कामदार ख़ाँ कश्मीर से आकर दिल्ली बस गये थे और शाही हकीमों में से हो गये थे। शाह आलम के ज़माने में उन्हें परगना नारनौल में कुछ जागीर मिली। अँगरेज़ी सरकार ने जब नवाब फ़ैज़तलब ख़ाँ को झज्झर की रियासत दी तो परगना नारनौल भी उसमें शामिल था। इस प्रकार इस वंश के लोगों के हाथ से जागीर भी निकल गयी, लेकिन उसके बदले हज़ार रुपया सालाना की पेंशन मिलने लगी, जिसका कुछ भाग मोमिन ख़ाँ को भी मिलता था। इसी प्रकार इस वंश के चार हकीमों को वैसे भी सौ रुपया महीना अँगरेज़ी सरकार देती थी, जिसमें से इनका भाग इन्हें मिलता रहा।

इनका खानदानी घर दिल्ली के कूचा चेला में था। उसी में १२१५ हि० (१८०० ई०) में इनका जन्म हुआ। बचपन की साधारण शिक्षा के बाद इन्होंने शाह अब्दुल्कादिर से अरबी की शिक्षा ग्रहण की। इनकी बुद्धि प्रखर थी। जो सुनते थे तुरन्त याद हो जाता था। जब अरबी में कुछ चल निकले तो अपने पिता तथा अपने चचा गुलाम हैदर खाँ और गुलाम हसन खाँ से तिब (यूनानी चिकित्सा-शास्त्र) की शिक्षा ली और उन्हीं के मतिब (औषधालय) में चिकित्सा-कार्य आरंभ कर दिया।

हकीम मोमिन खाँ की प्रतिभा केवल हकीमी और कविता तक ही सीमित नहीं रही। उन्होंने ज्योतिष में भी दूर-दूर तक नाम कर लिया था। इस विद्या में इन्हें ऐसी पूर्णता प्राप्त थी कि वर्ष भर में केवल एक बार तकवीम (पञ्चाङ्ग) देखते थे और सारे वर्ष के लिए ग्रहों की स्थिति मस्तिष्क में बनी रहती। कोई कुछ पूछने आता तो न पञ्चाङ्ग देखते न उसकी जन्मकुण्डली, उसे कुछ कहने भी न देते थे, खुद ही उससे पूछते जाते थे 'यह हुआ?' 'वह हुआ?' और वह मानता जाता था।

एक बार एक साधारण हैसियत का हिन्दू इनके पास रोता हुआ आया। मोमिन खाँ ने उसे देखते ही पूछा, "तुम्हारा कुछ माल जाता रहा है?" उसने कहा "साहब, लुट गया।" कहा, "तुम चुप रहो, जो पूछते जायें उसका 'हाँ' 'ना' में उत्तर देते जाओ।" फिर पूछा कि 'तुम्हारा जेवरों का डिब्बा खो गया है?' उसके स्वीकार करने पर कहा, "तुम्हारे घर में ही है, कहीं नहीं गया है।" वह कहने लगा कि घर का तो कोना-कोना छान मारा, कहीं नहीं है। इस पर इन्होंने उसके घर का पूरा नक्शा बता दिया और कहा कि दक्षिण वाली कोठरी के उत्तर वाले मचान पर डिब्बा रखा है। वह कहने लगा—वहाँ भी देख लिया। इन्होंने कहा "नहीं, फिर जाकर अच्छी तरह देखो।" वह गरीब फिर गया और रोशनी लेकर जब मचान को देखा तो एक कोने में जेवरों का डिब्बा सही-सलामत मिल गया।

इसी प्रकार एक बार इनके साथ अन्य मित्रों के अतिरिक्त इनके शिष्य हकीम सुखानन्द 'राक़िम' भी बैठे थे। 'मोमिन' ने उनसे कहा, "आज हम

तुम्हारी ज्योतिष विद्या की परीक्षा लेते हैं। यह छिपकली जो दीवार पर बैठी है, कब तक यहाँ से हटेगी ?" उन्होंने हिसाब लगाकर बताया कि एक घंटे में हटेगी। मोमिन बोले, "जब तक इसका जोड़ा पूर्व दिशा से नहीं आ जाता तब तक यह नही हट सकती।" 'हाकिम' ने यह बात न मानी। दोनों प्रतीक्षा करते रहे। जिस दालान में बैठे थे उसमें कई ओर दरवाज़े थे। दो-ढाई घंटे बाद पूर्व के द्वार से एक कपड़े की फेरी वाला बढ़िया कपड़ा लिये उन्हें दिखाने आया। उसने गठरी खोली तो उसमें से पट से एक छिपकली गिरी और फिर दोनों छिपकलियाँ एक ओर भाग गयीं।

ज्योतिष के अतिरिक्त शतरंज का भी इन्हें बड़ा शौक था। जब खेलने बैठते तो दीन-दुनिया किसी की खबर न रहती थी और घर के ज़रूरी काम तक भूल जाते थे। दिल्ली के प्रसिद्ध शतरंजबाज़ करामत अली से इनकी बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी। दिल्ली जैसे शहर में इनके ज़माने में शतरंज के दो ही एक खिलाड़ी ऐसे थे जो इनसे अच्छी शतरंज खेल सकते हों।

'मोमिन' का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। लम्बा छरहरा बदन, गोरी गुलाबी रंगत, बड़ी-बड़ी आँखें, ग़िलाफ़ी पलकें, चौड़ा माथा, लम्बी सुतवा नाक, पतले होंठ, घुंघराले बाल, चौड़ा सीना, पतली कमर, हलकी-हलकी दाढ़ी मोछें—तात्पर्य यह कि कश्मीरी सौन्दर्य की जीती-जागती प्रतिमा थे। अच्छा खाने, पहनने, इत्र, फूल आदि सभी का शौक था। बग़ैर कुरते के नीची चोली का शरबती मलमल का अंगरखा, लाल गुलबदन का पाजामा और गुलशन की टोपी लगाते थे। गुलबदन और गुलशन उस समय के बड़े कीमती कपड़े थे। मकान में सहन और दालान बड़े-बड़े थे। ऊपर की दालान में बढ़िया कालीन पर गावतकिया लगाकर बैठते थे। तश्तरी में चान्दी का हुक्का सामने रखा रहता। शिष्यगण, ज्योतिषी, हकीम, शहज़ादे, अमीरज़ादे, व्यापारी आदि सभी मिलने-वाले शिष्टता-पूर्वक सामने बैठे रहते थे। मालूम होता था किसी बड़े अमीर का दरबार लगा है।

'मोमिन' खुद जागीरदार नहीं थे, लेकिन उन्होंने किसी दरबार की खाक भी नहीं छानी। थोड़ी-बहुत जो कुछ पेंशन मिलती थी, उससे और हकीमी से

होनेवाली आमदनी के सहारे अपने शौक पूरे करते थे, लेकिन खर्च भी कायदे के साथ करते थे। सारी जिन्दगी रुपये के लिए किसी के आगे हाथ फैलाने की जरूरत नहीं पड़ी। बहुत-से रईसों ने उन्हें बुलाया। टोंक के नवाब तो उन्हें जबर्दस्ती कुछ दिन के लिए अपने साथ ले गये थे, लेकिन वही और यह न गये। भोपाल के नवाब इन्हें बुलाते रहे, रामपुर और जहाँगीराबाद के दरबारों से भी निमन्त्रण आते रहे, लेकिन यह न गये। महाराजा कपूरथला ने ३५० रुपये मासिक पर बुलाया, न गये। पंजाब के लेफ्टीनेंट गवर्नर मि० टामसन ने 'ग़ालिब' के मना करने पर इन्हें दिल्ली कालेज की अरबी की प्रोफ़ेसरी देनी चाही, लेकिन वेतन अस्सी रुपये बताया। इन्होंने सौ रुपये मांगे तो उन्होंने कहा सौ रुपये लेने हों तो मेरे साथ पंजाब चलो, इन्होंने वह भी स्वीकार नहीं किया। दिल्ली के दरबार में जरूर जाते रहते थे, लेकिन दिल्ली-नरेश के लिए इन्होंने कोई कसीदा नहीं लिखा। सामंत वर्ग में से सिर्फ़ दो के लिए इन्होंने कसीदे लिखे हैं—एक टोंक के नवाब के लिए, जो इन्हें जबर्दस्ती अपने साथ ले गये थे, और दूसरा पटियाला के महाराज अजीतसिंह के लिए, जिन्होंने राह चलते इन्हें बुलाकर एक हथिनी इनको भेंट की। 'मोमिन' ने घर आकर सबसे पहले हथिनी को बेच डाला, तब कोई दूसरा काम किया।

'मोमिन' सजीले जवान और शौक़ीन तबीयत आदमी थे ही, जवानी बड़ी मस्ती के साथ राग-रंग में काटी, किन्तु प्रौढ़ावस्था आने पर सारी विषय वासनाओं का परित्याग कर दिया था। इनकी मसनवियों और कुछ गज़लों में इनकी जवानी की रंगरेलियों की झलक मिलती है।

'मोमिन' ने दिल्ली से निकल कर सिर्फ़ एक बार यात्रा की। जब टोंक गये तो उसी सिलसिले में रामपुर, सहसवान, बदायूँ, जहाँगीराबाद और सहारनपुर तक का चक्कर लगा आये थे।

'मोमिन' का आत्म-सम्मान अपनी विद्वत्ता के मामले में बहुत बढ़ा-चढ़ा है। अपने समकालीनों 'ज़ौक़' और 'ग़ालिब' को तो कुछ समझते ही न थे, फ़ारसी के पुराने उस्तादों तक को खातिर में न लाते थे। उनका कौल मशहूर था कि "शेख सादी की गुलिस्ताँ में क्या है? "गुफ्त-गुफ्त, गुफ्ता अंद गुफ्ता अंद"

(अर्थात् 'क्या है') कहता चला जाता है। इन शब्दों को काट दो तो कुछ भी नहीं रहता।" तारीखें लिखने में 'मोमिन' ने कमाल किया है और अन्य कई काव्य रूप—मर्सिये आदि भी लिखे हैं, जिनसे मालूम होता है कि उनकी काव्य-सर्जन शक्ति बड़ी प्रबल थी, किन्तु स्थिर न थी।

उनका विवाह एक सूफी वंश के घर में हुआ था। उनके श्वसुर मीर मुहम्मद नसीर मुहम्मदी 'रंज' थे, जो 'दर्द' की गद्दी के उत्तराधिकारी मीर कल्लू नसीरा के पुत्र थे। 'मोमिन' के एक पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। उनके पुत्र का नाम अहमद नसीर खाँ था।

कविता में 'मोमिन' ने कुछ दिनों तक शाह 'नसीर' का शिष्यत्व ग्रहण किया था, किन्तु बाद में स्वयं अपनी कविता में संशोधन करने लगे। स्वयं इनके काव्य-शिष्यों में बड़े प्रसिद्ध कवि और विद्वान् हुए हैं। इनमें से प्रमुख हैं—(१) नवाब मुस्तफ़ा खाँ 'शेफ्ता', जो उर्दू कवियों के प्रसिद्ध वृत्तांत 'गुलशने-बेख़ार' के रचयिता और बड़े प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, 'ग़ालिब' के मित्रों में से भी थे; (२) नवाब शेफ्ता के छोटे भाई नवाब मुहम्मद अकबर खाँ 'अकबर'; (३) मीर हुसैन 'तसकीन' जो बाद में रामपुर के दरबार में चले गये, बिलकुल 'मोमिन' के रंग में शेर कहते थे, (४) मिर्ज़ा असग़र अली खाँ 'नसीम' देहलवी, जिनके योग्य शिष्यों 'तसलीम' और 'हसरत' मोहानी ने 'मोमिन' की परम्परा और शैली को उर्दू काव्य में प्रतिष्ठापित करने में बड़ा योगदान किया, (५) मीर 'तसकीन' के पुत्र मीर अब्दुर्रहमान 'आसी' जो रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ के समय के दरबारी कवि थे (६) 'क़लक' मेरठी और (७) आशुफ्ता अलवरी।

'मोमिन' की मृत्यु अल्पायु में ही हो गयी। १८५१ ई० में वे अपने मकान में कुछ परिवर्तन करा रहे थे कि कोठे पर से गिर पड़े और उनका हाथ टूट गया। गिरने के रोज़ ही भविष्यवाणी की कि पाँचवें दिन या पाँचवें महीने या पाँचवें वर्ष में मर जाऊँगा। उनकी मृत्यु कोठे से गिरने के पाँचवें महीने में हुई। मरने की 'तारीख़' ख़ुद कही थी "दस्तो-बाज़ू बशिकस्त" (हाथ और बाहु टूट गयी)। इस तारीख़ से १२६८ के अंक निकलते हैं और उनके मरने का हिजरी

हिसाब से यही सन् था। कहा जाता है कि मरने के बाद भी वे लोगों को स्वप्न में दिखाई देते रहे और सच्ची बातें बताते रहे, किन्तु इसे श्रद्धा और अंध-विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

'मोमिन' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) उर्दू कुल्लियात, जिसमें ग़ज़लों का एक दीवान, ६ मसनवियाँ, बहुत-से क़सीदे, तारीख़ें और विविध कविताएँ हैं, (२) फ़ारसी का दीवान, (३) 'इंशाए-फ़ारसी', जिसमें फ़ारसी गद्य-लेखन के नमूने थे (अब अप्राप्य है), (४) 'जाने-उरूज', यह काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ था जिसे 'तसलीम' ले गये थे, लेकिन उनके यहाँ से खो गया, (५) 'शरहे-सदीदी व नफ़ीसी'—फ़ारसी के उक्त कवियों की रचनाओं की व्याख्या, (६) 'रिसाले-पान'—पान संबंधी पुस्तक तथा (७) कुछ और पत्र तथा लगभग डेढ़ सौ ग़ज़लें जो अलवर के पुस्तकालय में हैं।

संभवतः बहादुरशाह-कालीन दिल्ली में 'मोमिन' ही ऐसे कवि थे जिनकी शैली और जिनकी परम्परा अभी तक कायम है। इसका कारण स्पष्ट है। 'मोमिन' अपने अधिकतर समकालीनों की भाँति बेतरह वर्णन क्षेत्र में बाल की खाल निकालने के पक्षपाती नहीं थे। उनका वर्ण्य विषय अत्यंत सीमित है—भौतिक प्रेम से आगे की बात वे नहीं करते। लेकिन चूँकि उनका हृदय अत्यंत संवेदनशील था और चूँकि परिस्थितियों ने उन्हें प्रेम के क्षेत्र में खुलकर खेलने का मौका पूरी तरह दिया, अतएव उनकी कविता में प्रभाव बहुत अधिक पैदा हो गया है। वे सूफ़ी आध्यात्मिकता का सहारा लिये बग़ैर ही ठेठ भौतिक प्रेम की बातें इतने चमत्कारपूर्ण प्रभाव के साथ करते थे कि उनके शेर अभी तक रसज्ञों के कानों में गूँजते हैं और उर्दू साहित्य में मुहावरों और कहावतों का रूप धारण कर चुके हैं। उनके शेरों में तथ्य रूप से कुछ विशेष न होते हुए भी वे दिल में चुभ जाते हैं।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्णन क्षेत्र में 'मोमिन' की रचनाएँ कुछ कमज़ोर हैं। 'मोमिन' को काव्य-शास्त्र में पूर्ण दक्षता प्राप्त थी। यह सही है कि उन्होंने ढेर सी कविताएँ नहीं की हैं, किन्तु उनका मस्तिष्क इतना ग्रहणशील था कि जो सफ़ाई अन्य कवि वर्षों की साधना के बाद ला पाते हैं, वह 'मोमिन'

ने सहज ही प्राप्त कर ली थी। उनके काव्य में न कहीं शैथिल्य है, न कहीं काव्य-नियमों का उल्लघन। वे 'नासिख' की तरह बाल की खाल नही निकालते थे, न 'गालिब' की तरह विचारों और कल्पना की उडान में काव्योद्यान के नाजुक फूलों और बेलों को कुचलते चले जाते थे। किन्तु वर्णन-सौन्दर्य और भावोत्कर्ष के इन दोनों चरम बिन्दुओं के बीच उन्होंने ऐसा सम्यक् मार्ग निकाला था कि रसज्ञों को अबतक उनकी काव्य-कला की सराहना करनी पड़ती है। उनके विचारों को समझने के लिए दिमाग़ लडाना नही पडता, न उनके वर्णन-सौन्दर्य की बारीकियों को आतशी शीशे की मदद से देखना पडता है। अपनी प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा के बल पर उन्होंने एक ऐसी सहजता-पूर्ण वर्णन-शैली निकाली थी, जो प्रभाव से ओत-प्रोत थी और यही 'मोमिन' की स्थायी सफलता का रहस्य है। इसी कारण भौतिक प्रेम के प्रभाव-पूर्ण वर्णन में 'मोमिन' की शैली अब तक काम आती है। इस शताब्दी के पूर्वार्ध में 'हसरत' मोहानी ने इसी शैली को अपना कर गजलों में अद्वितीय सफलता प्राप्त कर ली है। नयी चेतना के प्रकाशन के माध्यम के रूप में 'मोमिन' की शैली इसी समय नही, आगे भी कई दशकों तक पथ-प्रदर्शन करती रहेगी।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है 'मोमिन' निस्सदेह अति अरबी फ़ारसी-युक्त भाषा का प्रयोग करते थे। रोज़मर्रा की बोल-चाल में साहित्य-सर्जन का मूल्य उस जमाने में नही समझा गया था और साहित्य-निर्माताओं का सारा ध्यान सारल्य की अपेक्षा परिष्कार की ओर लगा रहता था। सामत-वादी युग में, जब कि साहित्य और कला के दरवाज़े जनसाधारण के लिए खुले नही होते बल्कि अभिजात वर्गों तक ही यह रुचि सीमित रहती है तो स्वभावत. ध्यान परिष्कार की ओर अधिक होता है। फिर भी उर्दू के विकास में यह बात उल्लेखनीय है कि उस घोर सामंतवादी युग में भाषा की न सही, तो भावों की सरलता तो कायम ही रही। इसके कई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं, जिन पर इस समय बहस करना निरर्थक है। 'मोमिन' ने फारसी के शब्द ही नहीं, वाक्य-विन्यास का भी बहुत प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी वे फ़ारसी के प्रसिद्ध मिसरों को, जो कहावतें बन गये हैं या फ़ारसी कहावतों को ही उर्दू में अनूदित-सा कर देते हैं। यद्यपि ऐसे शेरों में अनुवाद का उखड़ापन नहीं मालूम

होता या यह भी नहीं मालूम होता कि कवि ने भाव कहीं और से लिया है (जो उनकी काव्य-प्रतिभा का अकाट्य प्रमाण है) फिर भी उर्दू मे शेर पढ़नेवालों को, जब तक वे फ़ारसी के उक्त मुहावरे आदि न जानते हों, यह शेर पूरा मज़ा नहीं दे पाते, बल्कि बहुत मामूली और भरती के शेर मालूम होते हैं। तात्पर्य यह कि उनके शेरों का पूरा आनन्द लेने के लिए फारसी का भी अच्छा ज्ञान आवश्यक है।

फिर भी 'मोमिन' स्वाभाविक कवि थे। कभी-कभी काव्य-प्रवाह में वे सीधे और साफ़ शेर इतने प्रभावपूर्ण ढंग से कह देते थे, जिनकी सादगी दिल में चुभी जाती है। उदाहरणार्थ—

> तुम हमारे किसी तरह न हुए
> वरना दुनिया में क्या नहीं होता

'मोमिन' की मसनवियाँ अपने ढंग की अनोखी हैं। ज़बान की सफ़ाई और सरलता तो उनमें कूट-कूट कर भरी है, किन्तु विषय में उच्चता जैसी कोई चीज़ नहीं है जिसके बल पर मसनवी मसनवी होती है। इनकी तुलना 'मीर' 'हसन' या 'शौक़' की भी मसनवियों से करना बेकार है। विषय निरन्तर एक ही रहता है—विरह-काल में प्रिय-मिलन के क्षणों को याद करके रोना। यह सही है कि अनुभूति की तीव्रता और वर्णन के प्रभावशाली होने ने इन मसनवियों की लाज बचा ली है।' 'मोमिन' अपने प्रिय-मिलन के क्षणों का वर्णन करने में इतने डूब जाते हैं कि अश्लीलता की सीमा के अंदर भी आ पड़ते हैं। एक मसनवी में तो उन्होंने रतिक्रिया का भी सजीव और विस्तृत वर्णन कर डाला है। लेकिन नैतिकता की दृष्टि से इन मसनवियों पर ज़रूर आपत्ति की जा सकती है, लेकिन शुद्ध कलात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसे वर्णन भी अत्यन्त उत्कृष्ट दिखाई देते हैं और उनमें खजुराहो के मंदिरों की कला के दर्शन होते हैं।

'मोमिन' ने क़सीदे भी लिखे हैं, किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। सांसारिक व्यक्तियों की प्रशंसा में—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—उन्होंने दो ही क़सीदे लिखे हैं, शेष धार्मिक महापुरुषों की प्रशंसा में हैं। उनके क़सीदों में

काव्य-नियमों का पूरा पालन है, किन्तु उनमें प्राणों की कमी मालूम होती है और वे 'सौदा' ही नहीं 'ज़ौक़' के क़सीदों से भी काफ़ी नीचे हैं।

'मोमिन' के कुछ शेर उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

असर उसको ज़रा नहीं होता
रंज राहत फ़ज़ा नहीं होता
उसने क्या जाने क्या किया लेकर
दिल किसी काम का नहीं होता
तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता
क्यों सुने अर्ज़े-मुज़तरिब 'मोमिन'
सनम आख़िर ख़ुदा नहीं होता

ये उज़्रे इम्तहाने-जज़्बे-दिल कैसा निकल आया
मैं इल्ज़ाम उसको देता था क़सूर अपना निकल आया

आँखों से हया टपके है अन्दाज़ तो देखो
है बुल्हविसों पर भी सितम, नाज़ तो देखो
उस ग़ैरते-नाहीद की हर तान है दीपक
शोला सा लपक जाये है आवाज़ तो देखो
जन्नत में भी 'मोमिन' न मिला हाय बुतों से
जौरे अजले तफ़रिक-परदाज़ तो देखो

हम समझते हैं आज़माने को
उज़्र कुछ चाहिए सताने को
कोई दिन हम जहाँ में बैठे हैं
आसमां के सितम उठाने को

वो जो हममें तुममें क़रार था तुम्हें याद हो कि न याद हो
वही यानी वादा निबाह का तुम्हें याद हो कि न याद हो

वो जो लुत्फ़ मुझ पे थे पेश्तर वो करम जो था मेरे हाल पर
मुझे सब है याद ज़रा ज़रा तुम्हें याद हो कि न याद हो
कोई बात ऐसी अगर हुई कि तुम्हारे जी को बुरी लगी
तो बयां से पहले ही भूलना तुम्हें याद हो कि न याद हो

तू कहाँ जायेगी कुछ अपना ठिकाना कर ले
हम तो कल ख़्वाबे-अदम में शबे-हिजरां होंगे
मिन्नते - हज़रते ईसा न उठायेंगे कभी
ज़िन्दगी के लिए शरमिन्दए-अहमां होंगे ?
उम्र तो सारी कटी इश्के-बुतां में 'मोमिन'
आख़िरी वक़्त में क्या ख़ाक मुसलमां होंगे

शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़'—'ग़ालिब' 'मोमिन' और 'ज़ौक़' उन्नीसवीं शताब्दी की मध्यकालीन दिल्ली की कविता की बागडोर सँभाले हुए हैं। कुछ लोग इन लोगों को एक दूसरे का प्रतिद्वंद्वी समझते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि समकालीन होते हुए भी यह तीनों उस्ताद अपने अलग-अलग रंगों में बेजोड़ हैं। उनकी प्रतिद्वंद्विता का या उनकी एक दूसरे से तुलना करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हमें इन तीनों महाकवियों को एक दूसरे से बिलकुल अलग करके देखना होगा।

'ज़ौक़' १२०४ हि० (१७८९ ई०) में दिल्ली के एक ग़रीब सिपाही शेख़ रमज़ान के एकमात्र पुत्र थे। बचपन में मुहल्ले के एक अध्यापक हाफ़िज़ ग़ुलाम रसूल से शिक्षा प्राप्त करते थे। हाफ़िज़ जी स्वयं भी कवि थे और मिर्ज़ा इब्राहीम के सहपाठी मीर काज़िम हुसैन 'बेक़रार' भी बचपन से कविता करते थे। इसी संसर्ग से मिर्ज़ा इब्राहीम भी कविता करने लगे। मीर काज़िम हुसैन एक सम्पन्न परिवार के लड़के थे और कुछ दिनों बाद अपने युग के प्रख्यात कवि शाह 'नसीर' से संशोधन कराने लगे। 'ज़ौक़' को भी उन्होंने शाह साहब का शागिर्द बनवा दिया और कुछ ही वर्षों में 'ज़ौक़' की प्रतिभा का प्रस्फुटन होने लगा।

लेकिन संभवतः शाह 'नसीर' को अपने नये शिष्य में अपना प्रतिद्वंद्वी दिखाई दिया। वे इनको हतोत्साह करने लगे। एक ग़ज़ल पर—जो इन्होंने 'सौदा'

युवराज की उस्तादी के साथ ही 'ज़ौक़' दिल्ली के प्रमुख रईस और मिर्ज़ा 'ग़ालिब' के ससुर नवाब इलाही बख्श के पास भी पहुँचा दिये गये। नवाब इलाही बख्श बड़े दानशील और परिमार्जित रुचि के रईस थे, शाह 'नसीर' के शागिर्द थे और हर रंग में कविता करते थे। शाह 'नसीर' चले गये तो उनकी जगह 'ज़ौक़' को दे दी। कभी-कभी उस्ताद को भेंट-स्वरूप कुछ देते रहते थे।

'ज़ौक़' अपने इन दोनों शागिर्दों से उम्र में ही नहीं, रुत्बे में भी बहुत कम थे। खानदानी ग़रीबी ने पढ़ने भी बहुत न दिया था। इसीलिए यह अपनी उस्तादी की लाज बचाने के लिए खुद ही काव्य-कला की कठोर साधना करने लगे और अपनी जन्मजात प्रतिभा के बल पर शीघ्र ही इस कला में निपुण हो गये। विशेषतः नवाब इलाही बख्श खाँ की उस्तादी ने इन्हें हर रंग का उस्ताद बना दिया।

काव्य-साधना के अलावा 'ज़ौक़' को विद्याध्ययन का भी शौक़ था और इसकी कमी उन्हें बराबर खटकती रहती थी। इनके एक पुराने गुरु मौलवी अब्दुर्रज्जाक अवध के नवाब के मुख्तार राजा साहबराय के पुत्र को समस्त प्रचलित विद्याएँ सिखाते थे। एक दिन मौलवी साहब के साथ 'ज़ौक़' भी चले गये तो राजा साहब इनकी रुचि और प्रतिभा देख कर बड़े प्रसन्न हुए और अपने पुत्र के साथ ही इनकी पूर्ण शिक्षा का भी प्रबंध कर दिया। इस प्रकार इस निस्स्वार्थ सहायक ने उनके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति कर दी। लेकिन असली सहायक तो इनकी जन्मजात प्रतिभा थी। कविता अध्ययन का यह हाल था कि पुराने उर्दू तथा फ़ारसी के उस्तादों के साढ़े तीन सौ दीवानों को छान कर उनके उत्कृष्ट शेरों का संकलन तय्यार किया। स्मरण-शक्ति इतनी तेज़ थी कि अपने प्रत्येक कथन की पुष्टि में उस्तादों के शेर पढ़ा करते थे। तफ़्सीर (कुरान की व्याख्या) में—विशेषतः सूफ़ी दर्शन में—वे पारंगत थे; रमल और ज्योतिष में भी उनकी अच्छी पैठ थी, इतिहास, तर्कशास्त्र (मंतिक़) और गणित में वे पटु थे, संगीत की उन्हें अच्छी जानकारी थी—संक्षेप में उनका अध्ययन गहरा और सर्वतोमुखी था। उनके क़सीदों आदि में विभिन्न विद्याओं के जितने पारिभाषिक शब्द आते हैं, उतने किसी कवि के यहाँ

नहीं है। इसीलिए उन्हे 'खाकानी-ए-हिन्द' की उपाधि मिली, क्योंकि फारसी प्राचीन कवि खाकानी की विशेषता भी यही थी कि वह कसीदों में बहुत पाण्डि प्रदर्शन करता था। तारीफ की बात यह है कि 'ज़ौक़' को यह सम्मान १९ व की अल्पावस्था में ही मिल गया था।

जवानी में ज़ौक़ ने रंगरलियाँ भी कीं, किन्तु ३६ वर्ष की अवस्था में उन्हों समस्त पापों से तौबा कर ली और इसकी 'तारीख' कही "ऐ ज़ौक़ तिगो सेः बार तौबा" (ऐ 'ज़ौक़' तीन बार तौबा कह)।

१८३८ ई० में बहादुरशाह बादशाह हुए तो मिर्ज़ा मुगलबेग मन्त्री हो गये। अपना तो पूरा कुनबा किले में भर लिया, लेकिन उस्ताद की तनख्वा सात रुपये पर बढ़ी तो तीस रुपये महीना हो गयी। 'ज़ौक़' इस अपमान को भी पी गये, बादशाह से कुछ न कहा। हैदराबाद से दीवान चन्दू लाल के बुलावे पर भी उन्होंने 'ज़फ़र' का दामन न छोड़ा। अन्त में मिर्ज़ा मुगल बेग के षड्यन्त्रों का भण्डा फूटा और वे अपने कुनबे सहित निकाले गये तो 'ज़ौक़' का वेतन सौ रुपया महीना हो गया। १८५१ ई० में बादशाह के बीमारी से उठने पर कसीदा कहा तो एक हाथी चाँदी के हौदे के साथ और खान बहादुरी की उपाधि पायी। फिर एक कसीदा पेश किया तो जागीर में एक गाँव दिया गया। इस प्रकार उनके अंतिम कुछ वर्ष सुखपूर्वक बीते।

अन्त में १२७१ हि० (१८५४ ई०) में सत्रह दिन की बीमारी के बाद 'ज़ौक़' का देहावसान हो गया। मरने के तीन घंटे पहले यह शेर कहा था—

कहते हैं 'ज़ौक़' आज जहाँ से गुज़र गया
क्या खूब आदमी था खुदा मग़फ़िरत करे

और इसमें संदेह नहीं कि 'ज़ौक़' खूब आदमी थे। [illegible], [illegible], प्रेम, दया और सहिष्णुता के उच्च मानवीय गुण उनमें कूट-कूट कर भरे थे। 'ज़ौक़' के अलावा और कोई ऐसा [illegible] उर्दू कवि नहीं दिखाई देता, जो इतने कम वेतन पर दिल्ली के किले की नौकरी करता रहे और दूसरे [illegible] पर भी [illegible] न जाय। उनका जीवन [illegible] इस बात का साक्षी है कि [illegible]

आर्थिक कठिनाइयों में गुजार दी, लेकिन कभी—अपने एक आध अंतरंग मित्रों या बुजुर्गों को छोडकर—अपने आश्रयदाता की बुराई नही की। बहादुरशाह से उनका केवल नौकर-मालिक का ही सम्बन्ध न था, वे बादशाह को दिल से चाहते थे। नमाज के बाद उनकी सलामती के लिए दुआ जरूर मांगा करते थे। वैसे भी उनकी सहानुभूति का क्षेत्र बड़ा विस्तृत था, दुआ करते समय एक भगते के बीमार बैल का ध्यान आ गया तो उसे भी निरोग करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की। दया का यह हाल था कि सारी आयु भर में एक चिड़िया तक का अपने हाथ से वध नही किया, सांप तक को मारने में दया आ जाती थी।

शारीरिक सौन्दर्य के नाम पर 'ज़ौक़' में कुछ भी न था। ठिगना कद, दुबला बदन, सांवली रंगत, चेहरे का नक्शा खडा-खडा और चेहरे पर चेचक के गहरे-गहरे निशान—लेकिन आंखों में प्रतिभा की चमक और चेहरे पर मानसिक तथा आत्मिक श्रेष्ठता का तेज था, जो कि उनके चेहरे को कुरूप नही लगने देता था। बदन में फुर्ती थी और आवाज़ में गूंज और सुरीलापन, जिसके कारण मुशायरों में ग़ज़लों का प्रभाव और अधिक पड़ता था। कपड़े अक्सर सफेद पहनते थे।

'ज़ौक़' को रात-दिन कविता के अतिरिक्त और कुछ नही सूझता था। उनका मकान बहुत ही छोटा था, उसे बदलने की कोई जरूरत नही समझी। छोटे-से आंगन में खुर्री चारपाई पर बैठे रहते थे, हुक्का मुंह से लगा रहता था, लिखते जाते थे या कुछ पढ़ते रहते थे। और कोई दिलचस्पी नही थी।

धर्म के बड़े पक्के थे। शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण रोज़े नही रख पाते थे, लेकिन नमाज पांचों समय पढ़ा करते थे। फिर भी धार्मिक कट्टरता-जैसी कोई चीज उनके अंदर नही थी।

संतान में केवल एक पुत्र था, जिनका नाम खलीफ़ा मुहम्मद इस्माईल था। 'ज़ौक़' के मरने के तीन वर्ष बाद गदर में उनकी भी मृत्यु हो गयी। अब उनके वंशजों में कोई नहीं है।

'ज़ौक़' का काव्य—पहले ही कहा जा चुका है कि 'ज़ौक़' के समकालीन कवियों 'ग़ालिब' और 'मोमिन' से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। 'ग़ालिब' ने तो अनुभूति और कल्पना को चरम बिन्दु पर पहुँचाकर ऐसी शैली स्थापित की,

जिसका अनुसरण उनकी होड में 'यगाना' चंगेजी ने तो थोड़ा-बहुत किया भी, लेकिन और किसी के लिए समय भी नहीं हुआ। 'मोमिन' की वर्णन-शैली की परम्परा अब तक चली आती है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे अपनी शैली के आविष्कारक थे। संक्षेप में 'गालिब' और 'मोमिन' की संवेदना के पीछे कोई परम्परा नहीं है।

इसके विपरीत 'ज़ौक़' की संवेदना का आधार परम्परागत था। उन्होंने शायद अनजाने ही कविता को शिल्प (Craft) के रूप में ग्रहण किया, कला (Art) के रूप में नहीं। इसीलिए उनके यहाँ पर परम्परा के ग्रहण और उसके विकास के तत्त्व अन्य समकालीनों से अधिक मिलते हैं। शायद इसीलिए उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी, बल्कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों में भी जो सम्मान प्राप्त था, वह अब कुछ कम हो गया है क्योंकि साहित्यिक मूल्य पहले से बदल गये हैं।

'ज़ौक़' मुख्यतः आकारवादी कवि हैं। उनके यहाँ इसका महत्त्व कम है कि क्या कहा जाता है और वह संवेदना को किस प्रकार आलोड़ित करता है, इसका महत्त्व अधिक है कि वर्णन-सौन्दर्य कितना है और सौन्दर्यबोध की तुष्टि किस सीमा तक होती है। इसीलिए 'ज़ौक़' के काव्य में शब्दों के चयन, मुहावरों के प्रयोग और मुश्किल रदीफ़ क़ाफ़ियों में प्रवाहमान कविता करने की कला पूरी तरह उभर कर आयी है और इसी क्षेत्र में नूतनता और मौलिकता के प्रदर्शन का आग्रह मिलता है। 'ज़ौक़' ने अपने पूर्ववर्ती सभी उस्तादों—'मीर', 'सौदा', 'जुरअत' आदि—के रंग में शेर कहे और बड़ी सफलता के साथ कहे। फिर भी नयी-नयी तराश-खराश के शब्दों और वाक्य-विन्यासों के आधार पर वर्णन-सौंदर्य पैदा करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आधार पर उन्हें 'सौदा' का अनुयायी कहना अधिक उचित है। क़सीदों में भी वे 'सौदा' का अनुसरण करते हैं और निस्सदेह 'सौदा' के बाद क़सीदे के क्षेत्र में 'ज़ौक़' से बड़ा कोई कवि नहीं हुआ।

फिर भी यह गलतफ़हमी न होनी चाहिए कि वे शाब्दिक खिलवाड़ में विश्वास करते थे। बात में बात पैदा करने और बाल की खाल निकालने की 'नासिख़' जैसी प्रवृत्ति 'ज़ौक़' के यहाँ कहीं नहीं दिखाई देती। कुछ पत्थर तोड़

रदीफ़ क़ाफ़ियों की ग़ज़लों को छोड़कर 'ज़ौक़' के सारे काव्य में उनकी आचार-वादी प्रवृत्ति के बावजूद एक तरह की सादगी है। वे मामूली बातें कहते हैं, लेकिन अक्सर कुछ ऐसी सादगी के साथ कहते हैं कि हृदय पर उनका प्रभाव पड़ता ही है। भाषा में उनके यहाँ फ़ारसीयत आज की दृष्टि से भी अधिक नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में ही ऐसी सुगम और सुबोध भाषा का प्रयोग निस्संदेह कला का चमत्कार कहा जाना चाहिए। इसका बहुत कुछ श्रेय 'ज़फ़र' को मिलना चाहिए जो सरल और प्रभावशाली शब्दावली और वाक्यावली में विश्वास करते थे और स्वयं भी इन्हीं का प्रयोग करते थे।

'ज़ौक़' आर्थिक रूप से चाहे कष्ट में रहे हों, लेकिन अन्य दृष्टियों से भाग्य-शाली थे। निर्धन कुल में जन्म लेकर उन्होंने उच्चतम समाज में भी अपने लिए सम्मान ही प्राप्त किया। नौजवानी में ही ख्याति उनके पाँव चूमने लगी थी और मृत्यु ने भी उनके साथ अहसान किया कि उनके आश्रयदाता 'ज़फ़र' के, जिनसे उन्हें दिली लगाव था, दुर्दिन आने से पूर्व ही उनकी आँखें बंद हो गयीं। उनका नाम अमर करने के लिए उनके शागिर्द भी ऐसे हुए जो काव्य-गगन के सारे बनकर चमके। इनमें सबसे पहले स्वयं 'ज़फ़र' का नाम आता है। नवाब मिर्ज़ा ख़ाँ 'दाग़' महाकवि के रूप में और मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' कवि, आलोचक और साहित्य में नवीन-युग के प्रवर्तक के रूप में ख्याति पा चुके हैं। अन्य शागिर्दों में सय्यद ज़हीरुद्दीन 'ज़हीर' (जिनके चार दीवान हैं, तीन प्रकाशित और एक अप्रकाशित) और उनके छोटे भाई सय्यद ग़ुलाउद्दीन 'अनवर' भी काफ़ी प्रसिद्ध हो गये हैं।

दुर्भाग्यवश 'ज़ौक़' की लगभग सभी रचनाएँ ग़दर में नष्ट हो गयीं। कुछ ग़ज़लें और क़सीदे मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने बचा लिये, कुछ ग़ज़लें 'ज़ौक़' के अंधे शिष्य हाफ़िज़ वीरान को याद थीं। उन्हीं को जमा करके अब कुल एक दीवान मिलता है, जिसमें १६७ ग़ज़लें, २४ क़सीदे और फुटकर कविताएँ हैं। 'आज़ाद' के कथनानुसार 'ज़ौक़' की एक अपूर्ण मसनवी भी थी, जिसमें ५०० शेर हो चुके थे। ग़दर में अन्य काव्य के साथ यह मसनवी भी लुट-पुट गयी।

'ज़ौक़' के कलाम का नमूना निम्नलिखित शेरों में मिलता है—

उसे हमने बहुत ढूंढ़ा, न पाया
अगर पाया तो खोज अपना न पाया
जिस इंसां को सगे-दुनिया न पाया
फ़रिश्ता उसका हम पाया न पाया
चिराग़े-दाग़ लेकर दिल में ढूंढ़ा
निशां पर सब्रो-ताक़त का न पाया
नज़ीर उसका कहां आलम में ऐ 'ज़ौक़'
कहीं ऐसा न पायेगा न पाया

जीते ही जी क्या मुल्के-फ़ना में साथ बशर के झगड़े हैं
मर के इधर से जब कि छुटे तो जाके उधर के झगड़े हैं
कैसा मोमिन, कैसा काफ़िर, कौन है सूफ़ी, क्या है रिन्द
सारे बशर हैं बन्दे हक़ के सारे शर के झगड़े हैं
ग़म कहता है दिल में रहूँ मैं जल्वए-जानां कहता है मैं
किसको निकालूं किसको रक्खूं यह तो घर के झगड़े हैं
'ज़ौक़' मुरत्तिब क्योंकि हो दीवां शिकवए-फ़ुरसत किससे करें
बांधे गले में हमने अपने आप 'ज़फ़र' के झगड़े हैं

अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जायेंगे
मर गये पर न लगा जी तो किधर जायेंगे
आग दोज़ख़ की भी हो जायेगी पानी पानी
जब ये आसी अरक़े-शर्म से तर जायेंगे
'ज़ौक़' जो मदरसे के बिगड़े हुए हैं मुल्ला
उनको मैख़ाने में ले आओ, संवर जायेंगे

लायी हयात आये क़ज़ा ले चली चले
अपनी ख़ुशी न आये न अपनी ख़ुशी चले
दुनिया ने किसका राहे-फ़ना में दिया है साथ
तुम भी चले चलो यूंहीं जब तक चली चले

बहादुर शाह 'ज़फ़र'—बादशाहों का काम मुख्यतः शासन-संचालन होता है। चूँकि वह अपने पूरे समाज के उच्चतम गुणों का प्रतिनिधि होता है इसलिए उसमें राजनीतिज्ञ की दूरदर्शिता और सेनानायक का शौर्य होने के साथ ही यदि कलाकार की दृष्टि भी हो तो सोने में सुहागा हो जाता है। किन्तु ऐसे पूर्ण-गुण-सम्पन्न नरेश तो सम्पूर्ण मानव इतिहास के पन्नों में दो-चार ही मिलते हैं—जैसे शार्लमान और अकबर—और इसीलिए उन्हें महान् कहा जाता है। किन्तु यदि किसी राजा में एक ही गुण हो तो सब से पहले राजनीतिज्ञता आवश्यक है। जो बादशाह केवल कलाकार हो—चाहे वह 'ज़फ़र' की भाँति सूफ़ीवाद से प्रभावित करुणामय काव्य-रचना करे या वाजिद अली शाह की भाँति विलासोन्मुख हो—राज्य संचालन के अयोग्य हो जाता है और उसके समय में राज्य-शक्ति का अंत तक हो सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में दिल्ली और लखनऊ दोनों राज्यों के कर्णधार कला-साधना के इतने पीछे पड़ गये थे कि अपने राज्यों की पहले से गिरती हुई दशा को बिल्कुल न सँभाल सके।

किन्तु यहाँ हमें राजनीति से अधिक लेना-देना नहीं है। देखना केवल यह है कि बहादुरशाह 'ज़फ़र' का साहित्य में क्या स्थान है। इस दृष्टि से देखने पर 'ज़फ़र' सफल कवि के रूप में दिखाई देते हैं।

'ज़फ़र' का जन्म २४ अक्तूबर १७७५ ई० में अपने पितामह शाहआलम द्वितीय के शासनकाल में हुआ। दिल्ली का साम्राज्य नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों तथा मराठों की ज़बर्दस्ती और सिखों की लूटपाट के कारण काफ़ी अशक्त हो गया था, चुनांचे शाह आलम भी अपनी भौतिक पराजयों को आत्मिक आनंद में भुलाना चाहते थे और कविता करने लगे थे। उनका तख़ल्लुस 'आफ़ताब' था। किले में भी जोरों से शेर-शायरी का चरचा रहता था। मिर्ज़ा अबूज़फ़र को भी ('ज़फ़र' का असली नाम यही था, बहादुर शाह तो उन्होंने सम्राट् बनने पर अपना नाम रखा) बचपन से ही शायरी का चस्का लग गया था। इसके अतिरिक्त शाहज़ादों के योग्य अन्य शिक्षाएँ—धर्म, इतिहास, अरबी, फ़ारसी, सुलेख, घुड़सवारी, शस्त्रास्त्र-चालन आदि—पूरी तरह मिलीं। 'घुड़सवारी' में तो मिर्ज़ा अबूज़फ़र अपने ज़माने के भारत के 'ढाई सवारों' में गिने जाते थे। इसके अलावा शाही जीवन की रंगरलियों और

कबूतरबाज़ी, मुर्गबाज़ी आदि मनोरंजन के साधनों आदि में भी वे लगे रहते
साथ ही वे गुरु गंज फखरुद्दीन चिश्ती तथा उनकी मृत्यु के बाद उनके
कुतुबुद्दीन के भी मुरीद रहे और सांसारिक लाभ के अतिरिक्त आध्यात्मि
लाभ भी किया।

लेकिन मिर्ज़ा अबूज़फ़र ने बचपन में ही अपने राज्य-परिवार की शक्ति-
हीनता और दुर्दिनों को भी अपनी आँखों से देखा। शाह आलम माधव
सिंधिया पर आश्रित था। १७८० ई० में जब सिंधिया राजपूतों से भिड़ा हुआ
था, ज़ाब्ता खाँ के लड़के गुलाम कादिर रुहेला ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया
उसने राज-परिवार पर तरह-तरह के जुल्म ढाये, यहाँ तक कि बूढ़े शाह आलम
को दरबार में ही पटक कर उसकी आँखें निकाल ली। चार दिन बाद माधव
जी सिंधिया ने आकर गुलाम कादिर को हराया, उसे यातनाएँ दे-देकर मार
डाला और शाह आलम को फिर गद्दी पर बिठा दिया। किन्तु अब शासन
प्रबंध मरहठों ने अपने अधिकार में कर लिया और बादशाह के लिए नौ लाख
रुपया वार्षिक वज़ीफ़ा नियत कर दिया। इस प्रकार शाह आलम नाम मात्र
को सम्राट् रह गये।

इस प्रकार आरम्भ में ही 'ज़फ़र' के चारों ओर परवशता का ही वाता-
वरण रहा। लेकिन उन्हें आगे भी बहुत कुछ देखना था। १८०३ ई० में
जनरल ऑक्टरलोनी ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और दिल्ली के
वास्तविक शासक मरहठो की बजाय अँगरेज़ हो गये। दिल्ली में कम्पनी
का हुक्म भी चलने लगा। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि मरहठों की बजाय
अँगरेजों की आधीनता में राज-परिवार अधिक सुखी रहा।

१८०६ ई० में 'ज़फ़र' के पिता अकबर शाह द्वितीय गद्दी पर बैठे। यह
भी कविता करते थे किन्तु अपने नामचार के ही राज्याधिकार पर अधिक
ध्यान देते थे। कुछ-कुछ पुरानी प्रतिष्ठा कायम करने का इन्होंने प्रयत्न किया,
किन्तु अँगरेज़ों के फ़ौलादी पंजों के आगे इनकी एक न चली। कुछ न हुआ तो
परिवार में ही गड़बड़ी पैदा करने लगे। गद्दी का अधिकार अबूज़फ़र का था,
किन्तु अपनी बेगम मुमताज़ महल के कहने में आकर अकबर शाह ने मुमताज़
महल के पुत्र मिर्ज़ा जहाँगीर को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और अबू-

के लिए कह दिया कि वह मेरा पुत्र ही नहीं है। इसका मतलब भी
। उन्होंने को दिल्ली स्थित रेजीडेंट मि० सटन पर गोली चलाने पर
बन्द करके इलाहाबाद भेज दिया गया जहाँ बहुत शराब पीने के कारण
१ ई० में उनकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार अकबर का उत्तराधिकार
न हो गया।

३० सितम्बर १८३७ ई० को अकबर शाह की मृत्यु होने पर अबुजफर गद्दी
टे और बहादुर शाह द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध हुए। लेकिन इनके जमाने
म्पनी ने धीरे-धीरे रहे बचे अधिकार भी लेने शुरू कर दिये। बादशाह के
बेगम शहजादों में उन्होंने फूट डलवायी और वे एक दूसरे की जान लेने पर
र हो गये। मिर्जा मुगल नामक एक कुटिल व्यक्ति बादशाह का मन्त्री
उसने भी अँगरेजों से मिलकर बादशाह को बहुत हानि पहुँचायी। गदर के
ही एक एक करके बादशाह के चार शहजादे शाहरुख, दलारी, दारा-
, मिर्जा फखरू जवानी में ही मर गये थे। अँगरेजों ने मिर्जा कोरेश से और भी
शर्तें लिखवाकर उसे युवराज घोषित कर दिया। अँगरेज अधिकारियों
नों में भी उनके लिए राज्याधिकार सूचक सम्बोधन का प्रयोग बंद हो
। बहादुर शाह विवश होकर सब देखते रहे और सहते रहे।

१८५७ का विद्रोह—इस विद्रोह की घटनाएँ सर्वविदित हैं। दो शह-
ो—मिर्जा मुगल और मिर्जा खिजर सुल्तान ने विद्रोहियों का साथ दिया।
ोहियों ने अँगरेजी रेजीडेण्ट मि० फ्रेजर तथा अन्य अधिकारियों को किले
बाहर मार डाला। बहादुर शाह के नाम से फरमान और हुक्म जारी होने
। किन्तु यह समझना भूल है कि बहादुर शाह ने अपनी इच्छा से विद्रो-
ों का नेतृत्व किया। वास्तव में वे विद्रोहियों के वश में भी इसी प्रकार
गये थे जैसे कि पहले अँगरेजों के वश में थे। अंत में अँगरेजों की जीत
। मिर्जा मुगल और मिर्जा खिजर सुल्तान को दिल्ली दरवाजे के पास
ी मार दी गयी और उनके सिर काट कर बादशाह के पास भेज दिये गये।
बादशाह को भी मकबरा हुमायूँ से, जहाँ वे अपने परिवार के साथ छुपे
गिरफ्तार कर लिया। अंत में उन पर मुकदमा चला और उन्हें निर्वासन का
दिया गया। बेगम जीनत महल, शहजादा जवाबख्त और अन्य १४

शहजादों और बेगमों के साथ बादशाह को रंगून भेजकर नजरबंद कर दिया गया, जहाँ ७ नवम्बर १८६२ ई० को उनका देहावसान हो गया।

बहादुर शाह के सारे जीवन-वृत्त को देखने से मालूम होता है कि उनमें राजोचित गुण न थे। उन्होंने सारे जीवन अपने सहायकों को संगठित करके अधिकार-प्राप्ति के लिए अपनी अक्षमता प्रदर्शित की। राज्याधिकार के लिए भी वे पूर्णतः अँगरेजों पर आश्रित रहे और यदि मिर्जा जहाँगीर असमय ही काल-कवलित न हो जाते तो उम्र में बड़े होने पर भी 'जफर' को गद्दी मिलती या नहीं इसमें संदेह है। आदमियों की परख उनमें नहीं थी। मिर्जा मुगल ने उनके युवराज्य काल से ही उन पर जादू सा फेर दिया था और उन्हें यह भी पता न चला कि मिर्जा मुगल उनके प्रिय मित्रों, यहाँ तक कि उस्ताद 'जौक' के साथ भी कैसा व्यवहार करते हैं। गदर हुआ तो विवशत. विद्रोहियों के साथ भी हो लिये, किन्तु उन्हें भी कोई नेतृत्व न दे सके बल्कि उनके कारनामों पर कुढ़ते ही रहे। शहजादों ने उनके सामने ही एक दूसरे के विरुद्ध षडयन्त्र आरंभ कर दिये थे किन्तु उन्हें हालत सँभालते ही न बनी।

इन राजोचित गुणों के अभाव ने उन्हें राज्यच्युत कर दिया, किन्तु इस अभाव की पूर्ति उनके मानवीय गुणों ने की, जिनके आधार पर उनकी कला-चेतना ने ऐसा मोड़ लिया कि वे साहित्य-संसार में अमर हो गये। १८५७ के विद्रोह के सिलसिले में उनका नाम इतिहास में जैसा अमर है, साहित्य के इतिहास में करुणरस से ओतप्रोत उनके चार दीवान भी उन्हें वैसा ही अमरत्व प्रदान करते हैं। उनके काव्य की समीक्षा के पूर्व उनकी चेतना के आधार उनकी मानसिक अवस्था और संस्कारगत रुचि पर एक नजर डाल लेनी चाहिए।

'जफर' के स्वभाव में परवश राजवैभव, विलास-प्रियता और सूफियों के आध्यात्मिक प्रभाव का सम्मिश्रण मिलता है। इसलिए उनके स्वभाव में कर्मक्षेत्र में बढ़ने की प्रेरणा तो नहीं है, किन्तु उनका सौंदर्यबोध बहुत निखरा है, साथ ही प्रेम और सौहार्द की भावनाएँ उनमें अत्यधिक दिखाई देती हैं। काव्य के क्षेत्र में उनकी रुचि अत्यन्त परिष्कृत थी और उन्होंने अपने जमाने के चोटी के उस्ताद शाह 'नसीर' से काव्य-दीक्षा ली और उनके बाद 'जौक' जैसे विद्वान् तथा अधिकारी कवि को अपना गुरु बनाया। 'जौक' के

'ज़फ़र' की रचनाओ के तीन स्पष्ट गुण देखने को मिलते है—(१) करुण प्रभाव, (२) सरलता और स्पष्टता तथा (३) माधुर्य और गीता-त्मकता। विचार तत्त्व उनके यहाँ बहुत ऊँचा नही है और ओज गुण भी अपेक्षा-कृत कम पाया जाता है। उनके काव्य को हम मध्यम श्रेणी का काव्य कह सकते हैं।

लेकिन उर्दू काव्य—विशेषत. दिल्ली-शैली का काव्य—एक बात के लिए सदैव ही 'ज़फर' का ऋणी रहेगा। वह बात यह है कि 'ज़फर' ने शायद अकेले अपने दम पर उर्दू कविता के स्वरो मे काफ़ी गभीरता ला दी और इस प्रकार लखनवी शैली की उच्छृंखल और विलासपूर्ण बहाव के ज़ोर को खत्म करके उसे ऐसे मार्ग पर चला दिया जहाँ से आगे आने वाली पीढियो को अपनी नयी चेतना के प्रका-शन के लिए उर्दू कविता बिल्कुल अनुपयुक्त न मालूम हो और वे उसे छोड न बैठें। बाद में चलकर विषय के क्षेत्र में 'हाली' और 'आज़ाद' तथा भाषा और अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे 'दाग़' ने जो नयी राहे खोली, उनके लिए पृष्ठभूमि तय्यार करने का श्रेय 'ज़फ़र' के प्रभाव को मिलना चाहिए। वे खुद चाहे बड़े शायर न हो, लेकिन अपने काल के प्रमुख कवियो के आश्रयदाता ही नही, एक प्रकार पथप्रदर्शक थे (क्योकि उनकी अपनी विशेष रुचि थी, जिसकी 'ज़ौक़', 'ग़ालिब' आदि पूर्ण उपेक्षा नही कर सकते थे)। शाह 'नसीर' तथा लखनवी कवियो के अतिशय आकारवाद में उन्होने तीव्र सवेदना का पुट देने का भी आग्रह किया और इस आग्रह की स्वभावत. उनके आश्रित महाकवि उपेक्षा न कर सके और दिल्ली की कविता ने 'मीर' की सादगी-पसद परम्परा को एक बार फिर मज़बूती से पकड लिया। 'ज़ौक़' और 'ग़ालिब' ही नही, 'मोमिन' की बाद वाली रचनाओ की सादगी इसका सबूत है।

इसके अलावा खुद 'ज़फर' की रचनाओ के गुणो—करुणा और माधुर्य—की कोई उपेक्षा नही कर सकता। 'ज़फ़र' की करुणा 'मीर' की भाँति सर्व-व्यापी न हो, लेकिन उनमे तीव्रता और टीस काफ़ी है। 'ज़फ़र' की कुछ ... उल्लास के रग में है, लेकिन अधिकतर उनके शेरो में ऐसी व्यथा दिखाई ... ो सुननेवालो का कलेजा काट देती है। उन्होने शब्दावली भी भाव के ... ही—कोमल और चुटीली—व्यवहार की है। उनके यहाँ अरबी

मरने के बाद अपने नज़रबद होने के चार-पांच वर्षों तक वे 'ग़ालिब' से भी इस्लाह लेते रहे। पहले भी उन्होने 'ग़ालिब' को अपने वंश का इतिहास लिखने को कहा था और नज्मुद्दौला बदीरुल्मुल्क की उपाधि से विभूषित किया था। अपने काल के अन्य गुणियो—'इश्क', 'अज़ीम', 'शिकेबा', 'ममनूं', 'क़ासिम', सना उल्ला खाँ 'फ़िराक', कमरुद्दीन 'मिन्नत' आदि से उनका दरबार भरा रहता था। काव्य के अतिरिक्त उस गयी गुज़री हालत में भी भवन-निर्माण, मेलो-तमाशो, शादी-ब्याह और बीमारी से उठने के जश्नो आदि में उन्होने अपनी ज़िन्दादिली का सबूत दिया, यद्यपि वे हर समय अनुभव करते थे कि यह रहे बचे वैभव भी अस्थायी हैं।

सूफी आध्यात्मिकता का प्रभाव उनके सार्वभौमिक सौहार्द से स्पष्ट होता है। उन्होने कभी अपनी ओर से हानि नही पहुंचायी और (शायद एक आध उदाहरणो को छोडकर) किसी का हक मारने की भी कोशिश न की। अपने अपमान को भी वे शातिपूर्वक पी जाते थे और अपने पितामह शाह आलम की भाँति बडे से बड़े विरोधी के प्रति उनके मन में कटुता या दुर्भावना न रहती थी। सक्षेप में वे पूरे सन्यासी थे, जिन्हें भाग्य ने गलती से गद्दी पर बिठा दिया था।

'ज़फ़र' को मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद तथा कुछ अन्य आलोचको ने कवि ही नहीं माना है। 'आज़ाद' का तो कहना यह है कि उनके चार दीवानो में से पहले का आधा भाग शाह 'नसीर' द्वारा और शेष साढ़े तीन दीवान 'ज़ौक़' द्वारा सशोधित ही नही, लगभग रचित है। 'ज़फ़र' के समर्थकों का कहना है कि यह बात गलत है, 'ज़ौक़' और 'ज़फ़र' का रंग एक दूसरे से बिल्कुल अलग है। दोनो पक्षो से काफी कहा जा सकता है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस बहस का अधिक महत्त्व नहीं है। 'ज़फ़र' के चारो दीवानों में एक रंग की कविता मिलती है और यदि किसी और ने स्वय ही किसी कारण उन्हें अपनी कविता अर्पित कर दी हो तो हमें उन कविताओ को 'ज़फ़र' की रचना मानने में कोई हिचक न होनी चाहिए, विशेषत जब कि ऐसा कोई स्पष्ट सबूत हमारे पास न हो जिससे यह कविताएँ 'ज़फ़र' के अतिरिक्त अन्य किसी कवि की रचनाएँ प्रमाणित हो सकें।

'ज़फ़र' की रचनाओं के तीन स्पष्ट गुण देखने को मिलते हैं— करुण प्रभाव, (२) सरलता और स्पष्टता तथा (३) माधुर्य और रसकता । विचार तत्त्व उनके यहाँ बहुत ऊँचा नहीं है और ओज गुण भी बहुत कम पाया जाता है। उनके काव्य को हम मध्यम श्रेणी का काव्य सकते हैं।

लेकिन उर्दू काव्य—विशेषत: दिल्ली-शैली का काव्य—एक बात के

शैली की उच्छृंखल और विलासपूर्ण बहाव के ज़ोर को ख़त्म करके उसे ऐसे पर चला दिया जहाँ से आगे आने वाली पीढ़ियों को अपनी नयी चेतना के प्र दान के लिए उर्दू कविता बिल्कुल अनुपयुक्त न मालूम हो और वे उसे छोड़ बैठें। बाद में चलकर विषय के क्षेत्र में 'हाली' और 'आज़ाद' तथा भाषा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में 'दाग़' ने जो नयी राहें खोलीं, उनके लिए पृष्ठभूमि तय करने का श्रेय 'ज़फ़र' के प्रभाव को मिलना चाहिए। वे खुद चाहे बड़े शा न हों, लेकिन अपने काल के प्रमुख कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, एक प्र पथप्रदर्शक थे (क्योंकि उनकी अपनी विशेष रुचि थी, जिसकी 'ज़ौक़', 'ग़ालि आदि पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकते थे)। 'नसीर' तथा लखनवी कवि के अतिशय आकारवाद में उन्होंने तीव्र स पुट देने का भी आग्रह किय और इस आग्रह की स्वभावतः उनके व उपेक्षा न कर सके औ दिल्ली की कविता ने 'मीर' की को एक बार फि मज़बूती से पकड़ लिया। 'ज ' ही नहीं, 'मोमिन' की वाली रचनाओं की सादगी

इसके अलावा खुद गुणों—करुणा और मा की कोई उपेक्षा नहीं क ' की व्यापी न हो, लेकि ग़ज़लें उल्लास के देती है जो अनुरूप

: ७ :

मरसिया

उर्दू कविता में वास्तव में मरसिया ही वह काव्यरूप है, जिसे उचित रूप से 'क्लासीकल' (चिरप्रतिष्ठित प्राचीन) की श्रेणी मे रखा जा सकता है। इसमें 'इपिक' (वीर गाथा काव्य) और 'ट्रेजेडी' (दुखान्त महाकाव्य) दोनो की विशेषताएँ होती हैं और यह उर्दू काव्य की अमूल्य निधि है।

मरसिया अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है मरने वाले के गुणो का इस प्रकार वर्णन करना जिससे सुनने वालों के हृदय मे करुणा का सचार हो। अरब की पुरानी कविता में मरसिये का ग़ज़ल और कसीदे की भाँति विशेष स्थान था। जब किसी का कोई प्यारा मर जाता था तो यदि वह कविता कर सकता था तो कबीले-कबीले जाकर अपने करुण रस से ओतप्रोत शेर सुनाता था, लोग उसके चारो ओर जमा हो जाते थे और उसके साथ ही आँसू बहाने लगते थे। खना और मुतमिम बिन नवेरा द्वारा रचित इस प्रकार के मरसिये बहुत प्रसिद्ध हैं। हारूँ का मन्त्री जाफ़र बरमकी अत्यन्त लोकप्रिय था। जब उसे हारूँ ने मरवा दिया तो उस पर बहुतायत से मरसिये लिखे गये। फ़ारसी काव्य मे इस प्रकार का करुण काव्य बहुत कम पाया जाता है, केवल आरभ काल मे फ़िरदौसी द्वारा रचित महाकाव्य 'शाहनामा' मे सुहराब की मृत्यु पर उसकी माँ का रुदन हृदयवेधक है। इसी प्रकार महमूद गजनवी की मृत्यु पर उसके दरबारी कवि फ़र्रुखी ने अत्यन्त प्रभावशाली मरसिया लिखा है। मुहतशिम काशी ने तत्कालीन बादशाह तहमास्प के आदेश पर इमाम हुसैन का एक छोटा-सा मरसिया लिखा था। इसके अलावा शेख सादी और अमीर खुसरो के भी दो मरसिये मशहूर हैं। मुक्बिल के मरसिये भी मशहूर हैं।

उर्दू काव्य के आरभ से ही मरसिया-लेखन का रिवाज रहा है। पहले ही कहा जा चुका है कि उर्दू मे साहित्य का आरभ धार्मिक प्रेरणावश हुआ

उम्रे-दराज़ मांग के लाये थे चार दिन
दो आरज़ू में कट गये दो इन्तज़ार में
है कितना बदनसीब 'ज़फर' दफ़्न के लिए
दो गज़ ज़मीं भी मिल न सकी कूए-यार में

न किसी की आंख का नूर हूँ न किसी के दिल का क़रार हूँ
जो किसी के काम न आ सके वो मैं एक मुश्ते-गुबार हूँ
मेरा रंग रूप बिगड़ गया मेरा यार मुझसे बिछुड़ गया
जो चमन ख़िज़ां से उजड़ गया मैं उसी की फ़स्ले-बहार हूँ

बहार आयी है भर दे बादए-गुलगूं से पैमाना
रहे लाखो बरस साकी तेरा आबाद मैख़ाना
मुझे आना मिले क्योंकर तेरी महफ़िल में जानाना
मेरी सूरत फ़क़ीराना तेरा दरबार शाहाना
'ज़फ़र' वह ज़ाहिदे-बेदर्द की हू-हक़ से बेहतर है
करे गर रिन्द दर्दे-दिल से हा-आ-हूए-मस्ताना

है। इसी प्रवृत्ति का एक दूसरा पहलू मरसिया-लेखन था, जो उर्दू काव्य के आरंभ से ही दिखाई देता है। किन्तु उर्दू मे मरसिये के इतिहास का दिग्दर्शन कराने के पूर्व एक और बात की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है।

मरसिया किसी की मृत्यु पर भी लिखा जा सकता है। उर्दू में भी इस प्रकार के मरसिये बहुतायत से है, जिनमे किसी व्यक्ति विशेष के निधन पर सताप प्रकट किया गया है। उदाहरण के लिए 'मोमिन' द्वारा रचित 'माशूक़ का मरसिया', 'हाली' का 'गालिब का मरसिया', 'इकबाल' का 'दाग़ का मरसिया', 'माजिद' का 'अकबर इलाहाबादी का मरसिया', 'सरूर' का अपने पुत्र की मृत्यु पर लिखा हुआ मरसिया और चकबस्त द्वारा रचित तिलक, गोखले आदि के मरसिये उल्लेखनीय है। किन्तु केवल 'मरसिया' कहने से जिस कविता का बोध होता है और जिस काव्य ने उर्दू में क्लासीकल का दर्जा प्राप्त कर लिया है, वह हजरत इमाम हुसैन और उनके बहत्तर साथियो के प्राणोत्सर्ग का वर्णन है, जिसे उर्दू मे आरभ से ही प्रमुख स्थान प्राप्त है और जिसे उन्नीसवी शताब्दी मे लखनऊ मे उसकी चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया। आश्चर्य की बात है कि ईरान मे शियो की बहुसख्या के बावजूद केवल मुहतशिम काशी का ही एक मरसिया मिलता है और अरब मे इस विषय पर लि[illegible] मरसियो का मुश्किल से पता चलता है। शायद इसका कारण तत्[illegible] शासकों का अत्याचार और दबाव रहा हो।

चुनाचे हिन्दी पाठको के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें करबला में [illegible] हुसैन की शहादत के बारे में मोटे तौर पर जानकारी हो, तभी वे मरसि[illegible] मर्म को समझने में समर्थ होगे। हजरत हुसैन हजरत अली के कनिष्ठ पुत्र [illegible] हजरत अली मुहम्मद साहब के दामाद थे और उनकी मृत्यु के बाद इस[illegible] समार के खलीफ़ा हुए थे। किन्तु उनके समय तक इस्लामी ससार में [illegible] सत्ता की छीना-झपट शुरू हो गयी थी। सीरिया के गवर्नर मुआविय[illegible] उनकी सत्ता मानने से इनकार कर दिया। इस विद्रोह में मिस्र का मुसल[illegible] हाकिम अमरू भी था। यह झगडा तय ही होने को न आता था। अ[illegible] में मुसलमानों ने तय किया कि इन तीनों को एक साथ मार दिया जाय ता[illegible]

पड़े। इन आक्रमणों में हज़रत अली तो मर गये, लेकिन मुआविया इसमें बच गया। अली के मरने पर उनके बड़े लड़के हसन ने खिलाफ़त सँभाली। मुआविया ने कूफ़ा में उन पर हमला किया और हसन को उनसे सन्धि करनी पड़ी। बाद में मुआविया ने पीने के पानी में षड्यन्त्र-पूर्वक विष मिलवा कर उन्हें मरवा डाला और सन्धि के नियमों के विपरीत अपने लम्पट और दुराचारी पुत्र यज़ीद को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

मुआविया के मरने के बाद यज़ीद ने अपने को खलीफ़ा घोषित कर दिया और आदेश दिया कि सारे मुसल्मान उसे आध्यात्मिक नेता मानें। हज़रत अली के छोटे पुत्र हज़रत हुसैन ने इस बात से इनकार कर दिया। उनको क़ाबू में लाने के लिए यज़ीद ने फिर षड्यन्त्र का सहारा लिया। उसने कूफ़ा के मुसल्मानों द्वारा हुसैन को सन्देश भिजवाया कि हमलोग यज़ीद का विरोध करेंगे और आपको खलीफ़ा बनायेंगे यदि आप यहाँ खुद आयें। हुसैन ने अपने विश्वस्त साथी, मुसलिम को इस बात का पता लगाने को भेजा। षड्यन्त्र पक्का था, बेचारे मुसलिम को भी पता न चला और उसने हुसैन को लिख दिया कि ये लोग दिल से आपके साथ हैं। अब हज़रत हुसैन अपनी बीमार पुत्री सुगरा को मदीने में ही छोड़कर कुछ साथियों को लेकर कूफ़ा चले। जब वे रास्ते में थे तो उन्हें खबर लगी कि कूफ़ावालों ने षड्यन्त्र किया है और मुसलिम तथा उनके दो अल्पायु पुत्रों को मार डाला है।

हज़रत हुसैन ने अब लौटना उचित न समझा। उनका इरादा था कि यज़ीद को समझा-बुझाकर रास्ते पर लायें। उन्होंने अपने साथियों को वापस कर दिया, किन्तु बहत्तर आदमियों ने किसी तरह उनका साथ छोड़ना पसन्द नहीं किया। उधर यज़ीद ने कूफ़ा के हाकिम उबैदुल्ला को, जो उसका मातहत था, आदेश दिया कि हुसैन को वहीं घेर कर उन्हें मजबूर करो कि वे मुझे खलीफ़ा मान लें। उबैदुल्ला की सत्तर हज़ार फ़ौज ने इमाम हुसैन के मुट्ठी भर आदमियों को करबला के मैदान में घेर लिया। उन्होंने इन लोगों का पानी लाने का मार्ग भी बन्द कर दिया, ताकि रेगिस्तान की ग्रीष्म ऋतु में प्यास के मारे इन लोगों का मनोबल टूट जाये। इसमें उबैदुल्ला को सफलता न मिली। तीन दिन तक प्यास से तड़पने के बाद भी इन लोगों ने—जिनकी ओर उबै-

दुल्ला का एक न्यायप्रिय सेनापति हुर भी आ मिला था—एक-एक करके युद्ध में
अपने प्राण दे दिये, किन्तु आन न छोडी। सबके अंत में हज़रत हुसैन भी
लड़कर शहीद हो गये। इसके बाद उनकी स्त्रियो को अत्यन्त अपमानपूर्वक
गले में रस्सी बाँधकर यजीद के दरबार में ले जाया गया और क़ैद कर दिया
गया, जहाँ हुसैन की अल्पायु पुत्री सकीना का देहान्त हो गया। बाद में यज़ीद
की पत्नी हिन्दा ने इन लोगो को रिहाई दिलवायी।

मरसियो मे जिन पात्रों का उल्लेख होता है, वे निम्नलिखित हैं—(१)
हज़रत इमाम हुसैन, जिनके चरित्र में शौर्य, गभीरता, सत्यनिष्ठा और दया
अपने प्रखरतम रूपो में मिलती है। जहाँ तक हो सकता है हिंसा रोकने की
चेष्टा करते है, अपने और अपने साथियो के कष्ट की परवा किये बग़ैर लड़ाई
रोकने की कोशिश करते हैं, लेकिन सत्य के पालन के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने
को तय्यार रहते है। (२) हज़रत अब्बास, जो हज़रत हुसैन के रिश्ते के भाई
हैं। शौर्य और क्रोध की जीती-जागती मूर्ति, पानी लाने की कोशिश में हाथ
कट जाते हैं तो मुँह से ही मश्क पकडकर लाने लगते हैं, किन्तु बीच में ही शहीद
हो जाते हैं। इमाम हुसैन के आदेशो पर कही भी बढ या रुक सकते हैं।
(३) अली अकबर, हज़रत हुसैन के अठारह वर्षीय ज्येष्ठ पुत्र, जिनका विवाह
होनेवाला था और जो वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारे गये। (४) अली असग़र,
हज़रत हुसैन के छः महीने के कनिष्ठ पुत्र, जिन्हे गोद मे लेकर हज़रत हुसैन उनके
लिए पानी माँगने गये थे, किन्तु अत्याचारियो ने जिन्हें तीरो से बींध दिया
था। (५) औन और मुहम्मद, हज़रत हुसैन की छोटी बहन ज़ैनब के दो अल्पायु
पुत्र जो बड़ी बहादुरी से लडे और मारे गये। जब लड़ाई का झडा अब्बास को
दिया गया तो यह दोनो क्षुब्ध हुए क्योंकि इससे पहले झडे का हक इनके पिता
का था, किन्तु इनकी वफ़ादारी में कमी न हुई। (६) हुर, जो पहले उबै-
दुल्ला की सेना में थे, फिर हज़रत हुसैन से आ मिले और उनकी ओर से लड़ते
हुए मारे गये। (७) हज़रत शहरबानो, हज़रत हुसैन की धर्मपत्नी जो
ईरानी बादशाह की पोती थीं। (८) हज़रत ज़ैनब, हुसैन की छोटी बहन,
जिन्होंने भाई के लिए अपने बच्चो को प्रसन्नतापूर्वक रणभूमि में मरने के लिए
भेज दिया। इन्हें अली अकबर से भी बड़ा प्रेम था और वे भी इन्हें अपनी माँ

मे अधिक मानते थे। (९) सुगरा, इमाम हुसैन की बेटी जिन्हे बीमारी के कारण मदीने मे छोड दिया था, यद्यपि वे भी पिता के साथ चलने की बडी इच्छुक थी। (१०) सकीना, हज़रत हुसैन की अल्पायु पुत्री जो बंदीगृह के कष्ट सहन न कर सकने के कारण मर गयी। (११) हज़रत क़ासिम, जो हज़रत हुसैन के भतीजे थे। (१२) हज़रत इमाम ज़ैनुल आबदीन, जो बीमारी के कारण लड न सके थे और क़ैद हो गये थे। (१३) हज़रत हुसैन के अन्य साथी अब्नमामा, मअद, जहीर क़ैन, असद, आबिस, इब्न मुजाहिर, हिलाल आदि (इनके नाम बहुत कम आते हैं)। (१४) उबैदुल्ला की सेना का क्रूर और दुरात्मा सेनापति शिम्र, जिसने हज़रत हुसैन की गर्दन खुद काटी थी और उनके सिर को भाले की नोक पर रखकर घुमाया था और उनके मरने के बाद उनके परिवार की स्त्रियो के गहने लूटे थे और मारा-पीटा था।

मरसिये का विकास—उर्दू मे, जैसा पहले कहा जा चुका है, आरभ से ही मरसिये लिखे जाते रहे हैं। उत्तर भारत मे औरगजेब के जमाने मे ही राम राव, सेवा आदि मरसिया-गो हुए हैं। दकन में भी हाशिमी, अशरफ़, रूही, सय्यदन, हाशिमी आदि बहुत से मरसिया-गो हुए हैं। इसके बाद फोर्ट विलियम कालेज के मियाँ मिस्कीं आते हैं, जिन्होंने केवल मरसिये लिखे हैं और जिनकी मरसिया-गोई का 'सौदा' ने भी लोहा माना है। किन्तु इतने मरसिया-गोयो के बावजूद साहित्यिक दृष्टि से मरसिये में कोई विशेष उन्नति नही हुई। कारण यह था कि मरसिया-लेखन को लोग धार्मिक कर्त्तव्य और स्वर्गप्राप्ति का मार्ग समझते थे। मरसिये आजकल की भाँति मुसद्दस रूप में भी नही कहे जाते थे, बल्कि ग़ज़ल और अधिक से अधिक मुरब्बा के रूप में कहे जाते थे। उनका विषय भी अत्यन्त सीमित था, यानी रोना-रुलाना। इस काल के मरसियो का रूप आजकल के सलाम और नौहो में देखा जा सकता है। इसके बाद 'सौदा' ने मरसिये में उन्नति की। उन्होंने केवल रोने-रुलाने को काफ़ी न समझा और करबला काण्ड का वर्णन साहित्यिकता-पूर्वक किया। मुसद्दस रूप में मरसिया पहले-पहल 'सौदा' के ही यहाँ मिलता है। पहले 'मीर' के मरसियो को कोई महत्त्व नही दिया जाता था, किन्तु हाल की खोजो के परि-

णामस्वरूप 'मीर' का मरसिया-गो के रूप में भी महत्त्व स्वीकार किया गया। मीर जाहक और उनके पुत्र मीर हसन ने भी कुछ मरसिये लिखे हैं।

किन्तु मरसिये की वास्तविक उन्नति लखनऊ में आकर हुई। आ की बात यह है कि जिस जमाने मे लखनवी कविता का जन्म हुआ, जिसमें ग से गंभीरता उड गयी और रेख्ती जैसी वाहियात चीज का प्रचलन हो गया, उ जमाने मे मरसिया जैसा गंभीर काव्य-रूप अपने उत्थान के चरम बिन्दु पहुँचा। मीर जमीर ने मरसिये के आठ अंग निर्धारित किये, उनमें सा त्यिकता का समावेश किया और साथ ही मरसिये को बगैर गाये हुए साधार स्वर मे पढने की परम्परा डाली। मीर जमीर द्वारा निर्धारित मरसिये के अ अंग इस प्रकार हैं —(१) 'चेहरा', यह मरसिये की भूमिका होता है औ प्रकृति-चित्रण, मरसिये के पात्र के गुणो के वर्णन या कवि की अपनी गर्वोक्ति के रूप मे होता है, (२) 'सरापा', इसमे मरसिये के पात्र के चरित्र और नख शिख आदि का वर्णन होता है, (३) 'रुखसत', इसमे मरसिये के पात्र का यु क्षेत्र मे जाने के समय प्रियजनो से विदा लेने का मार्मिक वर्णन होता है, (४ 'आमद', इसमें पात्र का रणक्षेत्र मे शान के साथ आने का ओजपूर्ण वर्ण होता है, (५) 'रजज', यह अरब की पुरानी परम्परा पर आधृत चीज है जिसमे योद्धा अपने शत्रुओं को ललकारते हुए वंश आदि के आधार पर अपनी श्रेष्ठता का वर्णन करता है, (६) 'जंग', इसमे योद्धा के रणकौशल का वीर रसपूर्ण वर्णन होता है और इसी सम्बन्ध मे उसके घोडे, तलवार आदि की प्रशंसा भी कर दी जाती है, (७) 'शहादत', चूँकि इमाम हुसैन के सभी साथी लड़ाई में काम आये थे, इसलिए मरसिये के पात्र की वीरगति का भी वर्णन आवश्यक होता है, इसमें मरते-मरते भी योद्धा का उच्च चरित्र दिखाया जाता है, (८) 'बैन', इसमे मरसिया के पात्र के मरने पर उसके प्रियजनो के शोक-प्रदर्शन को कारुणिक और मार्मिक ढंग से दिखाया जाता है, दरअसल मरसिया यही होता है।

मीर अनीस के बाद प्यारे साहब रशीद ने मरसियों में उल्लास का समावेश करने के लिए 'बहार' और 'साक़ीनामा' नामक दो अंग और जोड़े, किन्तु यह

मूल विषय से इतनी विपरीत दिशा में पड़ते थे कि इन्हें अच्छी नज़र से नहीं देखा गया और इसीलिए यह नये अंग लोकप्रिय न हो सके।

इस सिलसिले में दो बातें याद रखनी चाहिए। एक तो यह कि एक मरसिये का मुख्य पात्र एक (या कभी-कभी दो, जबकि वे दोनों अभिन्न हों) होता है। दूसरे यह कि प्रत्येक मरसिये में आठों अंग होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, मीर अनीस का पहला मरसिया जिसमें इमाम हुसैन की पैदायश का हाल है, स्वभावतः ही 'रुख़सत', 'आमद', 'जंग' और 'शहादत' से रहित है। कभी 'चेहरा' ख़त्म करके 'सरापा' से मरसिया शुरू कर दिया जाता है, कभी पहले तीन अंग उड़ाकर आमद से ही मरसिया आरंभ होता है, कभी-कभी बीच के कुछ अंग ग़ायब कर दिये जाते हैं।

मरसिये की विशेषता—मरसिये का सबसे उन्नत रूप उन्नीसवीं शताब्दी के स्वनामधन्य मरसिया-लेखकों अनीस और दबीर की रचनाओं में मिलता है। इसलिए मरसिये की विशेषताओं पर ध्यान देते समय इन दोनों—विशेषतः अनीस—की रचनाओं को निगाह में रखना चाहिए।

मरसिये को हिन्दी काव्य-शास्त्र की परिभाषाओं के अन्दर खण्ड काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इनका आकार भी साधारणतः बहुत बड़ा नहीं होता—साधारणतः छः-छः मिसरों के सत्तर-अस्सी बन्दों का एक-एक मरसिया होता है—और महाकाव्य की भाँति इनमें प्रत्येक रस का भी समावेश नहीं किया जाता। इनमें मुख्यतः करुण, वीर और रौद्र रसों की प्रधानता रहती है, गौण रूप से भयानक और अद्भुत रस भी आ जाते हैं, किन्तु शान्त, हास्य, वीभत्स तथा शृंगार रसों का समावेश बिलकुल नहीं होता। इसी प्रकार ऋतुओं आदि के वर्णन की विभिन्नता के स्थान पर केवल सुबह, दोपहर, रात्रि आदि का वर्णन-वैचित्र्य मिलता है। इस स्थिति में भी काफ़ी विभिन्नता मिलती है, क्योंकि रेगिस्तान में दोपहर और रात्रि के मौसम में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मीर ज़मीर के समय से मरसियों ने पद्यमय कथा का रूप ले लिया है। इसीलिए मरसिया-गोई की श्रेष्ठता इसीमें समझी जाती है कि उसमें कहानी के समस्त अंग आ जायें। सारी ऐतिहासिक कथाओं

की भाँति मरसिये की भी यह दिक्कत है कि उसमें कथानक के परिवर्तन की गुंजायश नहीं रहती। यह तो ठीक है कि मरसियों की कहानी अपने में इतनी पूर्ण है कि उसमें रद्दोबदल की जरूरत नहीं होती, फिर भी एक ही कहानी को बार-बार सुनाकर भी उसमें सुननेवालों की दिलचस्पी क़ायम रखना मुश्किल काम है। इसे अनीस और दबीर का कमाल ही कहना चाहिए कि उन्होंने केवल वर्णन-शक्ति के ही बल पर अपने हजारों मरसियों में ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया है कि हर एक मरसिये को दिलचस्पी के साथ पढ़ा जाता है। आगे हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि इन लोगों ने कथाकार और कवि दोनों का कर्तव्य एक साथ कैसे निबाहा है।

कथाकार ऐतिहासिक कथा लिखते समय अपनी कथावस्तु की पूर्णता के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में अपनी कल्पना से कुछ जोड़ने-घटाने की भी छूट लेता है। मरसिया-गोयों ने भी यह छूट ली है। उदाहरणतः जैनब के पुत्रों औन और मुहम्मद का झंडा न मिलने पर नाराज होना ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। फिर भी मरसिया-गोयों ने इमाम हुसैन के साथियों की वफादारी को और उभार कर दिखाने के लिए इन छोटे-छोटे योद्धाओं के आत्मसंयम की सृष्टि करके कथा को कितना चमका दिया है, यह बताने की जरूरत नहीं है। इसी प्रकार दबीर ने अपनी ओर से यह किस्सा जोड़ दिया है कि हलब के बादशाह ने अपनी बेटी की सगाई अली अकबर के साथ कर दी थी और उनके शहीद होने के बाद उनकी भावी पत्नी ने उनकी लाश पर आकर मातम किया है। इसी तरह शहरबानो का अली अकबर पर नाराज होना कि हजरत हुसैन को अकेले छोड़कर क्यों चले आये, ऐतिहासिक दृष्टि से बिलकुल निराधार है।

प्रत्येक कथा में नाटक के तत्त्व आवश्यक होते हैं। नाटकीय तत्वों के समावेश में मरसिये बेजोड़ साबित हुए हैं। नाटक के आधारभूत तत्त्व कार्यात्मक संघर्ष, भावनात्मक संघर्ष और विशिष्ट चरित्र-चित्रण होते हैं। इन सबका पूर्ण समन्वय कर देने पर नाटकीय एकता की प्राप्ति होती है, जो प्रत्येक नाटक के लिए अनिवार्य होती है। मरसिये में यह नाटकीय एकता और इसके जनक तत्त्व अपने पूरे जोर में दिखाई देते हैं। आधुनिक कथाओं या नाटकों से मरसिये

एक ही बात में पिछड़ जाते हैं। वह यह कि मरसियों के चरित्रों का विकास नहीं होता, जो चरित्र जैसा है, अंत तक वैसा ही रहता है।

किन्तु इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि मरसियों की अपनी सीमाएँ भी हैं। चूंकि उनके साथ धार्मिक भावनाएँ भी जुड़ी हुई हैं, इसलिए उनके कुछ चरित्रों का अति आदर्शवादी और अन्य चरित्रों का अति निकृष्ट रहना आवश्यक है। उनमें प्रत्येक प्राचीन गाथा की भाँति सत्य और असत्य का सीधा संघर्ष दिखाया गया है और कोई चरित्र ऐसा नहीं दिखाया जा सकता जिसमें अच्छाई और बुराई दोनों हों या वह अच्छाई से बुराई की ओर या बुराई से अच्छाई की ओर क्रमशः अग्रसर हो। यहाँ तक कि हुर की प्रशंसा उसी समय से आरंभ कर दी जाती है, जब वह उबैदुल्ला की सेना में होता है। इस प्रकार मरसिये पूर्णतः यथार्थवादी तो हो ही नहीं सकते थे, हाँ आदर्शवादी यथार्थवाद के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

अब आरंभ से मरसिये के नाटकीय तत्वों को देखिए। कार्यात्मक संघर्ष तो सारी कहानी का ही आधार है। मुट्ठी भर सत्याग्रहियों का हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग कर देना स्वयं ही इतना बड़ा संघर्ष है कि उससे आगे मानव कल्पना जा ही नहीं सकती। मरसिया-गोयों को इस बारे में आसानी आरंभ से ही रही है।

लेकिन मुश्किल आ पड़ती है भावनात्मक संघर्ष की। जब कहानी सीधी-सीधी सत्य और असत्य की लड़ाई की है तो भावनात्मक संघर्ष का सवाल कैसा? यहीं पर मरसिया-गोयों का कमाल दिखाई देता है कि उन्होंने कहानी के आदर्श में मानवीय भावनाओं का पुट देकर कैसे भावनात्मक संघर्ष दिखाये हैं और किस प्रकार इन संघर्षों से निकालते हुए कथा को आदर्शवादी अंत तक पहुँचाया है। साथ ही तारीफ यह है कि पात्रों का अपना स्थायी चरित्र एक मिनट के लिए भी नहीं बदला है। भाई-भाई में, भाई-बहन में, बुआ-भतीजे में बहसें होती हैं, लोग एक दूसरे से रूठते हैं, किन्तु इन सारी बहसों और मानसिक संघर्षों में सभी का चरित्र निखरता चला जाता है और कहानी अपने लक्ष्य की ओर निश्चित गति से बढ़ती जाती है। इन मानसिक द्वंद्वों से स्पष्ट होता है कि सारे पात्र इसी धरती के प्राणी हैं, भावनारहित फरिश्ते या मशीनें नहीं हैं। इस बात से प्रभाव बहुत बढ़ जाता है।

उदाहरण के लिए करबला में खेमे गाड़ कर अब्बास और उनके कुछ
पानी लेने जाते हैं। उबैदुल्ला की सेना आकर उन्हें रोकती है। ये लोग
पर तय्यार हो जाते हैं, अब्बास के क्रोध का ठिकाना नहीं है। लेकि
लड़ाई टालना चाहते हैं, दौड़े हुए आते हैं और अब्बास को अपनी सौगन्
है कि लड़ाई से दर-गुज़र करो। इसके बाद के अनीस के तीन बन्द देखिए-

आक़ा ने दी जो अपने सरे-पाक की क़सम
बस थरथरा के रह गया वह साहबे-करम
पर थी शिकन जबीं पे न होता था ग़ैज़ कम
चुप हो गये क़रीब जब आये शहे-उमम

गर्दन झुका दी, ता न अदब में खलल पड़े
क़तरे लहू के आँखों से लेकिन निकल पड़े

तेग़ो-सिपर के फेंक के बोला वो नामवर
कह दीजे उनसे काट के ले जायें मेरा सर
हुक्मे-खुदा है हुक्मे-शहंशाहे-बह्रो-बर
अब कुछ कहूँ जबान से क्या ताब क्या जिगर

मैं हूँ गुलाम आपके अदना ग़ुलाम का
आक़ा मुझे खयाल था बाबा के नाम का

गर्दन में हाथ डाल के हज़रत ने यह कहा
क्यों काँपते हो ग़ैज़ से भाई, ये क्या? ये क्या?
लो अब उठा लो तेग़ो-सिपर तुम पे मैं फ़िदा
दरिया को तुम तो ले चुके ऐ मेरे महलक़ा

वह शेर हो कि धाक है सारी खुदाई में
देखो कोई तुम्हारे सिवा है तराई में

मरसियों के चरित्रों में नाटकीय विभिन्नता इतनी दिखायी गयी है कि
कभी-कभी चरित्र कमज़ोर से होते मालूम होते हैं और अस्वाभाविक लगते
हैं। दरअस्ल यह नाटकीयता के चरम विकास की निशानी है। प्रत्येक मनुष्य

में ओज और करुणा की भावनाएं समय-समय पर उठती हैं। साधारण जीवन में ये एक-दूसरे को सन्तुलित किये रहती हैं, नाटक में अपने शुद्ध नग्नतम रूप में दिखा दी जाती हैं। इमाम हुसैन के धैर्य में कमी नहीं हो सकती है, लेकिन अब्बास के मरने पर उनकी यह दशा दिखायी गयी है—

> भाई के आगे भाई तड़प कर जो मर गया
> सदमा ग़ज़ब का सिब्ते-नबी पर गुज़र गया
> ख़ंजर अलम का दिल से जिगर तक उतर गया
> चिल्लाते थे कि शेर हमारा किधर गया
>
> लेते थे बोसे मुंह के तने-पाश-पाश के
> उठ-उठ के गिर्द फिरते थे भाई की लाश के

कुछ लोगों को आपत्ति भी है कि हज़रत हुसैन में मरसिया-गोयों ने करुणा और विवशता के भाव इतने दिखा दिये हैं जो उनके उत्कृष्ट शौर्यपूर्ण चरित्र से मेल नहीं खाते। वैसे भी अरबी चरित्र इतना विवश नहीं हुआ करता। इसका उत्तर केवल यही हो सकता है कि नाटकीयता की रक्षा के लिए यह बात ज़रूरी थी। परम्परानुसार मुहर्रम में हज़रत हुसैन की शहादत का मातम होता है। इस भाव को प्रखर करने के लिए हज़रत की बेकसी पर ज़ोर देना ज़रूरी था। जहाँ तक शौर्य की भावना का सम्बन्ध है, वह अब्बास और अली अकबर दोनों में अपनी चरम सीमा तक पहुंच ही गयी है, हुसैन के भी शौर्य पर ज़ोर देने पर उन दोनों के चरित्र में वह प्रखरता न रहती, जो इस समय है। उनकी विवशता और शान्तिप्रियता की पृष्ठभूमि में यज़ीद पक्ष की नृशंसता और हृदयहीनता भी खूब उभारकर दिखायी गयी है।

प्रत्येक नाटक में कथनोपकथन का बहुत महत्त्व होता है। मरसिया-गोयों ने इस बारे में भी बड़ी अहतियात से काम लिया है। किन्तु ... त
और समझ लेनी चाहिए। मरसिया-गोयों ने ठोस ...
पूरी तरह कायम रखा है। उदाहरणार्थ, ...
तलवार और भाले का ...
बन्दूक को नहीं ...

भूले से न अब ख़ातिरे-नाशाद करेंगे
मैं क़ब्र में जब हूँगी तो सब याद करेंगे

एक और उदाहरण लीजिए। हज़रत अब्बास जब लड़ने जाते हैं तो सकीना, जो उनसे बहुत हिली थी, बच्चों की-सी ज़िद करके उन्हें रोकती है। अब्बास उसे बहलाते हैं कि हम तुम्हारे लिए पानी लेने जाते हैं। सकीना इस पर नहीं मानती। इस मार्मिक वार्तालाप को अनीस ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक कविता के सीमित क्षेत्र में दिखा दिया है—

ख़ेमे में हुआ ग़ुल कि चले हज़रते-अब्बास
सब बोले कि लो और भी सरवर हुए बेआस
घबरा के सकीना ने कहा तब ये ब-सद यास
यह कहते हो तुम मुझको तो जाने दो चचा पास

मुंह शाह से वो मोड़ेंगे न मानूंगी कभी मैं
अम्मू मुझे छोड़ेंगे न मानूंगी कभी मैं

अब्बास पुकारे मैं इस आवाज़ के क़ुरबान
हम जाते हैं पानी के लिए आओ मेरी जान
दामन से लिपट कर ये लगी कहने वो नादान
मैं घर से तुम्हें जाने न दूंगी किसी उनवान

बाबा का मेरे कोई मददगार नहीं है
सदक़े गयी, पानी मुझे दरकार नहीं है

जब हुर ने अपने भाई, बेटे और गुलाम से पूछा है कि किसका साथ देना चाहिए तो वे कहते हैं—

बेटे ने कहा शाह की ग़ुलामी है सआदत
आंखों से चलेंगे कि ये है ऐन इबादत
भाई ने कहा कुफ़्र है हाकिम की अताअत
कुछ डर नहीं, बस आज से की तर्क रिफ़ाक़त

निकल जाते हैं। इस करुण रस के चित्रण के मुक़ाबले मे वीर-रस के झनझनाते हुए शब्द और वाक्य-विन्यास देखिए। यह दृश्य उस समय का है, जबकि हज़रत हुसैन की सेना लड़ाई के लिए उतावली है—

ग़ुस्से से आफ़ताब हुए महवशो के रंग
फ़ौजो पे जा पड़ें ये दिलों को हुई उमंग
तन तन के बछिर्या जो सँभालीं बराय-जंग
बेचैन हो गये फरसे अबलको-सुरंग
पासे-अदब से शाह की सफ बढ़ के थम गयी
पटरी हर इक सवार की घोड़े पे जम गयी

रौद्र-रस के चित्रण के लिए गरजते-गूँजते शब्द आवश्यक होते हैं। अब इस बन्द को देखिए, जिसमे उबैदुल्ला की फौज का अब्बास को पानी लेने से रोकना और अब्बास का बिफरना दिखाया गया है—

"हम घाट रोकने के लिए आये हैं इधर
है आज शब को दाख़िला-ए-शिम्र की ख़बर"
सुनते ही यह तराई में गूँजा वो शेरे-नर
त्योरी चढ़ा के तेग़ के क़ब्ज़े पे की नज़र
कम था न हमहमा असदे-किर्दगार से
निकला डकारता हुआ ज़ैग़म कछार से

'नासिख़' और 'आतिश' के काल तक उर्दू कविता में जितनी परिपक्वता आ गयी थी, वह सब पूर्ण रूप से मरसियों मे दिखाई देती है। शब्दों और वाक्यांशों का विषय के अनुसार उचित चयन देख ही चुके। उपर्युक्त उदाहरणों में हर जगह भाषा का सुचारापन, मुहावरों का सुन्दर प्रयोग और काव्यप्रवाह देखने को मिल जाता है। दरअसल काव्य के गुणों की दृष्टि से कुल मिलाकर मरसिये का मुक़ाबला कोई और काव्यरूप नहीं कर सकता। साथ ही मरसियों में दो गुण—वास्तविक प्रकृति-चित्रण और वात्सल्य रस—ऐसे हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम समय तक उर्दू के किसी और काव्य-रूप में नहीं आ सके थे। इन दोनों की भी एकआध उदाहरण देखिए।

मदीने में छोड़ी जानेवाली बीमार सुग़रा छः महीने के छोटे भाई असग़र को विदा कर रही है—

थर्राते हुए हाथ उठाकर वो पुकारी
इस हाथ के इस चांद से मुखड़े के मैं वारी
आखिर कोई दिन में है बस अब मौत हमारी
भय्या ! नहीं जीने की मैं फ़ुरकत में तुम्हारी
फिर आके जब इस झूले को आबाद करोगे
तुम भी मेरी गोदी को बहुत याद करोगे

प्रातः वेला का वर्णन रूपक के साथ देखिए—

आमद वो आफताब की, वह सुबह का समां
था जिसकी जौ से वज्द में ताऊसे-आसमां
ज़र्रों की रौशनी पे सितारों का था गुमां
नहरे-फ़रात बीच में थी मिस्ले कहकशां
हर नख्ल पर ज़ियाए-सरे-कोहे-तूर थी
गोया फ़लक से बारिश-बाराने-नूर थी

रेगिस्तान की गर्मी का वर्णन—

वह गर्मियों के दिन, वो पहाड़ों की राहे-सख़्त
पानी न मंज़िलों न कहीं सायए-दरख़्त
डूबे हुए पसीने में हैं ग़ाज़ियों के रख़्त
सँवला गये हैं रंगे-जवानाने-नेकबख़्त
राकिब अबाएँ चांद से चेहरे पे डाले हैं
तौसे हुए समन्द ज़बानें निकाले हैं

घोड़े की प्रशंसा अनीस यूं करते हैं—

जुर्रत में रश्के-शेर तो हैकल में पीलतन
पोई के वक़्त कब्के-दरी, जस्त में हिरन

बिजली किसी जगह तो कहीं अब्रे-कतराज़न
बन बन के आने जाने में ताऊस का चलन
सीमाब था ज़मीं पे, फ़लक पर सहाब था
दरिया पे मौज था तो फ़लक पर उक़ाब था

और तलवार की तारीफ़ यह है—

चमकी, गिरी, उठी, इधर आयी, उधर गयी
खाली किये परे तो सफ़ें ख़ूँ में भर गयी
काटे कभी क़दम कभी बालाए-सर गयी
नद्दी ग़ज़ब की थी कि चढ़ी और उतर गयी
इक शोर था, ये क्या है जो कहे-समद नहीं
ऐसा तो रोदे-नील में भी जज़्रो-मद नहीं

प्रमुख मरसिया-गो

उर्दू के प्रारंभिक मरसिया-गोयों के नामों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। मीर ज़मीर ने मरसिये के विषय में विस्तार करके मरसिये का जो स्थिर रूप निर्धारित किया, उसका भी उल्लेख हो चुका। यहाँ यह बात कहना और ज़रूरी है कि मीर ज़मीर ने मरसियों की ज़बान भी पहले से ज़्यादा साफ़ कर दी थी और अभी तक के मरसिया-गोयों ने मरसिया में जैसे गड़गड़ाते हुए शब्द भर दिये थे, उन्हें मीर ज़मीर के ज़माने में निकाल दिया गया था। मीर ज़मीर 'नासिख़' के समकालीन थे और कविता में उनसे अत्यधिक प्रभावित। इसलिए ज़बान की सफ़ाई और बन्दिशों की चुस्ती तो उनके यहाँ ख़ूब आ गयी है, लेकिन भावों की स्वाभाविकता, सरलता और प्रभाव उनके यहाँ उनके समकालीन और प्रतिद्वंद्वी मीर ख़लीक़ से कुछ कम है। फिर भी उनके यहाँ रसों का आज वही देखने को मिलता है, जो क़सीदों में होता है और इस आधार पर उनके मरसिये अत्यन्त उत्कृष्ट हो गये हैं।

मीर ख़लीक़—मीर ख़लीक़ उर्दू के सबसे प्रसिद्ध मरसिया-गो मीर अनीस के पिता थे। इनके पिता मीर हसन थे, जिनकी मसनवी 'सेहरुल्बयान' उर्दू की

श्रेष्ठतम मसनवी कही जाती है। मीर हसन के पिता मीर ज़ाहक थे 'सौदा' से हजवों में चोटें चलती थीं। अनीस ने एक जगह गर्वोक्ति की "पाँचवीं पुश्त है शब्बीर की मद्दाही में।" इससे मालूम होता है कि मीर मीर ज़ाहक तथा ज़ाहक के पिता मीर अज़ीज़ुल्ला ने भी मरसिये लिखे लेकिन इन तीनों के मरसिये उपलब्ध नहीं हैं। मीर ख़लीक़ के मरसियों का एक संग्रह अवश्य प्रकाशित हुआ है। उसमें बहुत से मरसिये ऐसे हैं, जो अनीस के नाम से मशहूर हैं। अन्य मरसियों को भी शिबली साहब भाषा शैली के आधार पर अनीस का ही बताते हैं। दरअस्ल कविता के मामले में भाषा और शैली की इतनी स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती, विशेषतः जब दोनों कवि पिता पुत्र हों। फिर शिबली की बात मान ली जाये तो साबित होता है कि मीर ख़लीक़ ने मरसिये लिखे ही नहीं। ऐसा है तो समस्त इतिहासकारों की यह बात झूठी पड़ जाती है कि मीर ख़लीक़ और मीर ज़मीर अपने काल के अद्वितीय मरसिया-गो थे। दरअस्ल जो मरसिये अनीस और ख़लीक़ दोनों के यहाँ मिलते हैं, उनके बारे में भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे अनीस ने ही लिखे होंगे। पुत्र की रचना पिता के नाम से छपे, इससे अधिक युक्तिसंगत बात तो यह होगी कि पिता ने कुछ मरसिये लिखकर पुत्र को अपने नाम से पढ़ने को दे दिये हों और बाद में वे पिता की हस्तलिपि में पाये गये हों— विशेषतः ऐसी अवस्था में जब कि एक तो आर्थिक संकट के कारण मीर ख़लीक़ स्वयं लिखकर दूसरों को देने लगे थे और दूसरे मीर अनीस को उन्होंने ग़ज़ल के क्षेत्र से घसीटकर मरसिये के मैदान में ला खड़ा किया। अतएव इन मरसियों पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मीर ख़लीक़ का घराना दिल्ली का था और उनके परिवार की भाषा दिल्ली की थी। इसलिए उनकी भाषा में कहीं-कहीं ठेठ दिल्ली के मुहावरे आते हैं। इसके अतिरिक्त शाब्दिक चमत्कार से अधिक कविता के प्रभाव पर ध्यान देने की दिल्ली की परम्परा का भी उन्होंने पालन किया है। मीर ज़मीर से इनकी रचनाएँ प्रभावोत्पादक अधिक हैं और इसी परम्परा को इनके पुत्र मीर अनीस ने बहुत आगे बढ़ा दिया।

मीर बबर अली 'अनीस'—अनीस का जन्म १८०२ ई० मे फैजाबाद में हुआ था। मुहल्ला गुलाबबाड़ी उनका जन्मस्थान था। कुछ दिनों बाद उनके पिता मीर खलीक लखनऊ मे आकर बस गये। उनकी शिक्षा बहुत अधिक तो नही हुई, लेकिन फिर भी उन्होंने अरबी-फारसी अच्छी खासी पढ़ ली। कविता की ओर उनका झुकाव बचपन में ही था और मरसिये भी वे शुरू से ही लिखते थे। गजलों में उनकी प्रसिद्धि होने लगी तो पिता ने उनको मरसिया ही कहने की ओर प्रेरित किया, क्योंकि मरसिया कहने में धार्मिक कर्तव्य भी पूरा होता था। मीर अनीस के मरसियों की ख्याति उनके पिता के ही समय से होने लगी थी। फैजाबाद मे यह अपना तखल्लुस 'हजीं' करते थे, लेकिन लखनऊ आकर उन्होंने नासिख के कहने पर तखल्लुस बदल दिया। नासिख ने आरंभ से ही भविष्यवाणी की थी कि अनीस महाकवि होंगे। यह भविष्यवाणी सत्य हुई और अनीस का उर्दू काव्य में स्थान इतना ऊँचा हो गया कि लोग उनको 'भारत का शेक्सपियर' और उर्दू कविता का होमर, वर्जिल और वाल्मीकि कहने लगे। उन्होंने उर्दू काव्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

अनीस ने कई हजार मरसिये, सलाम, रुबाइयाँ और किते लिखे हैं। कहा जाता है कि उन्होंने ढाई लाख शेर लिखे, लेकिन उनकी समस्त रचनाएँ प्रकाशित नही हुईं। उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे पाँच जिल्दों में प्रकाशित हुई हैं। मीर साहब के प्रशंसकों का कहना है कि इनमें से बहुत कुछ बाद में उनके शागिर्दों ने जोड़ा है। मौलवी अब्दुलगफूर 'नस्साख' ने एक पुस्तिका मीर अनीस और मिर्जा दबीर की काव्य-संबंधी त्रुटियों के बारे में लिखी थी। इसका उत्तर नासिख के शिष्य मिर्जा मुहम्मद रजा 'मोजिज' ने अपनी पुस्तक 'तजहीरुल-औसाख' में दिया था। इस पुस्तक में लिखा है कि मुहर्रम की मजलिसों में पढ़ने के ख्याल से शागिर्दों ने कही उनके मरसियों में से कुछ निकाल डाला है, कही जोड़ भी दिया है, ताकि (उनकी समझ में) प्रभाव अधिक पड़ सके। इसके अलावा बहुत-से मरसिये श्रोताओं ने मजलिसों में ही जल्दी में लिखे है, जिनमें जो स्थान छूट गये हैं, उन्हें दूसरे लोगों ने अपनी ओर से भरा है। इसीलिए भाषा और अभिव्यक्ति संबंधी कई भूलें हो गयी हैं। साथ ही यह भी बात है कि अनीस के जमाने में ही भाषा मे तेजी से सुधार हो रहा था, इसलिए उनकी

युवावस्था की रचनाओ मे कुछ पुरानापन होना स्वाभाविक है। कुछ भी हो, अनीस की सारी रचनाएँ समतल नही हैं, कुछ बहुत ही उत्कृष्ट हैं, कुछ अति साधारण हैं।

डाक्टर रामबाबू सक्सेना ने लिखा है—"इनको शारीरिक व्यायाम का भी बहुत शौक था। शस्त्र-सञ्चालन मीर काजिम अली और उनके बेटे अमीर अली से उन्होने सीखा था, जो उस समय इस कला में बहुत प्रसिद्ध थे। अनीस अच्छे घुडसवार भी थे। मरसिये मे रणक्षेत्र का दृश्य दिखाने मे यह बातें उनको बहुत सहायक हुईं।" हमे इस कथन पर आश्चर्य है। मुहम्मद हुसैन आजाद ने उनका जो चित्र खैंचा है, उससे मालूम होता है कि अनीस दुबले-पतले गोरे चिट्टे आदमी थे, बदन में खून बहुत कम था। मिम्बर (मच) पर जाकर मरसिया पढ़ते थे तो पहले कुछ बन्द लोगो को सुनाई ही नही देते थे, फिर जब जोश में आते थे तो सारी मजलिस को रुला देते थे। समझ में नही आता, किसकी बात सही मानी जाय। जिसे शुरू से कसरत का शौक होगा और जो अच्छा घुड़सवार होगा, वह दुर्बल और रक्ताभाव से पीडित कैसे होगा? यह जरूर है कि डेढ़ सौ वर्ष पूर्वकालीन भारत मे अभिजात वर्ग में कसरत, घुडसवारी, तलवारबाजी, भाला चलाने आदि की शिक्षा का इतना प्रचलन था कि हरएक को उसकी जानकारी थी। चुनाँचे अनीस को भी अगर इन बातो की पूरी जानकारी थी, तो इससे यह साबित नही होता कि उन्हें इसका शौक भी रहा होगा। बचपन में इन बातो की कुछ शिक्षा भी उन्होने पायी होगी, लेकिन उनमे उस्ताद करने का कोई सबूत नही है।

अनीस की प्रकृति मे सतोष तथा स्वाभिमान दोनो पर्याप्त मात्रा में थे। अपने घराने की भाषा और लखनवी मुहावरो में जहाँ अन्तर होता था, वे अपने घराने की भाषा का ही प्रयोग करते थे। उनके रहन-सहन का ढग नियमित था। पहले से सूचना दिये बगैर कोई व्यक्ति उनसे नही मिल सकता था। अमीर-रईसो की चापलूसी उन्होने नही की, बल्कि साधारणत उनसे मिलने में भी परहेज करते थे। यहाँ तक कि वाजिद अली शाह द्वारा आयोजित एक मुशायरे में भी वे बडी मुश्किल से गये थे। उनकी वेशभूषा भी सदा एक-सी रही थी। इस वजेदारी और उनकी कवित्व-प्रतिभा के कारण उनकी बडी प्रतिष्ठा थी।

कभी किसीके आगे हाथ नही फैलाया फिर भी अमीर-उमरा मरसिया-लेखन के कारण उन्हें काफ़ी धन श्रद्धापूर्वक भेट कर दिया करते थे। एक बार तो हैदराबाद मे नवाब तहव्वुर जग ने अपने हाथ से उनकी जूतियाँ उठाकर पालकी मे रखी थी।

अवध की नवाबी के समय तक अनीस को कही बाहर जाने की आवश्यकता नही पडी। अवध शियो का गढ था। शासक वर्ग के शिया होने के कारण मुहर्रम की बड़ी धूम थी। मुहर्रम के मातम का समय साधारणत दस दिन होता है, अवध मे पूरे चालीस दिन चिहल्लुम तक मातम किया जाता था। इन दिनो दरबार का सारा काम रुक जाता था और विलासी सामन्तवर्ग अपने भोग-विलास का पूर्ण परित्याग कर देता था। इस काल में जगह-जगह मजलिसें होती थी, जिनमें करबला-काण्ड का वृत्तान्त सुनाया जाता था और श्रोतागण छाती पीटकर मातम करते थे। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर दबीर को बुलाकर और नवाब वाजिद अली शाह अनीस और दबीर दोनो से मरसिये सुना करते थे। स्पष्ट है कि ऐसे वातावरण में मरसिया-गोयो का कितना सम्मान होता होगा और उन्हे लखनऊ छोडकर जाने की आवश्यकता क्यो पडती होगी।

लेकिन अवध की नवाबी समाप्त होने पर पुरानी हालत न रही। पहले तो दो तीन वर्ष अनीस ने यह सोचकर लखनऊ नही छोडा कि लखनऊ के बाहर उनकी रचनाओ की क़द्र नही होगी, किन्तु फिर उन्हें भी परिस्थितियो ने विवश किया कि बाहर की यात्रा करे। उन्होने दो बार पटना की यात्रा की—एक १८५९ ई० मे और दूसरी १८६० ई० मे। दूसरी बार पटना से लौटते हुए वे कुछ दिन बनारस में भी रुके थे। फिर १८७१ ई० में वे कुछ दिनो के लिए हैदराबाद गये थे और वापसी में कुछ दिन इलाहाबाद मे रहे थे।

अनीस जहाँ-जहाँ भी जाते थे, उनकी मरसिये की मजलिस में हजारो की भीड लग जाती थी। तारीफ़ की बात यह थी कि उनके मरसिया-पाठ में नाट-कीयता बिल्कुल न होती थी। गाकर मरसिया पढ़ने का रिवाज तो उनके पिता के ही ज़माने मे उठ गया था। किन्तु मीर ख़लीक़ अङ्ग-सञ्चालन द्वारा प्रभाव पैदा किया करते थे, अनीस ने यह भी छोड दिया। वे केवल आँख और कभी-कभी कुछ गर्दन हिला देते थे। केवल स्वर के उतार-चढ़ाव के बल पर

८ ई० मे वे मुर्शिदाबाद गये और १८५९ मे पटना। १८७४ मे उनकी खराब हो गयी थी। वाजिद अली शाह ने उन्हें मटिया बुर्ज में बुलवाकर ा इलाज कराया, जिससे उन्हें फिर दिखाई देने लगा। फिर भी वे अधिक तक दुनिया न देख सके। १८७५ ई० मे लखनऊ में उनका देहावसान हो और वे अपने घर में ही दफन किये गये।

मिर्जा दबीर ने लगभग तीन हजार मरसिये लिखे हैं। आज के आलोचक उन्हें अनीस से नीचा दरजा दें, किन्तु यह स्पष्ट है कि अपने जमाने नकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। इसका कारण यह था कि उनमें विद्वत्ता त थी और उनकी रचनाओ मे कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची होती थी। ह गाजीउद्दीन हैदर तथा नवाब वाजिद अली शाह दोनो नियमित रूप से र को अपने मरसियो की मजलिसों मे बुलाया करते थे। बहुत से अमीर-रा उनके शागिर्द हो गये। यहाँ तक कि बेगमे और सामन्तवर्ग की अन्य हिलाएं भी उनकी शिष्या हो गयी। मिर्जा रजब अली बेग 'सरूर' ने अपनी या पुस्तक 'फ़सानए अजायब' में मिर्जा दबीर की मरसिया-गोई का उल्लेख या है।

दबीर के पुत्र मिर्ज़ा मुहम्मद जाफर 'औज' भी मरसिया-लेखन में पटु थे। न्होंने अपने पिता की ही शैली अपनायी। अपने पिता की ही भांति वे भी बड़े विद्वान् और काव्यशास्त्र मे अत्यन्त निपुण थे। छन्द शास्त्र सम्बन्धी एक पुस्तिका भी उन्होंने लिखी है। उनके मरसिये भी पटना, रामपुर और हैदराबाद के दरबारो में प्रसिद्ध हुए थे और इन जगहों तथा लखनऊ के रईसो से उन्हे मरसिया-पाठ के लिए प्रचुर धन प्राप्त हुआ था।

अनीस और दबीर की तुलना—अनीस और दबीर की तुलना उर्दू काव्यालोचना का प्रमुख अंग-सी बन गयी है। स्वयं उनके काल में तो यह हाल था कि मरसियों के शौकीन दो गिरोहों में बँट गये थे। अनीस के प्रशंसक 'अनीसिए' कहलाते थे और दबीर के 'दबीरिए'। ये लोग मजलिसों में पहुँचते और अपने प्रशंसा-पात्र के प्रतिद्वंद्वी के मंच पर आते ही उसकी त्रुटियों को खोज-खोजकर निकालते थे। चूंकि तहज़ीब और तकल्लुफ़ का जमाना था, साथ ही मजलिसों का वातावरण धार्मिक होता था, इसलिए यह आलोचना भी

आधुनिक आलोचक भी मानते हैं कि अनीस के यहाँ करुणा तो अधिक प्रभावोत्पादक है, किन्तु रण-वर्णन दबीर-जैसा नहीं है।

अब इन विशेषताओं को युग की रुचि की कसौटी पर परखिए। शाहजहाँ और औरंगज़ेब के काल की भारतीय फ़ारसी कविता और उन्नीसवीं शताब्दी की उर्दू कविता के क्षेत्र में संवेदना के नये क्षेत्र न खुल पाने और पुरानी संवेदनाओं के बेजान हो जाने के कारण अधिक ध्यान सूक्तियों के सर्जन और भाषा के सौष्ठव की ओर हो गया था। इसीलिए अपने-अपने युग में आकारवादियों का अधिक प्राबल्य रहा। किन्तु आधुनिक युग में अंग्रेजी काव्य के संसर्ग से मान्यताएँ बदल गयीं और आकारवाद लोगों को प्रसन्न करने की बजाय उबाने लगा। यही कारण है कि आज का साहित्य-प्रेमी प्राचीन काव्य में वही चीज़ अधिक चाहता है जो उनकी संवेदना को जगा दे और भावनाओं में हिलोर पैदा कर दे। इसी कारण वर्तमान शताब्दी में अनीस का अधिक मान है, यद्यपि दबीर भी उनसे कुछ कम कुशल शिल्पी नहीं हैं।

अन्य मरसिया-लेखक—यूँ तो मरसिया-लेखन के धार्मिक कृत्य होने के कारण मरसिया-लेखकों की कभी कमी नहीं रही है, किन्तु उनमें मशहूर कम ही हुए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ख़लीक़ और ज़मीर के समकालीन दिलगीर और फ़सीह थे, लेकिन ये जल्द ही मैदान छोड़ गये। अनीस के समकालीनों में अफ़सुर्दा, नाज़िम, सिकन्दर, गदा और अहसन का नाम लिया जा सकता है।

स्वयं अनीस के घराने में मीर मूनिस, मीर नफ़ीस, आरिफ़ और जलीस के नाम प्रसिद्ध हैं। मीर मूनिस अनीस के छोटे भाई थे। वे मरसिया पढ़ते बहुत अच्छा थे। महमूदाबाद के राजा अमीर हसन खाँ मरसिये में उनके शिष्य थे और उन्हें अच्छा वेतन देते थे। मीर खुरशीद अली 'नफ़ीस' अनीस के बड़े लड़के थे। उन्होंने अपने पिता के शिष्यत्व में उनकी परम्परा निबाही। नफ़ीस के छोटे भाई सलीस और रईस भी मरसिया-गो थे, लेकिन नफ़ीस से कहीं कम नाम पाया। किन्तु सलीस के पुत्र (अनीस के पौत्र) मीर जलीस अपनी ग़ज़लों और मरसियों के लिए काफ़ी प्रसिद्ध रहे हैं। किन्तु जलीस से भी अधिक प्रसिद्ध सय्यद अली मुहम्मद आरिफ़ थे। यह मीर नफ़ीस के नवासे (दौहित्र)

थे। इनका जन्म १८५९ ई० मे हुआ। इन्हें मीर नफीस ने ही शिक्षा दिलायी और कविता मे इनका मार्ग-प्रदर्शन किया। महमूदाबाद के महाराजा सर मुहम्मद अली मुहम्मद खाँ मरसिये मे इनके शागिर्द थे और इन्हें सवा सौ रुपया महीना वेतन दिया करते थे। अपने ज़माने मे यह लखनऊ के प्रमुख कवि और मरसिया-लेखक माने जाते हैं। इन्होंने मरसियो में मूल कथा की ओर अधिक ध्यान दिया और प्यारे साहब रशीद की तरह अन्य अंग-बहार, साकीनामा आदि–जोडने के चक्कर मे नही पडे। १९१६ ई० के लगभग इनका देहांत हुआ।

अनीस के घराने के अलावा उन्नीसवी शताब्दी में सय्यद मिर्ज़ा उन्स का घराना भी मरसिया-लेखन के लिए प्रसिद्ध रहा है। मिर्ज़ा उन्स का दीवान प्रकाशित नही हुआ, उनके घराने मे ही सुरक्षित रखा है। नवाबी ज़माने में वे प्रत्येक रविवार को अपने घर मुशायरा करते थे, जिसमें आतिश और नासिख के प्रमुख शिष्य तथा उस समय के अन्य प्रसिद्ध कवि भाग लिया करते थे। मिर्ज़ा उन्स का देहान्त १८८५ ई० मे हुआ। इनके बडे पुत्र हुसेन मिर्ज़ा 'इश्क' अनीस और दबीर के समकालीन थे और श्रेष्ठ तथा निर्दोष रचना करते थे, किन्तु इनकी ख्याति उन दोनो से कही कम हुई। 'इश्क' के तीसरे भाई सैयद मिर्ज़ा 'तमश्शुक' लखनऊ मे सय्यद साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। मरसिया और ग़ज़ल कहने में बेजोड़ थे। चूंकि वे अपने बडे भाई के प्रतिद्वद्वी कहलाना नही चाहते थे, इसलिए बहुत दिनो तक करबला मे ही रहे और इश्क के मरने पर वहाँ से लौटे। मीर अनीस उनके बडे मित्र थे। तअश्शुक की ख्याति अपने काल में खूब रही। तअश्शुक के बड़े भाई अहमद मिर्ज़ा 'साबिर' वाजिद अली शाह की बेगम मलिका जहाँ की ड्योढ़ी के दारोग़ा थे और अच्छे कवि थे। वाजिद अली शाह के पद्यमय प्रेम-पत्रों का बेगम की ओर से पद्यमय उत्तर लिखा करते थे। इन्हें मीर अनीस की पुत्री ब्याही थी। इस विवाह से दोनो मरसिया-गोयों के घरानो में रिश्तेदारी भी हो गयी।

इस वश के सबसे प्रसिद्ध मरसिया-गो और कवि प्यारे साहब रशीद थे। यह 'साबिर' के पुत्र और अनीस के दौहित्र थे। इन्हें अनीस के पुत्र मीर अस्क

की बेटी ब्याही थी। रशीद अनीस की परम्परा में थे। उन्होंने मरसिये, गजलें, सलाम, रुबाइयाँ आदि बहुत लिखी हैं। मरसिये में दो अंग-बहार और साकी-नामा इन्होंने जोड़े हैं। इन्होंने रामपुर और हैदराबाद के दरबारों में मरसिये पढ़कर प्रशंसा प्राप्त की। ये कलकत्ता, कानपुर आदि में भी मरसिये पढ़ने जाते थे। १९१८ ई० में इनका देहान्त हो गया।

: ८ :

अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव और नया युग

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे फोर्ट विलियम कालेज के नेतृत्व मे उर्दू गद्य लेखन का जो सूत्रपात हुआ वह आरभ से ही अंग्रेज़ी रुचि के अनुसार हुआ। 'गोया' और 'सरूर' ने थोड़ा-बहुत फ़ारसी गद्य की परिपाटी को भी उर्दू की साहित्यिक गद्य मे चलाना चाहा, किन्तु वे इस प्रयत्न मे सफल नही हुए। अतएव गद्य-लेखन की परम्परा आरभ से ही उर्दू मे फ़ारसी की परम्परा से भिन्न रही। यूं तो कालान्तर में उर्दू काव्य में भी यूरोपीय प्रभाव पड़ा और खास तौर पर 'हाली' और 'आजाद' के आन्दोलन के फलस्वरूप यूरोपीय कविता के काफ़ी तत्त्व उर्दू कविता मे ले लिये गये, फिर भी फ़ारसी की काव्य-परम्परा बहुत दृ...

ऐसे मिलते हैं, जिनका शब्दश अनुवाद अंग्रेज़ी मे किया जाय तो अंगरेजों को पढ़ने में कुछ अजीब न मालूम हो।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के समय की गद्य रचनाएँ मुख्यत अनुवाद हैं। किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे मौलिक गद्य-लेखन की परम्परा चल पडी और अनुवाद क्षेत्र में भी फारसी की कहानियों और नैतिक उपदेशों की बजाय अंग्रेज़ी से गभीर कोटि के विषयो को उर्दू में भाषान्तरित किया जाने लगा।

उर्दू मे इस नवजागरण की लहर दिल्ली कालेज की स्थापना के फलस्वरूप आयी। इस कालेज की स्थापना उन्नीसवी शताब्दी के आरभ मे हुई थी। १८२३ ई० से इसमें अंग्रेज़ी पढ़ायी जाने लगी। १८४३ ई० मे यह कालेज बादशाही पुस्तकालय मे आ गया और इससे एक वर्ष पूर्व दिल्ली कालेज सोसाइटी की

स्थापना हो गयी थी, जिसके तत्वावधान में अंग्रेजी से गंभीर विषयों पर उर्दू में पुस्तकें अनूदित की गयीं। दुर्भाग्य से १८५७ के विद्रोह में दिल्ली कालेज भी समाप्त हो गया, किन्तु वह अपना काम पूरा कर गया। १८३२ ई० में कम्पनी की सरकार ने फारसी की बजाय उर्दू को अदालती भाषा के रूप में मान्यता दे दी, जिसके कारण उर्दू को बड़ा बल मिला। इसके अतिरिक्त १८३७ ई० में कानपुर और दिल्ली तथा उसके पश्चात् लखनऊ में लीथो प्रेस खुलने के कारण उर्दू पुस्तकों के प्रकाशन में बड़ी सहायता मिली।

सर सय्यद अहमद खाँ—मुसलमानों में नयी जागृति पैदा करने में सर-सय्यद ने जो सामाजिक और शैक्षणिक सेवाएँ की हैं, वह तो प्रसिद्ध हैं ही, उर्दू भाषा और गद्य पर भी उनके कम अहसान नहीं हैं। इनके पूर्व पुरुष शाहजहाँ के समय में ईरान से भारत आये और दरबारी अमीरों में हो गये। इनके पितामह को 'जौवादुद्दौला' की उपाधि आलमगीर द्वितीय के समय में मिली थी। अकबर शाह द्वितीय ने सर सय्यद के पिता मीर तकी को मन्त्रिपद देना चाहा तो उन्होंने अपने संतोषी स्वभाव के कारण उसे अस्वीकार कर दिया। सर सय्यद का जन्म १८१७ ई० में दिल्ली में हुआ। उनकी माँ अज़ीमुन्निसा बेगम बड़ी शिक्षित तथा योग्य महिला थीं, उन्होंने सर सय्यद को शिक्षा दी। अपने बचपन में सर सय्यद के 'ग़ालिब', 'मोमिन', 'शेफ्ता', 'आज़ुर्दा' आदि साहित्यिकों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे और 'ग़ालिब' से तो इतना हेल-मेल था कि सर सय्यद उन्हें चचा कहा करते थे। १७३८ ई० में सर सय्यद ने नौकरी शुरू की। पहले सरिश्तेदार हुए, फिर उन्नति करते-करते १८४६ में सदर अमीन (सिविल जज) हो गये। इसी पद पर उनका बिजनौर, ग़ाज़ीपुर, बनारस, मुरादाबाद और अलीगढ़ को तबादला हुआ। १८७८ ई० में उन्होंने नौकरी से अवकाशग्रहण कर लिया।

१८५७ ई० के विद्रोह में उन्होंने अँगरेजों की बड़ी सहायता की। इसके इनाम में सरकार ने उन्हें एक ताल्लुका देना चाहा था, किन्तु उन्होंने इनकार कर दिया। नौकरी के ही जमाने में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आसारुस्सना-दीद' लिखी। १८६२ ई० में ग़ाज़ीपुर पहुँचने पर उन्होंने एक साइन्टिफ़िक सोसाइटी बनायी और १८६४ ई० में अलीगढ़ आने पर यहाँ भी वही संस्था

प्रोफेसर रामचन्द्र—प्रो० रामचन्द्र दिल्ली कालेज के प्रमुख अध्यापकों में
और गणित के विशेषज्ञ थे। यह ईसाई हो गये थे। इस बात से इन्हें इतनी
ना मिली थी कि यह बड़े कटु हो गये थे, लेकिन दिल के बहुत अच्छे आदमी
गणित के अतिरिक्त, जिसमें वे यूरोप तक प्रसिद्ध हो गये थे, उनकी
सी और अरबी में भी पैठ थी। वे बाद में शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर भी
गये थे। उन्होंने अंग्रेज़ी और अरबी पुस्तकों से छाँटकर रोम और यूनान के
ानों का वृत्तान्त 'तज़किरतुल्कामिलीन' के नाम से लिखा था। इसके अलावा
मूले-इल्मे-हैयत' और 'अजायबे-रोज़गार' नाम से दो विज्ञान सम्बन्धी
तकें भी लिखी हैं। प्रो० रामचन्द्र की लेखन-शैली भी सादी और सरल है।
समें पुराने तरीक़े की अनुप्रासयुक्त और लच्छेदार शब्दावली कहीं नहीं है।
हीं-कहीं अरबी के शब्द अधिक आ जाते हैं। प्रख्यात गद्यलेखक नज़ीर अहमद,
ज़काउल्ला और मुहम्मद हुसैन आज़ाद प्रो० रामचन्द्र के प्रिय शिष्यों में से थे।

इस ज़माने के दो और गद्यलेखक पुराने ढंग की अनुप्रासयुक्त और लच्छे-
दार इबारत लिखने में प्रसिद्ध हुए हैं। एक तो मौलाना गुलाम इमाम 'शहीद'
हैं, जो अधिकतर धार्मिक विषयों पर गद्य और पद्य में लिखते थे और दूसरे मुंशी
ुलाम ग़ौस 'बेख़बर', जो 'ग़ालिब' के प्रिय मित्रों में से थे। मौलाना 'शहीद'
इलाहाबाद में पेशकार थे लेकिन हैदराबाद और रामपुर के दरबारों में भी इनकी
पूछ थी। इनकी पुस्तकें 'मजमूअ-ए-मौलूदे-शरीफ़' और 'बहारे-बेख़िज़ाँ'
हैं। बेख़बर १८२५ ई० में नेपाल में पैदा हुए थे। पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान
उत्तर प्रदेश) के लेफ़्टीनेण्ट गवर्नर के मीरमुंशी थे। १८८५ ई० में इन्होंने
पेंशन ली और १९०५ ई० में इनका देहान्त हुआ। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध
हैं—'फ़ुग़ाने-बेख़बर' और 'गुलदस्ते-बेख़बर'।

नज़ीर अहमद—उर्दू के प्रथम उपन्यासकारों में मौलवी नज़ीर अहमद
का नाम काफ़ी प्रसिद्ध है। यह १८३१ ई० में बिजनौर के रेहड़ नामक गाँव में
पैदा हुए थे। १८४५ ई० में वे दिल्ली आ गये। यहाँ पहले मौलवी अब्दुल
ख़ालिक़ से पढ़े, जिनकी पोती से बाद में उनका विवाह हो गया। फिर वे दिल्ली
कालेज में पढ़ने लगे। 'हाली', मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद', ज़काउल्ला आदि

उनके सहपाठी थे। कालेज छोड़ने पर उन्होंने बीस या पच्चीस रुपये मासिक पर पंजाब में अध्यापन-कार्य आरंभ किया। धीरे-धीरे यह इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स हो गये। गदर में इन्होंने एक अँगरेज़ महिला की प्राणरक्षा की थी, जिस पर इन्हें पदक और पुरस्कार मिला। १८६१ ई० में उन्होंने इण्डियन पीनल कोड का 'ताजीराते-हिन्द' के नाम से अनुवाद किया। अब यह पहले तहसीलदार और फिर डिप्टीकलेक्टर बन्दोबस्त बना दिये गये। फिर इन्हें हैदराबाद बुला लिया गया, जहाँ यह उन्नति करते-करते मेम्बर बोर्ड आफ रेवेन्यू के पद तक पहुँच गये। हैदराबाद से पेंशन लेने के बाद ये दिल्ली आ गये और साहित्य-सेवा तथा धर्मकार्य में लग गये। इनका देहावसान १९१२ ई० में हो गया। इन्हें १८९० ई० में सरकार से 'शमसुलउलेमा', १९०२ ई० में एडिंबरा यूनीवर्सिटी से एल-एल० डी० तथा १९१० ई० में पंजाब यूनीवर्सिटी से डी० ओ० एल० की उपाधियाँ मिलीं। इन्होंने लगभग तीस पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मिरातुलउरूस', 'बिनातुन्नाश', 'तौबतुन्नसूह', 'इब्नुलवक्त' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी गद्य में सादगी और सरलता है, किन्तु कुछ फीकापन भी है। अरबी फ़ारसी के शब्द भी प्रयोग करते हैं, लेकिन वह प्रवाह में कभी-कभी रुकावट डालते हैं। फिर भी कहानी के विकास में इस सादी भाषा से बड़ी सहायता मिली है। इनकी भाषा का नमूना तौबतुन्नसूह के निम्नलिखित उद्धरण से मालूम होगा—

"नसूह ने नमाज़े-अस्र से फ़ारिग़ होकर मँझले बेटे अलीम को पुछवाया

. . . .

रे पास हो जायँ। थोड़ी देर मे अलीम मदरसे का लिबास उतार किताबें ठिकाने से रख बाप की खिदमत में जा हाज़िर हुआ। देखते ही बाप ने कहा आओ साहब! आजकल तो मैंने सुना है तुमको बहुत ही मेहनत करना पड़ रही है।'

ज़काउल्ला—मौलवी ज़काउल्ला ने अपना जीवन भारतीय विद्यार्थियों के शिक्षण के लिए अर्पित कर दिया था। इनके पिता का नाम हाफ़िज़ सनाउल्ला था, जो बहादुरशाह द्वितीय के सब से छोटे पुत्र मिर्ज़ा कोचक सुल्तान के

शिक्षक थे। मौलवी जकाउल्ला १८३२ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। बारह वर्ष की अवस्था में दिल्ली कालेज में दाखिल हुए। शिक्षा पूरी करने के बाद वही गणित पढ़ाने लगे। बाद में आगरा कालेज में उर्दू-फारसी के प्राध्यापक हो गये और सात वर्ष तक रहे। १८५५ में डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स हुए और ११ वर्षों तक बुलन्दशहर और मुरादाबाद में काम किया। १८६९ में दिल्ली नॉर्मल स्कूल के हेडमास्टर हुए और १८७२ ई० में म्योर सेन्ट्रल कालेज में फ़ारसी-अरबी पढ़ाने लगे। ३६ वर्ष की नौकरी के बाद १८८६ ई० में पेंशन ली और १९१० ई० में देहान्त हुआ। १८५६ ई० से अन्त तक वे साहित्यिक क्षेत्र में रहे। उन्होंने १४३ पुस्तकें लिखी, साथ ही प्रमुख उर्दू पत्रिकाओं में उनके लेख भी छपते रहते थे। वे प्रत्येक विषय पर लिख सकते थे, किन्तु उन्होंने कोई ऐसी पुस्तक नहीं छोड़ी है, जिसे साहित्य में प्रमुख स्थान दिया जाय। सरकार ने उन्हें शम्सुलउलेमा की उपाधि दी और सर सय्यद के प्रमुख सहायक होने के कारण उनका मान भी बहुत था।

मौलवी जकाउल्ला नये ढंग की सरल, किन्तु आकर्षक उर्दू लिखते थे। उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द कुछ अधिक होते थे, यद्यपि उनका प्रयोग बड़े सुथराव के साथ हुआ है। उनकी सरल भाषा का नमूना निम्नलिखित है—

"हवा में क्या अनोखी सिफ़ात है कि जब ऊपर जाये तो आसमान बन जाये और नीचे रहे तो जब तक ख़ाक उड़ाकर हमारे चेहरों पर न मले तो मालूम ही न हो कि वह मौजूद है। जब दरख़्तों के पत्तों की खड़खड़ और चिड़ियों की चूं-चूं की आवाज़ कान में जाय तो मालूम हो कि हवा छुपी हुई अपने रूप में बहुरूप भर रही है।"

नवाब मेहदी अली ख़ाँ 'मुहसिनुलमुल्क'—यह सर सय्यद अहमद के सबसे बड़े सहयोगी थे। १८३८ ई० में इटावा में पैदा हुए थे। इन्होंने दस रुपया महीना पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्की शुरू की और उन्नति करते-करते १८६१ ई० में तहसीलदार और १८६७ ई० में डिप्टी कलक्टर हो गये। फिर १८७२ ई० में हैदराबाद में राजस्व विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल हो गये जहाँ उन्नति करके १८७६ ई० में मालमन्त्री और १८८२ ई० में वित्तीय तथा राजनीतिक सचिव के पद पर पहुँचे। वहीं उन्हें 'मुनीर नवाज़ जंग', 'मुहसिनुद्दौला'

और 'मुहसिनुलमुल्क' के खिताब मिले। ये इंग्लैंड भी गये थे, जहाँ उन्होंने प्रधानमन्त्री ग्लैडस्टन से भेंट की। अवकाश-ग्रहण के बाद अन्त समय तक अलीगढ़ में रहे। उनका देहावसान १९०७ ई० में हुआ। पहले यह सर सय्यद के विरोधी थे और इन्होंने १८६३ ई० में उनके विरुद्ध एक लेख लिखा था। फिर धीरे-धीरे ये उनसे प्रभावित हुए और उनके बड़े सहायक बन गये। इनकी अधिकतर रचनाएँ लेखों के रूप में हैं, जो अधिकतर धर्म और इतिहास से सम्बद्ध हैं। केवल एक पुस्तक 'लयात बनियात' धर्म संबंधी लिखी है और एक पुस्तक का अनुवाद किया है। इनके लेखों में सरलता और प्रवाह के साथ ही साहित्यिकता भी प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। भाषा का नमूना यह है—

"जब मैं इस तिलिस्मखाने की मग़रिबी जानिब पहुँचा तो एक चारदीवारी देखी जो मेरे खयाल से भी ज़ियादा मज़बूत थी। क़ुदरत ने ऐसा सुनहरा रंग दिया था कि जब सूरज की किरन उस पर पड़ती तो वह दीवारे-ज़र निगार कुन्दन की तरह चमकती जिससे आँखो को चकाचौंध हो जाती।"

इनके अलावा नवाब मुश्ताक़ हुसेन 'विकारुल-मुल्क' (१८३९-१९१७) और मौलवी चिराग अली (१८४४-९८) भी सर सय्यद के प्रमुख साथियों में थे। ये दोनो ब्रिटिश सरकार की नौकरी करने के बाद हैदराबाद चले गये थे। मौलवी चिराग अली बड़े विद्वान् थे। उन्होने धर्म और इतिहास-संबंधी पाँच-छः पुस्तकें लिखी। उनकी भाषा बड़ी ज़ोरदार है, यद्यपि उसमें साहित्यिक गुण कम हैं।

उर्दू पर अंग्रेजी के मेल-जोल से सर सय्यद और उनके साथियो द्वारा गद्य के क्षेत्र में जो प्रभाव पड़ रहे थे, उनकी छाया पद्य पर भी पड़ी। अभी तक उर्दू काव्य पर पूर्णतः फ़ारसी का ही आधिपत्य था। विषयवस्तु और अभिव्यक्ति की शैली, दोनो मे फ़ारसी का ही बोलबाला दिखायी देता था, यद्यपि भाषा को 'दाग' और उनके समकालीनो ने पूर्णतः भारतीय बना दिया था। किन्तु नये ज़माने को देखते हुए चेतना को केवल भौतिक और आध्यात्मिक प्रेम और अभिव्यक्ति को केवल प्रियतम तथा गुलो-बुलबुल और शमा-परवाने तक सीमित रखना नव-जागरणवादियो को अच्छा न लगा और मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' और ख्वाजा अल्ताफ हुसेन 'हाली' ने प्रकृति-चित्रण,

सामाजिक उन्नति आदि के नये विषय लाकर और गजल तथा कसीदे की बजाय नज़्म पर जोर देकर नया क्षेत्र खोल दिया और पुराने साहित्यिक मूल्यों, अतिशयोक्ति आदि, के विरुद्ध जिहाद बोल दिया।

मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद'—मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ाद उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में दिल्ली में पैदा हुए थे। उनके पिता मौलवी बाक़र अली 'ज़ौक़' के घनिष्ठ मित्रों में से थे। 'आज़ाद' भी 'ज़ौक़' के शागिर्द हो गये थे। उन्होंने दिल्ली कालेज में भी पढ़ा था। १८५७ ई० के विद्रोह में मौलवी बाक़र अली मारे गये और 'आज़ाद' का घर भी लुट गया और उनकी पूर्णत. तथा उनके उस्ताद 'ज़ौक़' की अधिकतर काव्य-कृतियाँ नष्ट हो गयी। अब वे जीविका की खोज में निकले। कुछ दिनों तक लखनऊ में फ़ौजी स्कूल में अध्यापक रहे। १८६४ ई० में वे लाहौर गये और गवर्नर के मीर मुंशी पण्डित मनफूल से मिले और उनकी सिफारिश से शिक्षा-विभाग में पन्द्रह रुपये मासिक पर नौकर हो गये। शिक्षा विभाग के डायरेक्टर मेजर फुलर ने उनसे कई लाभप्रद पाठ्य-पुस्तकें लिखवायी। 'आज़ाद' ने 'अंजुमने पंजाब' की स्थापना में भी प्रमुख भाग लिया और जब १८७६ ई० में कर्नल हालराइड शिक्षा-संचालक हुए तो उन्होंने 'आज़ाद' के द्वारा अंजुमन के तत्त्वावधान में नयी तरह के मुशायरों की नींव डलवायी, जिसमें मिसरा तरह की बजाय काव्य-विषय दिया जाता था। 'आज़ाद' ने १८६५ और १८८३ ई० में दो बार ईरान की यात्रा की। उन्हें फारसी से रुचि तो पहले भी थी, ईरान जाकर वे आधुनिक फारसी से भी परिचित हो गये। कर्नल हालराइड ने उन्हें पहले 'अतालीके-पंजाब' और फिर 'पंजाब मेगेज़ीन' में सहायक सम्पादक भी नियुक्त किया। इसके बाद वे लाहौर के गवर्नमेंट कालेज में अरबी-फ़ारसी के प्राध्यापक हो गये। १८८७ ई० में महारानी विक्टोरिया की स्वर्ण-जयन्ती पर उन्हें 'शमसुल उलेमा' की उपाधि मिली, किन्तु दो वर्ष बाद अथक परिश्रम और अपनी पुत्री की मृत्यु के कारण उनका मस्तिष्क विकृत हो गया। २६ जनवरी १९१० ई० को उनका देहान्त हो गया।

'आज़ाद' की रचनाओं की सूची यह है—(१) फ़ारसी रीडर—दो भाग, (२) पुरानी उर्दू रीडर—दो भाग, (३) क़ायदा और क़वाइद—

उर्दू, (४) जामेउल-क़वायद, (५) कससे-हिन्द—२ भाग, (६) नयी उर्दू रीडर—३ भाग, (७) आबे-हयात, (८) नैरगे-खयाल, (९) सुखनदाने-फ़ारस, (१०) क़न्दे-पारसी, (११) नसीहत का करनफूल, (१२) दीवाने-जौक़, (१३) नज्मे-आज़ाद, (१४) दरबारे-अकबरी, (१५) निगारिस्ताने-फ़ारस, (१६) सिपाको-नमक, (१७) जानवरिस्तान, और (१८) अलहयाल।

इस सूची को देखने से मालूम होता है कि 'आज़ाद' गद्य और पद्य दोनों लिखते थे। फिर भी उनका अधिकतर रुजहान गद्य की ही ओर था। 'नज्मे आज़ाद' मे उनकी छिटपुट कविताऐं है, जो उन्होने नयी ढग की कविता का नमूना दिखाने के लिए लिखी है। यह अधिकतर छोटी-छोटी सीधी और सरल भाषा में लिखी हुई नज्में है, पुराने अलङ्कारो आदि को छोड़ दिया गया है और विषय भी साधारण जीवन से लिये गये है। इन नज्मो का ऐतिहासिक मूल्य तो है किन्तु साहित्यिक मूल्य उतना नही।

'आज़ाद' का गद्य ज़रूर ऐसा है, जो उन्हें अमर बनाये रखेगा। उन्होंने 'आबे-हयात' के रूप मे सबसे पहला उर्दू काव्य का इतिहास लिखा, जिसमें भाषा-शास्त्र सम्बन्धी बहस भी की गयी है। यद्यपि इसमें कुछ ऐसी बात भी उन्होंने लिख दी है, जो आज ग़लत मानी जाती है, फिर भी इसका महत्त्व बहुत है। सुखनदाने-फारस आदि द्वारा उन्होने फ़ारसी साहित्य का भी विधिवत् परिचय कराया। 'आज़ाद' का गद्य अत्यन्त आकर्षक होता है। उन्होंने रूपको (allegories) का प्रयोग भी उर्दू मे सर्वप्रथम किया है। उनकी भाषा का नमूना यह है—

"देखो यह दोनों बाग आमने-सामने लगे है। तुमने मुकाबला किया? दोनो के रग-ढग में क्या फ़र्क़ है? भाषा का फसीह इस्तेआरे की तरफ़ भूलकर भी कदम नही रखता। जो-जो लुत्फ़ आँखो से देखता है और जिन खुश आवाज़ियों को सुनता है, या जिन खुशबूयो को सूँघता है, उन्ही को अपनी मीठी ज़बान से बेतकल्लुफ़, बेमुबालिगा साफ़-साफ़ कह देता है।"

मौलाना अल्ताफ़ हुसेन 'हाली'—'हाली' १८३७ ई० में पानीपत में अन्सारियों के एक प्रतिष्ठित परिवार में पैदा हुए थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा पुराने ज़माने-जैसी हुई। सत्रह वर्ष की अवस्था में उनकी इच्छा के विपरीत उनका विवाह कर दिया गया था, किन्तु वे उसी वर्ष दिल्ली भाग आये और प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक तथा अध्यापक मौलवी नवाज़िश अली से अरबी पढ़ने लगे और डेढ़ वर्ष में उसमें निपुण होकर घर लौट गये। १८५६ ई० में उन्होंने हिसार में कलक्टरी में नौकरी कर ली, किन्तु १८५७ ई० के विद्रोह में फिर पानीपत चले गये। तीन-चार वर्षों के बाद जहाँगीराबाद (ज़िला बुलन्दशहर) के रईस नवाब मुस्तफ़ा खाँ 'शेफ़्ता' के मुसाहिब हो गये। यहाँ के साहित्यिक वातावरण में वे कविता भी करने लगे और 'ग़ालिब' के शिष्य हो गये। आठ वर्ष तक उन्होंने 'शेफ़्ता' के पुत्रों को पढ़ाया और उनके मरने पर लाहौर में गवर्नमेंट बुक डिपो में नौकरी कर ली। लगभग चार वर्ष वहाँ रहने के बाद वे दिल्ली में ऐंग्लो-अरेबिक कालेज में अध्यापक हो गये। यहाँ वे सर सय्यद के सम्पर्क में आये और उनकी प्रेरणा से प्रसिद्ध मुसद्दस लिखा। उन्हें हैदराबाद से भी पहले पचहत्तर रुपये और फिर सौ रुपये की मासिक वृत्ति मिलती थी। नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे पानीपत चले आये। १९०४ ई० में उन्हें सरकार ने 'शमसुल उलेमा' की उपाधि दी। १९१४ ई० में उनका देहान्त हो गया।

'हाली' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) मसनवियाँ मसनवी तअस्सुबो-इन्साफ़', 'रहमो-इन्साफ़', 'बरखा रुत', निशाते-उम्मीद और 'हुब्बे वतन', (२) मुसद्दसे हाली, (३) शिकवाए-हिन्द (४) दीवाने-हाली, जिसमें उनकी ग़ज़लों आदि के साथ उनका प्रसिद्ध आलोचना निबन्ध 'मुक़द्दमए-शेरो-शायरी' भी है, (५) मुनाजाते बेवा और चुप की दाद, (६) यादगारे-ग़ालिब, (७) ग़ालिब और हकीम महमूद खाँ के मरसिये, (८) फ़ारसी कविता-संग्रह।

जैसा कि पुस्तक-सूची से स्पष्ट है 'हाली' मुख्यतः कवि थे। फिर भी उनका 'मुक़द्दमए-शेरो-शायरी' आलोचना क्षेत्र में बेजोड़ चीज़ है। इसमें उन्होंने काव्य क्षेत्र में मान्यता प्राप्त प्रचलित मूल्यों का उखाड़ फेंका पर

प्राणरहित कविता की धज्जियाँ उड़ा दी। उन्होंने बहुत जोरों से अंग्रेजी काव्य से विषय वस्तु के लेने और जीवन के सीधे-सादे और प्राणवान् चित्रण की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। सुधार के जोश में उन्होंने ग़ज़ल पर भी बेतरह हमले किये और छोटी नज्मों की आवश्यकता बतायी।

'हाली' की गद्य-शैली 'आज़ाद' से मिलती-जुलती है, यद्यपि उसमें 'आज़ाद' जैसी रंगीनी पैदा नहीं हो सकी है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उनकी रचनाएँ तर्क सम्बन्धी अधिक थीं। भाषा का नमूना यह है—

"कौम की हालत तबाह है। अजीज़ ज़लील हो गये हैं, शरीफ़ ख़ाक में मिल चुके हैं, इल्म का ख़ात्मा हो चुका है, दीन का सिर्फ़ नाम बाकी है, इफ़लास की घर-घर पुकार है, पेट की चारों तरफ़ दुहाई है। इख्लाक बिलकुल बिगड़ गये हैं और बिगड़ते जाते हैं। तअस्सुब की घनघोर घटा तमाम कौम पर छायी हुई है, रस्मो-रिवाज की बेड़ी एक एक पांव में पड़ी है, जहालत और तकलीद सबकी गर्दन पर सवार है।"

पद्य के क्षेत्र में 'हाली' का योगदान एक तो वही है, जो 'आज़ाद' का, यानी नये विषयों पर छोटी-छोटी नज़्में लिखना। इसके फलस्वरूप उनकी मसनवियाँ लिखी गयी हैं। फिर भी इन मसनवियों—मुनाजाते-बेवा, बरखा रुत आदि—में सादगी के साथ प्रवाह और चुस्ती आदि के ऐसे गुण हैं, जिनके कारण साहित्यिक रुचि के लोगों का इस नयी शैली की ओर झुकाव हुआ और यह आन्दोलन सफल हो सका। सच्ची बात यह है कि 'हाली' जैसा प्रतिभाशाली कवि न होता तो नवीन स्वाभाविकतावादी आन्दोलन कभी सफल नहीं हो सकता। 'हाली' की सफलता यह है कि गज़ल-जैसे क्षेत्र में उन्होंने अतिशयोक्ति और अन्य अलंकारों से बिलकुल पीछा छुड़ाकर सीधी-सादी बातों में भी इतना आकर्षण पैदा कर दिया है कि वे उर्दू साहित्य की अमूल्य निधि हो गये हैं। उदाहरणार्थ उनका एक शेर ही यथेष्ट है—

यह बात और ही है कि हम जिस पे मरते हैं
दुनिया में लाख गुज़रो रुही, तू मगर कहाँ

लेकिन दरअस्ल उन्हें अमरत्व प्रदान किया उनके मुसद्दस ने, जिसमें

उन्होंने मुसलमानों के भव्य अतीत की याद दिलाकर उनकी तत्कालीन दुर्दशा से उसका मुक़ाबला किया और मुसलमानों को झटके के साथ जगाया। इसमें 'हाली' की कविता के स्वाभाविक गुणों, सरलता और प्रवाह के साथ ही उनकी तीव्र संवेदना भी शामिल थी, जिसने इस लम्बी कविता में बिजली का सा प्रभाव भर दिया। उदाहरणार्थ इसके दो बन्द दिये जाते हैं—

करो क़द्र इस अम्नो-आज़ादगी की
कि है साफ़ हर सिम्त राहे-तरक़्क़ी
हर इक राह रौ का ज़माना है साथी
ये हर सू से आवाज़े-पैहम है आती

न दुश्मन का ख़तरा न रहज़न का डर है
निकल जाओ रस्ता अभी बे-ख़तर है

बहुत क़ाफ़ले देर से जा रहे हैं
बहुत बोझ बार अपने लदवा रहे हैं
बहुत चल-चलाओ में घबरा रहे हैं
बहुत से न चलने से पछता रहे हैं

मगर इक तुम्हीं हो कि सोते हो ग़ाफ़िल
मुबादा कि ग़फ़लत में खो दो हो मंज़िल

मौलवी मुहम्मद इसमाईल—इसमाईल साहब का ख़ास कारनामा बच्चों के लिए छोटी-छोटी सरल और सुबोध नज़्में नयी परिपाटी में लिखने का है। वे १८४० ई० में मेरठ में पैदा हुए थे। वे शिक्षा विभाग में पहले क्लर्क हुए, फिर मेरठ, सहारनपुर आदि के सरकारी स्कूलों में फ़ारसी के हेड मौलवी रहे। १८८८ ई० में आगरा के सेन्ट्रल नार्मल स्कूल में आ गये और वहीं से १८८९ ई० में पेंशन ली। १९१७ ई० में उनका देहावसान हो गया। मौलवी साहब ने बहुत-सी उर्दू रीडरें लिखी थीं। बच्चों के लिए मौलिक कविताओं के अतिरिक्त अंग्रेज़ी कविताओं का भी उर्दू में अनुवाद किया।

है। उनकी सरलता के साथ भाषा का प्रवाह और बन्दिश की चुस्ती भी देखते बनती है। मौलवी साहब नयी पद्धति की नज़्मों के अतिरिक्त गज़लें और कसीदे भी अत्यन्त सफलतापूर्वक लिखते थे। उनका कुल्लियात प्रकाशित हो चुका है।

मुंशी दुर्गा सहाय 'सुरूर'—राष्ट्रीयतावादी कवियों में 'सुरूर' का नाम अग्रगण्य है। यह जहानाबाद ज़िला पीलीभीत में १८७३ ई० में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम हकीम प्यारेलाल था। तहसीली स्कूल से मिडिल पास करने के बाद इन्होंने फ़ारसी और अंग्रेजी अपने तौर पर पढ़ी। इनके फ़ारसी के शिक्षक मौलवी करामत हुसेन 'बहार' ही इनके काव्य-गुरु भी थे। मुंशी दुर्गा सहाय ने पहले 'वहशत' तखल्लुस किया, फिर 'सुरूर' हो गये। १८९१ ई० से उनकी रचनाएँ साहित्यिक पत्रिकाओं में निकलने लगी थीं। कुछ वर्षों बाद उनके एकमात्र पुत्र का देहान्त हो गया। 'सुरूर' इस सदमे को सँभालने के लिए बेतरह शराब पीने लगे। अन्त में इसी अत्यधिक मद्यपान के कारण ३ दिसम्बर १९१० ई० को उनका देहावसान हो गया।

'सुरूर' पर भी 'हाली' और 'आज़ाद' के उठाये हुए आन्दोलन का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने अधिकतर नज़्में नये रंग में लिखी हैं। उनकी गज़लें आदि भी उच्चकोटि की हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो भाव-चित्रण, करुणा और प्रभाव है, जो उनकी प्रत्येक पंक्ति में दिखाई देती है। दूसरी विशेषता उनका देश प्रेम है। इसी रास्ते पर आगे चलकर चकबस्त ने अपना डंका बजा दिया। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, 'सुरूर' भाव-चित्रण के साथ ही ऐतिहासिक और धार्मिक क्षेत्र में भी सफलतापूर्वक आगे बढ़ते हैं। उनकी 'जमुना' और 'गंगा' कविताएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। मौलिक कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने कई अंग्रेजी की कविताओं के भी बड़े सफल अनुवाद किये हैं। उनकी कुछ नज़्में नैतिक-सामाजिक विषयों पर भी हैं, किन्तु उनमें नीरसता नहीं आने पायी है।

'सुरूर' की शैली बड़ी ही परिष्कृत है। उसमें प्रवाह और भाषा-सौष्ठव तो है ही, एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि उन्होंने उर्दू कविता में नये-नये हिन्दी शब्दों का भी समावेश किया है और इस खूबसूरती से किया है कि अगर

: ९ :

आलोचना और गद्य का विकास

सर सय्यद अहमद खाँ और उनके सहयोगियों ने अपने अथक परिश्रम से उर्दू के गद्य-क्षेत्र का जिस तरह विकास किया, उसका उल्लेख पहले हो चुका

क्षेत्र अधिकतर इतिहास अथवा समाजशास्त्र होता था। मौलवी नज़ीर अ के उपन्यासों में भी हमें उपन्यास-कला की अपेक्षा सामाजिक जीवन के की रक्षा का आग्रह ही अधिक दिखाई देता है। आलोचना के क्षेत्र 'हाली' का भी वही हाल है। बाद वाली पीढ़ी ने आत्मविश्वास के साथ क साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में कदम रखा और निश्चित गति से वि की मंज़िलें तय करने लगी। इस पीढ़ी ने उर्दू को शिबली, शरर और स अली बिल्ग्रामी-जैसे आलोचक, सरशार और सज्जाद हुसैन जैसे उपन्यास और मिर्ज़ा हादी 'रुसवा' जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न लेखक दिये। अ इन लोगों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

मौलाना शिबली नुअमानी—दिल्ली और लखनऊ दो ही उर्दू के समझे जाते हैं। उर्दू की प्रामाणिकता इन्हीं दो स्थानों की कसौटी पर जाती है। लेकिन मौलाना शिबली पहले विद्वान् थे, जिन्होंने दिल्ली या लखन का न होते हुए भी सारे उर्दू संसार में अपनी रचनाओं के लिए मान्य प्राप्त कर ली। शिबली १८५७ ई० में जिला आजमगढ़ के बन्दौल नामक स्थान में पैदा हुए थे। उनके पिता शेख हबीबुल्ला वकील थे। प्रारंभिक शिक्षा मौलवी शुक्रुल्ला और अरबी की उच्च शिक्षा अपने समय के विख्यात मौलाना मुहम्मद फ़ारूक़ चिरय्या कोटी से ग्रहण की। फिर रामपु

जाकर मौलवी अब्दुल हक़ ख़ैराबादी और मौलवी इरशाद हुसेन से उन्होंने धार्मिक विषय पढ़े। इसके बाद लाहौर में मौलवी फ़ैज़ुलहसन और सहारनपुर में मौलवी अहमद अली से भी पढ़ा। १८७६ ई० मे वे हज करने गये और रास्ते में एक फारसी कसीदा लिखा। इम्तहान पास करके कुछ दिन वकालत की, लेकिन उसमें जी न लगा तो सरकारी नौकरी कर ली और दीवानी मे अमीन हो गये। इसमे भी जल्द ही उकता गये और इस्तीफा देकर घर बैठ रहे और सारा समय पुस्तकावलोकन तथा लेखन-कार्य मे लगाने लगे।

१८८२ ई० में मौलाना अपने छोटे भाई से, जो अलीगढ कालेज मे पढ़ते थे, मिलने के लिए गये। अलीगढ मे सर सय्यद से उनकी भेंट हुई, जिन्होंने उन्हे कालेज में फारसी का अध्यापक नियुक्त कर दिया। अलीगढ मे मौलाना को बड़े प्रेरणादायक तत्त्व मिले। उन्होंने सर सय्यद के पुस्तकालय का लाभ उठाया, मि० आर्नाल्ड से फ्रेञ्च पढी और उन्हे अरवी पढायी और सबसे बडी बात यह हुई कि सर सय्यद के व्यक्तित्व तथा मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' की पुस्तक 'सनॆनुल-इस्लाम' से उन्हे प्राचीन इस्लामी वैभव की याद दिलाकर मुसलमानो को उनके अज्ञानपूर्ण जीवन से बाहर निकालने के लिए उन्हे बहुत प्रेरणा मिली। आर्नाल्ड साहब से उन्होने पाश्चात्य शैली की वैज्ञानिक आलोचना भी सीखी। १८९२ ई० में उन्होने मि० आर्नाल्ड के साथ तुर्की, सीरिया, मिस्र आदि की यात्रा की। १८९८ ई० में सर सय्यद का देहान्त होने पर शिबली अपने घर चले आये और लिखने-पढने में लग गये। कुछ समय के पश्चात् वे हैदराबाद चले गये और चार वर्ष तक वहाँ शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष रहे। इसके बाद नदवतुल उलेमा की सहायता के लिए वे नौकरी छोडकर आ गये और उनके प्रयत्नो के फलस्वरूप नदवतुल उलेमा का आर्थिक और राजनीतिक सकट दूर हो गया और उसके आधुनिक विद्यालय की नीव लेफ्टीनेंट गवर्नर सर जान हीवेट द्वारा २८ नवम्बर १९०८ ई० में पड़ गयी। फिर भी मौलाना शिबली की वहाँ के पुराने ढर्रे के विद्वानों से नही पटी। १९१३ ई० में वे नदवा छोड़कर आजमगढ़ चले गये और वहाँ दारुल मुसन्निफ़ीन नामक साहित्यिक तथा प्रकाशन सस्था की नीव डाली। किन्तु अगले ही वर्ष १९१४ ई० में मौलाना का देहान्त हो गया।

मौलाना को १८९२ ई० में तुर्की के सुल्तान ने मजीदिया पदक
किया था और इसी के आस-पास ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'शमसुल उलेम
उपाधि भी दी थी। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के फेलो और कई
समितियों के सदस्य थे। हिन्दी-उर्दू तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता
सरकारी समिति के भी वे सदस्य थे।

मौलाना की रचनाओं की सूची लम्बी है। उनकी प्रख्यात पुस्
है—(१) सीरतुन्नबी (मुहम्मद साहब की जीवनी, जिसकी वे दो ही
लिख सके), (२) शेरुल अजम पांच भाग (फ़ारसी साहित्य का
विशद इतिहास), (३) अल फ़ारूक, अलमामूं, सीरतुन्नु अमान, अलग़
अलकलाम (ये पांच पुस्तकें इस्लामी इतिहास सम्बन्धी हैं, (४) सव
मौलाना रूम (मौलाना रूम की जीवनी), (५) मवाज़नए-अनीसो-द
(मरसियों पर प्रसिद्ध आलोचना ग्रंथ), (६) सफ़र नामए रूमो-मि
शाम, (७) औरंगजेब आलमगीर, (८) अलवहरिया, (९) मुसलमा
की गुजिश्ता तालीम, (१०) तारीख़े-इस्लामो-फलसफ़ए-इस्लाम, (१
हयाते-खुसरो, (१२) तनकीदे जुरजी जैदान, (१३) मकालाते शि
(१४) मकातीबे-शिबली, (१५) रसायले-शिबली। पद्य में ये पुस्तकें हैं
(१) दीवाने शिबली, (२) दस्ताए-गुल, (३) सुब्हे-उम्मीद और (
मजमूअए-नज़्मे-उर्दू।

आलोचक की हैसियत से शिबली ने पहली बार वैज्ञानिक ढंग से साहि
लोचन किया। यद्यपि अधिक लिखने के कारण कहीं-कहीं वे भूलें कर जा
फिर भी उन्होंने उर्दू आलोचना में नया रास्ता खोला, जिस पर अब सभी
चल रहे हैं। उनकी इतिहास की रचनाओं में ओज और आकर्षण होता है।
उनकी गद्य की भाषा फ़ारसीमय कुछ अधिक होती है, फिर भी उनका शब्द
चयन और वाक्य-विन्यास उचित होता है और प्रवाह बना रहता है। उन
गद्य का नमूना यह है—

"सल्तनत की इल्मी तरक़्क़ियां अगर्चे मंसूर के अहद में
पहुंच चुकी थी लेकिन उस ज़माने में और नये सामान पैदा हो गए।
हारूँ-अर्रशीद एक दफ़ा सख़्त बीमार हुआ और ...

मामूर था ताहम उसको किसीके इलाज से शिफ़ा नहीं हुई। उस वक्त हिन्दुस्तान का एक तबीब फ़िलासफ़र भी शुहरते-आम रखता था और चूंकि दरबारे-ख़िलाफ़त और फ़र्मांरवायाने-हिन्दोस्तान में दोस्ताना मरासिम क़ायम थे और बाहम ख़तो-किताबत रखते थे, सबने उसको बुलाने की राय दी। ग़रज़ वह तबीब तलब किया गया और बगदाद में बरामका का जो हस्पताल था उसका मुहतमिम और अफ़सर मुकर्रर किया गया। संस्कृत की अक्सर किताबें उसने तर्जुमा करायी। चुनांचे सुश्रुत की किताब जो दस बाबों में है और साम्यका जिसमें ज़हरों के इलाज का बयान है, उसने तर्जुमा की।"

पद्य के क्षेत्र में शिबली को उतनी ख्याति तो नहीं मिली, जितनी उनके गद्य-ग्रन्थों ने उन्हें दी, फिर भी एक दृष्टि से उनका महत्त्व है। वे छोटी-छोटी नये ढंग की नज़्में बहुतायत से लिखते थे, जिनमें मुसलमानों के अतीत के आकर्षक चित्र खींचे जाते थे। काव्यगुण तो इनमें कोई खास नहीं है, किन्तु अपने क्षेत्र में तो इनका प्रभाव पड़ता ही है। भाषा पद्य में भी फ़ारसीमय है, फिर भी कठिन नहीं है। दो-तीन शेर नमूने के देखिए—

एक दिन हज़रते फ़ारूक़ ने मिम्बर पे कहा
मैं तुम्हें हुक्म जो कुछ दूं तो करोगे मंज़ूर
एक ने उठ के कहा यह कि न मानेंगे कभी
कि तेरे अद्ल में हमको नज़र आता है फ़ितूर
गर्चे वह हद्दे-मुनासिब से बढ़ा जाता था
सबके सब मुहर-ब-लब थे चे-उनासो-चे-ज़कूर

पण्डित रतननाथ 'सरशार'—उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यास 'फ़सानए-आज़ाद' को कौन नहीं जानता? इसके रचयिता प० रतननाथ 'सरशार' कश्मीरी ब्राह्मण थे। वे १८४६ या १८४७ ई० में लखनऊ में पैदा हुए थे। उनकी अवस्था केवल चार वर्ष की थी, जब उनके पिता का देहान्त हो गया। बचपन में अपने समय की रीति के अनुसार अरबी-फ़ारसी पढ़ी और इन भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। जब अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हुआ तो केनिंग

कालेज लखनऊ में दाखिल हुए, किन्तु कोई डिग्री नही ले सके। जीविका के लिए खीरी के ज़िला स्कूल में अध्यापक हो गये। उसी समय कश्मीरियो की एक जातीय पत्रिका 'मुरासिलए-कश्मीर' निकलना आरंभ हुई और 'सरशार' उसमें लेख लिखने लगे। साथ ही उस समय की प्रसिद्ध पत्रिका 'अवध पंच' में भी उनके लेख आने लगे। उनकी आकर्षक लेखन-शैली के कारण उनका नाम फैलने लगा। वे अनुवाद भी खूब करते थे और शिक्षा-विभाग की पत्रिका में गंभीर और विद्वत्तापूर्ण लेखो के अनुवाद भेजा करते थे। विज्ञान सम्बन्धी एक पुस्तक का अनुवाद भी उन्होंने 'शमशुज्जुहा' के नाम से किया था। उनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ी कि मुशी नवलकिशोर ने उनको 'अवध अखबार' का सम्पादक बनाकर रख लिया। इसी पत्र में 'फ़सानए-आज़ाद' १८७८ ई० से किस्तवार निकलना शुरू हुआ और दो वर्ष में पूरा हो गया। इस उपन्यास के कारण उक्त पत्र की बिक्री भी बहुत बढ़ गयी। १८९५ ई० में 'सरशार' हैदराबाद चले गये। इसके पहले कुछ दिनों तक उन्होंने इलाहाबाद हाईकोर्ट में अनुवादक का काम भी किया था। हैदराबाद में वहाँ के महामन्त्री महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' ने अपनी कविताओं का संशोधन उनसे कराना आरम्भ किया, जिसके लिए उन्हें २००) मासिक मिलते थे। निज़ाम ने भी 'सरशार' को काफ़ी सम्मान दिया। 'सरशार' ने कुछ दिनों तक हैदराबाद में 'दबदबए-आसफ़िया' का भी सम्पादन किया। अंत में अत्यधिक मद्यपान के कारण उनका मस्तिष्क विकृत हो गया और १९०२ ई० में उनका देहान्त हो गया।

'सरशार' की रचनाओं में 'फ़सानए-आज़ाद' (चार जिल्दों में), 'सैरे-कुहसार', 'खुदाई फ़ौजदार' (सरवान्तीस के 'डान क्विक्ज़ोट' का स्वतंत्र अनुवाद), 'अलिफ़ लैला बतर्ज़े-नावेल', 'जामे-सरशार', 'हुश्शू', 'पी कहाँ', 'बिछुड़ी दुल्हन', 'कुड़म धुम', 'रंगे स्यार', 'कामिनी', 'तूफ़ाने-बेतमीज़ी', 'शम्सुज्जुहा', 'तरजुमए-तारीखे-रूस', 'तरजुमए-[illegible]' आदि हैं। 'सरशार' कवि थे और अपने ज़माने के प्रख्यात कवि 'असीर' के शागिर्द थे। १८८९ ई० में उन्होंने कश्मीर कान्फ्रेंस के लिए एक क़सीदा लिखा और एक मसनवी 'गुलदस्तए-सरशार' के नाम से लिखी। फिर भी पद्य में उनका स्थान नगण्य है, वे वास्तव में उपन्यासकार ही थे।

उपन्यासकार के रूप में 'सरशार' को जो ख्याति मिली है वह उचित ही है। यद्यपि मौलवी नज़ीर अहमद के उपन्यास 'फ़साना-आज़ाद' से पहले प्रकाशित हो चुके थे, तथापि उन उपन्यासों का उद्देश्य नैतिक उत्थान था। 'सरशार' उर्दू के पहले यथार्थवादी कलाकार हैं। 'फ़साना-आज़ाद' में उन्होंने लखनऊ का ही सजीव चित्रण नहीं किया, बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी की उत्तर भारत की पूरी सभ्यता का रंगीन पूर्ण चित्र उपस्थित किया है और प्रसंगानुसार से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को भी इस तरह पेश कर दिया है कि देखकर आश्चर्य होता है कि एक ही उपन्यास के अन्दर यह सब कैसे आ गया। विदेशियों के जीवन की उनकी कल्पना अच्छी तरह चित्रित न कर सकी, लेकिन लखनऊ अपनी पूरी मस्तियों के साथ देखने को मिल जाता है। पुराने बिगड़े रईसों की हास्यास्पद दशा, अभिजात वर्ग के घरानों के रीति-रिवाज और महिलाओं का जीवन, बाज़ार, मेले-ठेले, फक्कड़, भाट, उचक्के, डाकू, ज़मींदार, मौलवी, पण्डित, साधु—सभी की जीती-जागती तसवीरें देखने को मिल जाती हैं और तत्कालीन भारतीय जीवन के अच्छे-बुरे सभी पहलू सामने आ जाते हैं। 'फ़सानए-आज़ाद' तथा 'सरशार' के अन्य उपन्यासों का साहित्यिक ही नहीं ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत अधिक है।

किन्तु 'फ़सानए आज़ाद' की तत्कालीन ख्याति का आधार 'सरशार' की लेखन-शैली है। इसमें संदेह नहीं कि वे अक्सर ऐसी कठिन फ़ारसी-अरबी भाषा लिखने लगते हैं, जिसे समझने में मौलवियों को भी पसीना आ जाय (संभवतः इसका कारण यह हो कि सरल भाषा लिखने पर हिन्दू होने के कारण उन्हें कम पढ़ा-लिखा न समझ लिया जाय) और कभी-कभी वे फ़ारसी और अरबी के पैरे के पैरे लिख डालते हैं, फिर भी साधारणतः—विशेषतः कथनोपकथन में—वे बड़ी ही चलताऊ और चुलबुली भाषा लिखते हैं और मुहावरों पर मुहावरे, बोलते चले जाते हैं। 'सरशार' ने यह तो दिखा ही दिया है कि वे हर प्रकार की भाषा—यहाँ तक कि अशिक्षितों की गलत उर्दू, बंगालियों की टूटी-फूटी उर्दू और गाँववालों की अवधी भी—अधिकारपूर्वक लिख सकते हैं, साथ ही कमाल यह है कि उनके चरित्र-वैभिन्य का भाषा-वैभिन्य भी पूरे सामञ्जस्य के साथ है। उनकी अरबी, फ़ारसी, अवधी सब अपनी-अपनी

जगह जमी हुई है और उनके चरित्र-चित्रण को और उभार कर रख देती
उनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

"मियाँ आज़ाद ऐसे मज़े में आये कि मुअन चल खड़े हुए। दे
क्या है कि बड़े-बड़े जुह्हाद और मौलाना बिल्इल्मो-अलफ़ज़्ल, और
और काज़ी-ओ-मुफ़्ती, शैखो-शाब, अमामए-फ़ज़ीलत बरसर और ख़
मआरिफ़त दरबर, बा-जब्ह्-ओ-दस्तार बसद फ़ख़्रो-इफ़्तख़ार चले आ
चेहरे से नूरे-इलाही बरसता है। इतने में दो रिन्दाने-सागर-नोश ब
जोशो-खरोश जिन्न और चुड़ैल की बातें करते उनके करीब आये,
लहीमो-शहीम और दूसरा लाग़र।

"लहीम—यार तुम तो मग्ज़ के भेजे के गूदे के कीड़े तक च
गये। बड़े बक्की हो। लाखो दफ़ा समझाया कि यह सब ढकोसला है
मगर तुम्हें तो कच्चे घड़े की चढ़ी है, तुम कब सुनने वाले हो। मर्दे-आद
यह सब लग़्वो बातें हैं, वल्लाह बनी हुई बातें हैं।"

"लागर—किब्ला, मर्दे-आदमी तो खामखाह आप ही हैं
माशाअल्ला साहबे तनो-तोश, वल्लाह गैंडे बने हुए हो।..."

मौ० सय्यद अली बिलग्रामी—मौलवी साहब की ख्याति उनके अनुवाद
के कारण है, किन्तु उनके अनुवाद भी साहित्यिक मूल्य के हैं। वे क़स्बा बिल
ग्राम में १८५१ ई० में पैदा हुए थे। उनके पिता ज़ैनुद्दीन ख़ाँ डिप्टी कलेक्टरी
से पेंशन लेकर हैदराबाद में एक उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। वे स्वयं भी
विद्वान् थे और उन्होंने सय्यद अली की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया।
१५ वर्ष की अवस्था तक केवल अरबी-फ़ारसी पढ़ी, फिर अंग्रेज़ी पढ़ना
शुरू किया तो आठ ही वर्ष में बी० ए० कर लिया। इनकी स्मरण-शक्ति बड़ी
तीव्र थी, बी० ए० में इनका एक विषय संस्कृत भी था। मौलवी साहब की
प्रतिभा देखकर हैदराबाद के तत्कालीन महामन्त्री सालार जंग ने उन्हें बुला
लिया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने विज्ञान का गहरा अध्ययन किया और उच्च
शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड गये। सरकार ने उन्हें 'शमसुल उलेमा' की उपाधि
दी थी। उनकी अध्ययन-प्रियता का यह हाल था कि भारत भर में शायद

ही कोई व्यक्ति इतनी भाषाएँ जानता हो, जितनी वे जानते थे। वे अरबी, फ़ारसी, उर्दू, अंग्रेज़ी, जर्मन, लैटिन, फ्रेंच, संस्कृत, बंगला, महाराष्ट्रीय, तेलगी, गुजराती और हिन्दी जानते थे। इतनी भाषाएँ जानने के बावजूद उन्होंने स्वयं कुछ नहीं लिखा। उनके दो अनुवाद 'तमद्दुने-हिन्द' और 'तमद्दुने-अरब' बहुत प्रसिद्ध हैं। यह फ्रेंच विद्वान् डा० गुस्ताव लेबाँ की पुस्तकों के अनुवाद हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'मेडीकल ज्यूरिसप्रूडेंस' का भी उर्दू में अनुवाद किया है। वे अलीगढ़ कालेज के मामलों में भी दिलचस्पी लेते थे। 'तमद्दुने-हिन्द' और 'तमद्दुने-अरब' ने उन्हें अपने ज़माने के प्रमुख विद्वान् के रूप में मान्यता दिला दी। वास्तव में भाषा और शैली के दृष्टिकोण से ये अनुवाद, अनुवाद मालूम ही नहीं होते, बल्कि मौलिक रचना लगते हैं। भाषा में कुछ फ़ारसीपन अधिक ज़रूर है फिर भी प्रवाह काफ़ी है और शब्दों का उचित प्रयोग हुआ है। निम्नलिखित उद्धरण से उनकी भाषा का अन्दाज़ होगा—

> "हिन्दोस्तान की तिजारत में अरबों के रकीब अहले-बाबुल थे। उनका ताल्लुक़ हिन्द से खुश्की की राह या खलीजे-फ़ारस की तरफ़ से था। तिजारत का माल बाबुल से शाम को आता और वहाँ से तमाम आलम में तक़सीम होता। जो कारवाँ इस राहे-दूरो-दराज़ से आते उनके रास्ते में हेलियोपोलस (क़दीम लबलबक) और पलमीरा की तिजारतगाहें जिनके आसारे-क़दीमा इस वक्त भी ताज्जुब-अंगेज़ हैं, और नेज़ोमा का मशहूर शहर पड़ा करता था।"

मुंशी सज्जाद हुसेन—उर्दू के हास्यरस के प्रथम पत्र 'अवध पंच' के प्राण मुंशी सज्जाद हुसेन एक खाते-पीते परिवार से थे। उनके पिता मुंशी मंसूर अली डिप्टी कलक्टरी से पेंशन पाने के बाद ... रहे थे। सज्जाद हुसेन १८५६ ई० में काकोरी में ... ३ ई० में एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास ... ए० में भी दाख़िल हुए, ... बाद चले गये, ... में

उन्होंने 'पंच' के लेखकों से सम्पर्क स्थापित कर लिया और पण्डित त्रि... नाथ 'हिज्र', मिर्ज़ा मच्छूबेग 'सितम ज़रीफ़', सय्यद मुहम्मद खाँ 'आ... सय्यद अकबर हुसैन 'अकबर' (प्रख्यात 'अकबर' इलाहाबादी), अली ज... 'शौक़', ज्वाला प्रसाद 'बर्क़', अहमद अली कलमण्डवी आदि नियमित रू... 'अवध पंच' में लेख लिखने लगे। आरंभ में पं० रतननाथ 'सरशार' ने... इस पत्र में लिखा, किन्तु 'अवध अख़बार' का सम्पादकत्व संभालने के... उनका 'अवध पंच' से सम्बन्ध टूट गया। सज्जाद हुसैन १८८७ ई० में शा... में शामिल हुए और अंतकाल तक उसमें रहे। १९०१ ई० में उन्हें पक्षाघ... हुआ, लेकिन कुछ महीने बीमार रहकर ठीक हो गये। १९०४ ई० में प... घात का दूसरा दौरा हुआ, जो ठीक न हुआ। फिर भी मुंशी साहब कई वर्षों... जीवित रहे। अन्त में २२ जनवरी १९१५ ई० को उनका देहान्त हो गया... 'अवध पंच' १९१२ ई० में ही बन्द हो गया था।

सज्जाद हुसैन की ख्याति उनके हास्य उपन्यास 'हाजी बग़लोल'... कारण हुई है। उसका हीरो नितान्त काल्पनिक होते हुए भी अपने में बहु... दिलचस्पी रखता है और साहित्य-प्रेमियों के मनोरंजन के लिए काफ़ी मसाल... दे देता है। उनके अन्य उपन्यास 'तरहदार लौंडी', 'प्यारी दुनिया', 'अहम... कुफ़्जन', 'मीठी छुरी' और 'हयाते शेख़चिल्ली' हैं। ये सब भी हास्यरस से... शराबोर हैं।

सज्जाद हुसैन को उर्दू का प्रथम हास्य-लेखक कहा जा सकता है। गद्य में इनका वही स्थान है, जो कविता में 'इंशा' का है। मुहावरों के आड़े-तिरछे प्रयोग और उनसे लाभ उठाने में सज्जाद हुसैन अत्यन्त पटु हैं। साथ ही साथ अजीब-अजीब उपमाओं और रूपकों से अपने हास्यरस को तेज़ करते हैं। उनकी भाषा में कभी-कभी बाज़ारीपन और कभी-कभी मौलवियाना नीरसता ... दिखाई देती है, किन्तु कुल मिलाकर उनकी भाषा बड़ी प्रवाहमय और ... है और हास्यरस के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

... हुसैन ने गद्य और कथा-साहित्य में पुरानी उपदेशात्मक परिपाटी ... किया ही, कला की दृष्टि से एक और योगदान भी किया। ...क चरित्रों के विकास की परिपाटी भी चलायी।

सज्जाद हुसैन की एक समझदारी यह भी थी कि वे हास्य के भयकर पहलुओ मे भी सतर्क थे। उन्होने कभी अपने पत्र मे हास्य लेखो मे धर्म अथवा राजनीति को नही आने दिया। इसके कारण 'अवध पच' का हास्य शुद्ध हास्य ही रहा, कटु कभी नहीं बना। उनके उपन्यासो मे भी यही सतर्कता दिखाई देती है।

'हाजी बगलोल' से एक उद्धरण नमूने के तौर पर देखिए—

> "नाजरीन, जरा इस वक्त तनहाई मे हाजी साहब कराह रहे है। कान लगाकर सुनिए तो क्या कह रहे है, मगर देखिए दूर ही रहिए। नजदीक गये और सारा खेल बिगड गया। आप कह रहे है—'ऐ नेक बख्त! अफ़सोस, तुझको खबर नही कि कोई हाजी जान देता है, यूं दम तोडता है। आप तो खेती-बारी मे जी बहलाती होगी, या घर के चक्की-चूल्हे में पडी होगी (ऐ तौबा, मसरूफ होगी), या उपलियाँ प्यारी-प्यारी बनाती होगी। मगर यहाँ सूख-सूखकर इश्क की धूप मे हम कडा हुए जाते हैं। तुमको क्या नाम कि जानना चाहिए कि हम बिनवा कडे है जिसकी आँच इतनी तेज होती है कि पताल-यन्त्र में अरक और तेल उसी से निकलता है।"

अब्दुल हलीम 'शरर'—'शरर' उर्दू के जबर्दस्त लिखनेवाले थे। उनकी लिखी हुई पुस्तको की सख्या सौ से अधिक है। वे १८६० ई० मे लखनऊ मे पैदा हुए थे। उनके पिता तफज्जुल हुसैन वाजिद अली शाह के साथ इगलैण्ड गये थे और वापस आकर मटिया बुर्ज में भी उन्हीके साथ रहते थे। १८६७ ई० मे उन्होने अब्दुल हलीम को भी मटिया बुर्ज बुला लिया। मटिया बुर्ज मे इनकी बोलचाल की भाषा और अरबी-फारसी आदि की शिक्षा भी पूर्ण हो गयी, किन्तु वहाँ के समाज ने इन्हें विलासप्रिय बना दिया। इस कारण १८७७ ई० में इनके पिता ने इन्हें लखनऊ वापस कर दिया। दो वर्ष के बाद यह पढ़ने के लिए दिल्ली भी गये। १८८० ई० में इन्हें 'अवध अखबार' का सहायक सम्पादक बनाकर लखनऊ बुला लिया गया। १८८७ ई० में इन्होंने अपना पत्र 'दिलगुदाज' जारी किया। इसमें इनके उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित होने लगे। किन्तु आर्थिक कठिनाइयो के कारण यह १८९१ ई० में

उन्होंने चोटी के लेखकों से सम्पर्क स्थापित कर लिया और पण्डित त्रिभुवन नाथ 'हिज्र', मिर्जा मच्छूबेग 'सितम जरीफ', सय्यद मुहम्मद खाँ 'आजाद', सय्यद अकबर हुसेन 'अकबर' (प्रख्यात 'अकबर' इलाहाबादी), अली अहमद 'शौक़', ज्वाला प्रसाद 'बर्क', अहमद अली कसमण्डवी आदि नियमित रूप से 'अवध पंच' में लेख लिखने लगे। आरम्भ में पं० रतननाथ 'सरशार' ने भी इस पत्र में लिखा, किन्तु 'अवध अखबार' का सम्पादकत्व सँभालने के बाद उनका 'अवध पंच' से सम्बन्ध टूट गया। सज्जाद हुसेन १८८७ ई० में कांग्रेस में शामिल हुए और अंतकाल तक उसमें रहे। १९०१ ई० में उन्हें पक्षाघात हुआ, लेकिन कुछ महीने बीमार रहकर ठीक हो गये। १९०४ ई० में पक्षाघात का दूसरा दौरा हुआ, जो ठीक न हुआ। फिर भी मुंशी साहब कई वर्षों तक जीवित रहे। अन्त में २२ जनवरी १९१५ ई० को उनका देहान्त हो गया। 'अवध पंच' १९१२ ई० में ही बन्द हो गया था।

सज्जाद हुसेन की ख्याति उनके हास्य उपन्यास 'हाजी बग़लोल' के कारण हुई है। उसका हीरो नितान्त काल्पनिक होते हुए भी अपने में बहुत दिलचस्पी रखता है और साहित्य-प्रेमियो के मनोरंजन के लिए काफी मसाला दे देता है। उनके अन्य उपन्यास 'तरहदार लौंडी', 'प्यारी दुनिया', 'अहमक़ुल्जन', 'मीठी छुरी' और 'हयाते शेखचिल्ली' हैं। ये सब भी हास्यरस से शराबोर हैं।

सज्जाद हुसेन को उर्दू का प्रथम हास्य-लेखक कहा जा सकता है। गद्य में इनका वही स्थान है, जो कविता मे 'इंशा' का है। मुहावरो के आड़े-तिरछे प्रयोग और उनसे लाभ उठाने मे सज्जाद हुसेन अत्यन्त पटु है। साथ ही साथ अजीब-अजीब उपमाओ और रूपको से अपने हास्यरस को तेज करते हैं। उनकी भाषा मे कभी-कभी बाजारीपन और कभी-कभी मौलवियाना नीरसता भी दिखाई देती है, किन्तु कुल मिलाकर उनकी भाषा बड़ी प्रवाहमय और चटपटी है और हास्यरस के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

सज्जाद हुसेन ने गद्य और कथा-साहित्य मे पुरानी उपदेशात्मक परिपाटी समाप्त किया ही, कला की दृष्टि से एक और योगदान भी किया। ... सीमा तक चरित्रो के विकास की परिपाटी भी चलायी।

या', 'फ़्लोरो फ़्लोरिंडा', 'मयूर मोहना' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी भाषा का नमूना यह है—

"अरबों में इसी हैसियतो-शान का एक जानवर 'रुख़' के नाम से भी मशहूर है जिसका अल्फ़ लैला में ज़िक्र आया है और शायद वह अल्फ़ लैला की ही ऐसी कहानियाँ थीं जिनसे अख़ज़ करके उसके हालात 'अजायबुल-मख़लूक़ात' और 'हैवानुल-हैवान' में दर्ज कर दिये गये हैं। मगर अब अनक़ा, सीमुर्ग और रुख़ इन तीनों नामों का मफ़हूम एक ही ख़याल किया जाता है जो गूलर के फूल या किसी ऐसी चीज़ के मुतरादिफ़ है जिसका वजूद सिर्फ़ ख़यालात में हो और ज़ाहिरी व माद्दी दुनिया में उसका कभी पाया जाना न साबित हो।"

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'रुसवा'—मिर्ज़ा रुसवा की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने उपन्यासों के साथ ही ज्योतिष और रसायन-शास्त्र पर भी बहुत कुछ लिखा। वे लखनऊ के एक उच्च परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम आग़ा मुहम्मद तक़ी था। मिर्ज़ा रुसवा का जन्म लखनऊ में १८५८ ई० में हुआ। गणित और ज्योतिष का शौक़ उन्हें उत्तराधिकार में मिला था। सोलह वर्ष की अवस्था में उनके पिता मर गये। उनके मामा ने उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। मिर्ज़ा साहब ने अपने पिता से अरबी, फ़ारसी, गणित आदि पढ़ा था। फिर एन्ट्रेंस पास करके रुड़की से ओवरसियरी की परीक्षा भी पास की। उसके बाद उन्हें रेलवे में नौकरी मिल गयी और क्वेटा (बिलोचिस्तान) में नियुक्त हो गये। एक दिन उन्हें रसायन-शास्त्र पर अरबी की एक पुस्तक मिल गयी। अब उन्हें इसकी ऐसी धुन लगी कि इस्तीफ़ा देकर कोठी का सारा सामान नीलाम कर दिया और रसायन-शास्त्र के यन्त्र ख़रीदकर लखनऊ में अपने प्रयोग करने लगे। जीविका के लिए नख़ास के मिशन स्कूल में फ़ारसी के अध्यापक हो गये। रसायन-शास्त्र की धुन इतनी थी कि एक लोहार के लड़के को इस शर्त पर पढ़ाने लगे कि दुकान बन्द होने पर भट्ठी पर वे अपने प्रयोग कर सकें। घर पर ही प्राइवेट तरीक़े से उन्होंने पंजाब यूनीवर्सिटी से बी० ए० पास किया और अमरीका की ओरियन्टल यूनीवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री ले ली। मिर्ज़ा साहब कई भाषाएँ

हैदराबाद चले गये। वहाँ 'तारीख़े-सिंध' लिखने पर इन्हें पाँच हज़ार रुपया मिला। इसी बीच यह इंग्लैण्ड भी गये और वहाँ अंग्रेज़ी और फ्रेंच सीखी। १८९६ ई० में यह इंग्लैण्ड से हैदराबाद वापस आये और 'दिलगुदाज़' जारी किया, किन्तु एक धार्मिक झगड़े के कारण इन्हें १८९९ ई० में लखनऊ आना पड़ा। १९०७ ई० मे यह फिर हैदराबाद गये और शिक्षा-विभाग सचालक हो गये, किन्तु दो वर्ष बाद निजाम के आदेश से इन्हें फिर हैद छोड़ना पड़ा। इसके बाद यह अन्त तक लखनऊ मे रहे। दिसम्बर १९२ में इनका देहान्त हो गया।

'शरर' एक ही समय मे उपन्यासकार, इतिहासकार, नाटककार आलोचक थे। उनकी रचित पुस्तको में २१ जीवन चरित्र, ४२ उपन्

इस्लामी इतिहास को कथाओं के रूप मे लाकर उसे सर्व-सुलभ बना दिया। उन्होंने उपन्यास से अश्लील तत्त्व भी निकाल डाले। फिर भी इतने बहुलेख के साथ वे उपन्यास के कलापक्ष को उचित रूप से न निबाह सके। वे इतिहासकार थे, इसलिए घटनाएँ तो उन्होने दे दी, किन्तु चरित्र-चित्रण तथा दृश्य वर्णन मे ऐतिहासिक यथार्थ के दर्शन न करा सके। उनके सारे चरित्र एक ही मालूम होते हैं। उनके यहाँ इतिहास का ज्ञान तो है, किन्तु कथाकार की कल्पना कम मालूम होती है।

आलोचना के क्षेत्र में भी उन्हें पूर्णता प्राप्त नही है। उनके अध्ययन और ज्ञान के बारे में किसीको सदेह नही है, किन्तु वे अक्सर जिद और धार्मिक वैमनस्य से काम लेने लगते हैं। हैदराबाद से वे हटाये ही इसलिए गये कि उन्होंने इमाम हुसेन की बेटी सकीना के बारे में ऐसी बातें लिख दी थी, जिनसे शिये और कुछ सुन्नी भी नाराज़ हो गये। प० दयाशंकर 'नसीम' की मसनवी पर भी उन्होंने इसी आधार पर अनुचित आक्षेप किये, जिनका चकबस्त ने विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया। हाँ, भाषा अलबत्ता 'शरर' काफ़ी अच्छी लिखते हैं। अरबी-फारसी के प्रचुर मिश्रण के बावजूद उसमें चुस्ती और प्रवाह रहता है। उनके उपन्यासों में 'हसन अजीना' 'मलिकुल-अज़ीज़' वर्जी-

'फ्लोरो फ्लोरिडा', 'मसूर मोहना' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी भाषा का यह है—

"अरबी में इसी हैसियतो-शान का एक जानवर 'रुख' के नाम से भी मशहूर है जिसका अलिफ लैला में ज़िक्र आया है और शायद वह अलिफ लैला की ही ऐसी कहानियाँ थीं जिनसे अख़ज करके उसके हालात 'अजायबुल-मख़लूक़ात' और 'हैवातुल-हैवान' में दर्ज कर दिये गये हैं। मगर अब अनक़ा, सीमुर्ग और रुख इन तीनों नामों का मफ़हूम एक ही ख़याल किया जाता है जो गूलर के फूल या किसी ऐसी चीज़ के मुतरादिफ़ है जिसका वजूद सिर्फ़ ख़यालात में हो और ज़ाहिरी व माद्दी दुनियाँ में उसका कभी पाया जाना न साबित हो।"

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'रुसवा'—मिर्ज़ा रुसवा की प्रतिभा बहुमुखी थी। [उन्]होंने उपन्यासों के साथ ही ज्योतिष और रसायन-शास्त्र पर भी बहुत कुछ [लि]खा। वे लखनऊ के एक उच्च परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता का [ना]म आग़ा मुहम्मद तक़ी था। मिर्ज़ा रुसवा का जन्म लखनऊ में १८५८ ई० [में] हुआ। गणित और ज्योतिष का शौक़ उन्हें उत्तराधिकार में मिला था। [प]न्द्रह वर्ष की अवस्था में उनके पिता मर गये। उनके मामा ने उनकी सम्पत्ति [प]र अधिकार कर लिया। मिर्ज़ा साहब ने अपने पिता से अरबी, फ़ारसी, [ग]णित आदि पढ़ा था। फिर एन्ट्रेंस पास करके रुड़की से ओवरसियरी की परीक्षा भी पास की। उसके बाद उन्हें रेलवे में नौकरी मिल गयी और क्वेटा (बिलोचिस्तान) में नियुक्त हो गये। एक दिन उन्हें रसायन-शास्त्र पर अरबी की एक पुस्तक मिल गयी। अब उन्हें इसकी ऐसी धुन लगी कि इस्तीफ़ा देकर घाटी का सारा सामान नीलाम कर दिया और रसायन-शास्त्र के यन्त्र खरीदकर लखनऊ में अपने प्रयोग करने लगे। जीविका के लिए न उन्हें [क्रि]श्चियन स्कूल में फ़ारसी के अध्यापक हो गये। रसायन-शास्त्र की धुन इतनी थी कि एक लोहार के लड़के को इस शर्त पर पढ़ाने लगे कि दुकान बन्द होने पर भट्ठी पर वे अपने प्रयोग कर सकें। घर पर ही प्राइवेट तरीके से उन्होंने पंजाब युनीवर्सिटी से बी० ए० पास किया और अमरीका की आरियन्टल युनीवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री ले ली। मिर्ज़ा साहब कई भाषाएँ

जानते थे, जैसे अरबी, संस्कृत, हिब्रू, ग्रीक, अंग्रेजी, फ़ारसी, हिन्दी। दर्शनशास्त्र, गणित, तर्कशात्र आदि में उनकी योग्यता बड़ी ऊंची। ज्योतिष और खगोल-शास्त्र को ही दर्शन का आधार मानते थे और इ प्रकाश में इस्लामी विश्वासों का विवेचन करते थे। इसके अतिरिक्त और उपन्यासकार भी उच्चकोटि के थे। उनकी मसनवी 'उम्मीदे और उपन्यास 'उमरावजान अदा' उर्दू साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। उपन्यासों से उर्दू मे आधुनिक कथा-साहित्य का युग आरभ होता है। मानव स्वभाव के अन्दर बडी पैठ थी और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में उनके उप का दर्जा बडा ऊँचा है। उनके चरित्र समाज के प्रत्येक वर्ग के होते है मानव स्वभाव के अच्छे-बुरे सारे पहलू वे पूर्ण समन्वय के साथ दिखा जा उन्होने 'उमराव जान अदा' में पहली बार एक वेश्या को मानवीय गु परिपूर्ण दरशाया है और इस उपन्यास की मानवीय अपील ग़ज़ब की है

मिर्ज़ा साहब धुन के पक्के तो थे ही, साथ ही धन और ख्याति के लो हमेशा अलग रहे। कभी किसीके आगे उन्होने हाथ नही फैलाया। अपने में लगे होते तो बड़े से बड़े आदमी से भी नही मिलते थे, वैसे साफ़ दिल सच्चे मित्रों से खुलकर मिलते थे। उन्होंने जीवन की रंगीनियों का खुलकर अनुभव किया था, उनमें लिप्त नही हो गये थे। आ गमन उस्मानिया यूनीवर्सिटी के 'दारुल'-तर्जुमा' में उनकी नियुक्ति हो गयी थी २१ अक्तूबर १९३१ ई० को मिर्ज़ा साहब ने परलोक-गमन किया।

उनकी कुल रचित पुस्तके २५ हैं, जिनमें से आठ—जो अधिकतर वैज्ञा विषयों पर हैं—अप्रकाशित हैं। उनकी पद्य पुस्तकों में तीन मसनवियाँ औ एक कुल्लियात है। उपन्यासों में 'उमराव जान अदा', 'मूनी भेद', 'मु जोरू', 'बहराम की रिहाई', 'जाते शरीफ़', 'अफ़साए-राज़', आदि प्रसिद्ध हैं अरस्तू के नीतिशास्त्र और अफ़लातून के प्रजातन्त्र पर भी उनकी पुस्त प्रसिद्ध है।

: १० :

दरबारों के बचे-खुचे प्रभाव

१८५७ ई० के विद्रोह से जहां और बहुत-से राजनीतिक और सामाजिक रिवर्तन हुए, वहां एक परिवर्तन यह भी हुआ कि कविता को राज्याश्रय मिलने केन्द्र लखनऊ और दिल्ली से उठ गये और रामपुर तथा हैदराबाद पहुंच ये। विद्रोह में अवध और दिल्ली के राज्य समाप्त ही हो गये। बांदा, र्रुखाबाद आदि की छोटी-छोटी रियासतें भी, जहां 'मीर' और 'सौदा' के ज़माने में और उसके बाद भी कवियों को राज्याश्रय मिला करता था, ब्रिटिश बरोध के कारण खत्म करके अंग्रेज़ी साम्राज्य में मिला ली गयी थीं। किन्तु हैदराबाद की निज़ामत और रामपुर की नवाबी पहले की ही तरह क़ायम रहीं। रामपुर में पहले नवाब यूसुफ़ अली खां और फिर उनके पुत्र नवाब कल्बे अली खां स्वयं भी कवि थे और कवियों के गुणग्राहक भी थे। किन्तु १८८७ ई० में कल्बे अली खां के मरने पर उत्तराधिकार का झगड़ा चला और रीजेंसी की स्थापना हो गयी। लखनऊ और दिल्ली के कविगण, जो निकट होने के कारण रामपुर का दामन पकड़े थे, अब हैदराबाद जाने के लिए विवश हुए। हैदराबाद में शुरू से ही साहित्यिकों का मान था और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही दीवान चन्दू लाल की दानशीलता उत्तर भारत के उर्दू कवियों को यदाकदा वहां खींच ले जाती थी। इसके बाद भी नवाब सालार जंग ने उत्तर भारत के कई अवकाश-प्राप्त सरकारी अफ़सरों को अपने यहां काम करने को बुलाया था, किन्तु हैदराबाद का दरबार स्थायी रूप से उत्तर भारत के कवियों से तभी सुशोभित हुआ जब कि रामपुर के दरबार का साहित्यिक रंग उखड़ गया। भाग्यवश उन दिनों वहां के मन्त्री महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' थे, जो कवियों और साहित्यकारों के सबसे बड़े गुणग्राहक कहे जा सकते हैं। स्वयं निज़ाम महबूब अली खां भी

शायर थे। इसीलिए उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशक मे हैदराबाद में कवि का जमाव हो गया और हैदराबाद प्रमुख साहित्यिक केन्द्रो में से हो गया

इसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि इसी अरसे में उत्तर भा मे 'आज़ाद' और 'हाली' द्वारा कविता के नये युग की स्थापना हो रही थी अं साहित्य-प्रकाशन का प्रमुख माध्यम साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ होती जा रही थी इस प्रकार की नयी कविता दरबारो की मुखापेक्षी भी नही थी और उन्हें पस भी नही आ सकती थी। इसीलिए जो महाकवि इस नये स्वाभाविकतावा आन्दोलन के साथ न आये और गजल, कसीदा, आदि पुराने काव्यरूपो को ह अपनाये रहे, उन्हें हैदराबाद और शुरू में रामपुर के दरबार ने भी हाथ हाथ लिया।

किन्तु यह बात भी याद रखनी चाहिए कि यद्यपि उन्नीसवी शताब्दी के अतिम काल के इन कवियों ने राज्याश्रय अवश्य प्राप्त किया था, फिर भी उन्हें न पुरातनवादी कहा जा सकता है, न दरबारी कवि। उन्होंने थोड़े-बहुत कसीदे ज़रूर लिखे हैं, लेकिन उनका मुख्य ध्यान गज़लो पर ही रहा है, जिसकी उनके आश्रयदाता उनसे अपेक्षा भी करते थे। साथ ही साथ शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी कविता को भाषा और भाव की दृष्टि से इस काल के इन कवियो की महत्त्वपूर्ण देन है। उन्होने पहली बार उर्दू मे मुहावरो और चुस्ती के आधार पर ऐसी परिपक्वता पैदा की, जिसके आधार पर बाद के कवियो ने कविता में अगणित सभावनाओ का मार्ग खोला। गज़ल में सरलता, प्रवाह, नरमी और मार्मिकता जैसी इस ज़माने में हुई, वैसी इससे पहले नही देखी जाती। भाषा और शैली की समतलता भी इसी युग की देन है। इस युग के कवियो में 'अमीर', 'दाग', 'जलाल', 'तसलीम', 'रियाज़' और 'जलील' प्रमुख हैं।

मुशी अमीर अहमद 'अमीर' मीनाई—इस युग के प्रमुख कवि 'अमीर' हैं। मुशी अमीर अहमद मौलवी करम मुहम्मद 'करम' लखनवी के पुत्र थे। वे १८२९ ई० में लखनऊ में पैदा हुए। उस समय लखनऊ में नसीरुद्दीन हैदर का ज़माना था। लखनऊ मे पठन-पाठन और साहित्य-सर्जन का वातावरण पूरे जोर पर था। अमीर अहमद ने प्रारभिक शिक्षा अपने पिता से और उच्च शिक्षा प्रख्यात अध्ययन केन्द्र फ़िरगी महल में प्राप्त की। वे अरबी, फ़ारसी,

...माशास्त्र, ज्योतिष आदि में निपुण हो गये। कविता में वे 'अमीर' के
...य हो गये। 'अमीर' ने उनकी कविता के परिष्कार में बहुत मेहनत की
... उन्हें अपने साथ नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में भी ले गये।
... 'अमीर' ने 'इरशादुस्सुल्तान' और 'हिदायतुस्सुल्तान' नामक दो पुस्तकें
...त कर दी, जिनके इनाम में इन्हें खिलअत मिली।

अवध की नवाबी समाप्त होने के बाद वहाँ के गुणीजन भी इधर-उधर
...टकने लगे। 'अमीर' ने पहले सरकारी नौकरी करने का इरादा किया, लेकिन
...र यह इरादा छूट गया। इसके बाद वे कभी काकोरी, कभी शाहजहाँपुर और
...भी मैनपुरी की खाक छानते रहे। आखिर नवाब यूसुफ अली खाँ ने उन्हें
...पने यहाँ बुला लिया। यहाँ 'अमीर' का भाग्य नसीब हुआ और [illegible]
...चालीस वर्ष उन्होंने रामपुर में काटे। नवाब कल्ब अली खाँ के दरबार
... इनके अतिरिक्त 'दाग़', 'जलाल', 'तसलीम' और [illegible]
...बादी जैसे ख्यातनामा कवि मौजूद थे। रामपुर [illegible]
... 'दाग़' हैदराबाद चले गये थे। उन्हीं के प्रयत्नों से 'अमीर' भी हैदराबाद

इश्क'। दो मसनवियाँ भी 'नूरे-तजल्ली' और 'अब्रे-करम' के नाम से
हैं। उनके मुसद्दसों में (१) सुब्हे-अजल, (२) शामे-अबद, (३)
तुल्क़द्र, और (४) शाहे-अम्बिया मशहूर हैं। उनके छः वासोख़्त भी
जिनके नाम 'बाग़े-इज़्तरार', 'वासोख़्ते-उर्दू', 'शिकायते-रंजिश', 'स
आतिशबार', 'हसदे-अगयार' और 'गुबारे-तबा' हैं। इस संग्रह को 'मो
सुखन' के नाम से लखनऊ के दायरए-अदबिया ने प्रकाशित करवा दिया
उनका एक बड़ा कारनामा 'अमीरुल-लुगात' है। यह बृहत् शब्दकोश
जिल्दों में लिखा जानेवाला था, किन्तु यह पूर्ण न हो सका। इसके अल
उनकी दो रचनाओं 'इरशादुस्सुल्तान' और 'हिदायतुस्सुल्तान' का उल्
पहले ही हो चुका। उनकी अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—(१) गैरते-बहा
स्तान (इसमें १८५७ ई० के विद्रोह के पूर्व की कुछ गज़लें और वाजिद अ
शाह की प्रशंसा में कहे गये कुछ कसीदे थे, यह पुस्तक नष्ट हो चुकी है), (
महामिदे-खातिमुल-नबैन (यह नातिया यानी मुहम्मद साहब की प्रशंसा
कही हुई गजलों का दीवान है, जो १८७२ ई० में लिखा गया था), (३) इ
खाबे-यादगार (रामपुर के दरबार के कवियों का वृत्तान्त, जो १८७३ ई०
नवाब कल्बे अली के आदेश से लिखा गया था), (४) जौहरे-इन्तख़ाब औ
(५) गौहरे-इन्तख़ाब ('मीर' और 'दर्द' के रंग में कही हुई गज़लों के संग्रह)
(६) सुरमए-बसीरत (इसमें अरबी और फारसी के वे शब्द दिये गये हैं, जिन
लोग गलत प्रयोग करते हैं और उनके सही प्रयोग को बताया गया है), (७)
बहारे हिन्दी (यह उर्दू के मुहावरों का एक संक्षिप्त कोष है)। उनका तीसरा
दीवान अभी तक अप्रकाशित है।

'अमीर' का भाषा और काव्यशास्त्र का ज्ञान कितना विशद था, यह उनकी
रचनाओं को देखने से साफ मालूम होता है। काव्य में उन्होंने दो रंग पकड़े।
पहले वे ठेठ लखनवी ढंग की कविता करते थे, जिसमें एक ओर तो शारीरिक

है। अमीर का पहला दीवान 'मिरातुल्-ग़ैब' इसी प्रकार की शिथिलताओं से
भरा हुआ है, जो 'नासिख़' के युग की देन थी। किन्तु रामपुर में आने के बाद

उन्होंने 'दाग़' के रंग की लोकप्रियता देखकर उन्हींके रंग में काव्य-सर्जना आरंभ कर दी। इस शैली की विशेषता यह है कि इसमें भाषा सरल, चुस्त, प्रवाहयुक्त और मुहावरेदार होती है और नाटकीयता तथा प्रभावोत्पादन अत्यधिक होते हैं—यद्यपि इसमें करुणा की अधिक गुंजायश नहीं होती, तथापि प्रेमभावना की तीव्रता से इसमें जान पड़ जाती है। इस शैली का विस्तृत विवेचन आगे 'दाग़' के प्रकरण में किया जायेगा। ऐसी कविता न तो कल्पना की उड़ान पर आधृत होती है और न सूक्तियों के समावेश और शाब्दिक अनुरूपता की माथा-पच्ची पर। दरअस्ल इसका आधार प्रेम की तीव्र अनुभूति और भाषा पर असाधारण अधिकार होता है। 'अमीर' का भाषा पर अधिकार और काव्य-कला का अभ्यास तो असंदिग्ध है, किन्तु उनके सरल साधु प्रवृत्ति के जीवन से यह आशा ही नहीं की जानी चाहिए कि उन्हें 'दाग़' की भाँति जीवन की रंगीनियों और प्रेम-व्यापार का व्यक्तिगत अनुभव किसी सीमा तक भी होगा। इसीलिए 'अमीर' ने 'दाग़' के रंग में जो कुछ कहा है, उसमें वे 'दाग़' जैसी सजीवता और तड़प पैदा नहीं कर सके हैं। फिर भी 'अमीर' की कविता को 'दाग़' की अनुकृति मात्र कह देना ज्यादती होगी। उनके अन्दर अपनी विशेषताएँ हैं। पहली बात तो यह है कि उनकी कविताओं में थोड़ा-बहुत सूफ़ीवादी रंग पाया जाता है, जिससे उनके समकालीन लगभग बिल्कुल रहित हैं। दूसरी बात यह है कि वे प्रेम की बातें करते हैं, तो भी उनमें अपेक्षाकृत गंभीरता अधिक रहती है यद्यपि समय की रुचि के अनुसार उनकी कविता में भी कहीं-कहीं छिछोरपन के भाव आ जाते हैं। उनकी भाषा लखनऊ की टकसाली ज़बान है। उनके मुहावरे भी ठेठ लखनऊ के होते हैं।

'अमीर' के बाद के ज़माने की कविता पहले ज़माने की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक अच्छी है और बाद का रंग पहले के लखनवी रंग की अपेक्षा अधिक भव्य दिखाई देता है। फिर भी उनकी लखनवी काल की कविता को भी एकदम निकम्मी नहीं कहा जा सकता। एक आलोचक के अनुसार, "न तो तम्सीली (रूपकमय) शायरी शुष्क होने पायी है और न तसव्वुफ़ की शायरी बेरंग हुई है। तसव्वुफ़ में 'अमीर' ने ऐसी लताफ़त और रंगीनी भर दी है कि नज़ाकत और सोज़ के अलावा एक ख़ास मज़ा पैदा हो गया है, जो उनके कलाम

को दूसरों की ऐसी शायरी से बहुत जियादा दिलकश और पुरलुत्फ़ बना देता है। बरखिलाफ़ इसके जब वह 'दाग़' की सादगी और बेतकल्लुफ़ी इख़्तियार करते हैं तो कभी-कभी सूक़ियत और इब्तज़ाल पैदा हो जाता है।" ख़ैर, ग़ज़ल में चाहे उनकी शैली और भाषा में कुछ कमज़ोरियाँ भी हों, मसनवियों और मुनाजात में, जहाँ उन्होंने प्रचलित फ़ैशन के अनुसार नहीं, बल्कि हृदय से कविता की है ये दोष बिलकुल मिट गये हैं। 'अमीर' के कलाम का नमूना निम्नलिखित है—

उल्फ़त में बराबर है वफ़ा हो कि जफ़ा हो
हर बात में लज़्ज़त है अगर दिल में मज़ा हो
आये जो मेरी लाश पे यह तंज़ से बोले
अब हम हैं ख़फ़ा तुमसे कि तुम हमसे ख़फ़ा हो

ख़ुदी से बेख़ुदी में आ जो शौक़े-हक़परस्ती है
जिसे तू नेस्ती समझा है, ऐ ग़ाफ़िल! वो हस्ती है
बढ़ ऐ आहे-रसा अब कंगुरे पर अर्श के पहुँचो
बलन्दी को बलन्दी जानना हिम्मत की पस्ती है
न घबरा ऐ दिले नाकामयाब अब मंज़िल क़रीब आयी
इसी घाटी के आगे और इक आबाद बस्ती है
न शाख़े-गुल ही ऊँची है न दीवारे-चमन बुलबुल!

अपनी बातो के समर्थन में 'दाग़' के शेरों का डटकर प्रयोग करते हैं। 'दाग़' की इस ख्याति का बड़ा दृढ़ आधार था, जिसका विवेचन आगे होगा।

नवाब मिर्जा खाँ २५ मई, १८३१ ई० को दिल्ली मे पैदा हुए। उनके पिता नवाब शमसुद्दीन खाँ लोहारू के रईस नवाब जियाउद्दीन खाँ के भाई थे। १८३८ ई० में उनके पिता को फाँसी दे दी गयी, क्योंकि उन्होने ब्रिटिश गवर्नर जनरल के दिल्ली स्थित एजेंट मि० फ्रेजर की हत्या कर दी थी। नवाब मिर्जा की माँ पति की फाँसी के बाद कुछ वर्षों तक रामपुर मे रही, फिर बहादुरशाह द्वितीय के पुत्र मिर्जा फखरू के बुलाने पर १८४१ ई० में रामपुर से दिल्ली के लाल क़िले में आ गयी। १८४४ ई० में उनका विवाह मिर्जा फखरू के साथ हो गया। मिर्जा फखरू अपने सौतेले पुत्र को बहुत मानते थे। उन्होने उन्हे राजकुमारों जैसी शिक्षा दिलवायी। फारसी-अरबी के साथ ही घुड़सवारी, तीर अन्दाज़ी और बाँक पटे में भी नवाब मिर्जा दक्ष हो गये। उन्हें सुलेखन की भी अच्छी शिक्षा मिली।

उस समय लाल क़िले में कविता का बड़ा बोलबाला था। बराबर मुशायरे हुआ करते थे, जिनमे उस समय के प्रतिष्ठित कवि भाग लिया करते थे। बहादुर शाह और मिर्जा फ़खरू दोनो कवि थे और प्रख्यात उस्ताद 'जौक़' के शागिर्द थे। मिर्जा फ़खरू ने अपने पुत्र को भी उनके सुपुर्द कर दिया और 'जौक़' ने भी इस प्रतिभाशाली नवयुवक पर काफ़ी मेहनत की। सोलह वर्ष की अवस्था में लाल क़िले के मुशायरे में 'दाग़' ने पहली बार ग़ज़ल पढ़ी और खूब वाहवाही लूटी। इस मुशायरे के बाद कविता के क्षेत्र में उनका स्थान निश्चित हो गया। साथ ही लाल क़िले के हँसी-खुशी और विलास से भरे जीवन में 'दाग़' की जवानी ने आँखें खोलीं और उन्होंने प्रेम की रंगरलियो का जी भर कर आनन्द लूटा।

किन्तु यह चैन अधिक दिन न रहा। १८५६ ई० में मिर्जा फ़खरू हैज़े से (या विष दिये जाने से ?) मर गये और 'दाग़' को आन्तरिक षड्यन्त्रों के कारण अपनी माँ के साथ लाल क़िले से निकलना पड़ा। इसके बाद १८५७ ई० का विद्रोह हो गया और उन्हें दिल्ली भी छोड़नी पड़ी। अब वे रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली खाँ की शरण में गये, जहाँ उनके पुराने सम्बन्ध थे और युवराज कल्बे अली खाँ के मुसाहिब तथा अस्तबल के दारोग़ा नियुक्त हो गये।

रामपुर में 'दाग़' ने बड़े सम्मान के साथ जीवन व्यतीत किया। नवाब कल्बे अली खाँ के गद्दी संभालने के बाद 'दाग़' की पदोन्नति भी हुई और उनकी साहित्यिक ख्याति भी बढ़ी। उनके दो दीवान रामपुर के ही आवास काल में प्रकाशित हुए और कलकत्ते की वेश्या मुन्नीबाई हिजाब से भी उनका प्रेम सम्बन्ध चला और इसी कारण वे लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, पटना आदि होते हुए कलकत्ते भी घूम आये। इस प्रेम-व्यापार के दिग्दर्शन के लिए उन्होंने अपनी मसनवी 'फ़रियादे-दाग़' भी लिखी। इसके अतिरिक्त वे नवाब के साथ हज की यात्रा को भी गये। उनकी एक-आध धार्मिक ग़ज़लें इसी हजयात्रा के सिलसिले में लिखी गयी थी।

नवाब कल्बे अली खाँ के १८८६ ई० में मरने पर 'दाग़' रामपुर में न ठहरे और अगले वर्ष दिल्ली चले गये। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद हैदराबाद के महामन्त्री राजा गिरधारीलाल के बुलावे पर वे हैदराबाद चले गये। दो-तीन महीने वहाँ रहे, निज़ाम से भी भेंट हुई, लेकिन उन्हें वहाँ नौकरी पाने में सफलता न मिली और वे दिल्ली लौट आये। १८८८ ई० में राजा गिरधारीलाल ने निज़ाम के कहने से उन्हें फिर बुलाया। फिर भी निज़ाम उन्हें भूल से गये, किन्तु अब 'दाग़' ने हैदराबाद में ही रहने का निश्चय किया। अंत में १८९१ ई० में निज़ाम ने साढ़े चार सौ रुपया मासिक वेतन पर उन्हें अपना काव्य-गुरु नियुक्त कर दिया। १८९४ ई० में यह वेतन बढ़कर एक हज़ार रुपया मासिक हो गया। यहीं पर उनका तीसरा दीवान भी तैयार हो गया और वे सारे भारत में सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में सम्मानित हो गये। १७ फ़रवरी १९०५ ई० को चार महीने पक्षाघात से पीड़ित रहने के बाद उनका देहावसान हो गया।

'दाग़' के स्वभाव में दो बातें उल्लेखनीय हैं—एक तो उनकी शौकीन तबीयत और दूसरे उनका सौहार्द। उनकी रंगरलियों का उल्लेख हो ही चुका। वे बहुत अच्छा खाते-पहनते थे। संगीत का उन्हें बहुत शौक भी था और जानकारी भी। इसके अलावा उन्हें इत्र, पतंगबाज़ी, मेलो-ठेलों आदि के भी शौक़ कम नहीं थे। उनके सौहार्द का सबसे बड़ा सबूत तो उनका अपने प्रतिद्वंद्वी कवि 'अमीर' से घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध था। इसके अलावा भी उनका किसी से

विरोध नहीं हुआ। उनके मित्रों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत था और शागिर्दों
य भी उनके मैत्री के ही सबध रहते थे। उनके शिष्यों की संख्या लगभग
ज़ार थी। हैदराबाद में उन्होंने अपने शागिर्दों के काव्य के संशोधन का
हिसाब-किताब रखने के लिए एक दफ़्तर ही खोल दिया था। शागिर्दों की
ताओं को वे अधिकतर डाक से प्राप्त करते थे और संशोधन के बाद डाक से
उनके पास वापस भेजते थे। उनके शागिर्दों में अल्लामा डा० इक़बाल,
माब' अकबराबादी, 'नूह' नारवी, 'अहसन' मारहरवी, 'बेखुद' देहलवी,
नल' देहलवी, 'नातिक़' गुलावठी, 'नसीम' भरतपुरी, लब्भूराम 'जोश'
लसियानी आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'नूह' नारवी और 'अहसन'
रहरवी का उनसे बड़ा निकट का सम्पर्क था। 'नूह' नारवी तो हैदराबाद में
के पास कुछ वर्षों तक रहे भी थे और उन्होंने मुहावरों सम्बन्धी एक पुस्तक
(जो अपूर्ण रह गयी) उनकी सहायता की थी। 'अहसन' मारहरवी ने 'दाग़'
जीवनी लिखकर और उनके अंतिम दीवान का संग्रह और प्रकाशन करके
ष्यत्व का कर्तव्य पूरा कर दिया।

'दाग़' की तत्कालीन ख्याति और बाद की बदनामी का रहस्य समाज की
चि में परिवर्तन है। 'दाग़' के ज़माने में अभिजात वर्ग अपने लुटे हुए वैभव
ी याद भुलाने के लिए विलास और वासना में डूबा हुआ था। उससे पहले
स्पष्ट दो रंग दिखाई देते थे। एक तो 'नासिख़' और 'ज़ौक़' का—विशेषत
'नासिख़' का—आकारवादी रंग था, जिसके काव्य का मुख्य आधार शब्दों के
कौशल के साथ किये हुए प्रयोगों का था। दूसरा 'ग़ालिब' और 'मोमिन' और
'आज़िन' का रंग था, जिसमें कल्पना की उड़ान और काव्य-विषयों का अछूतापन
पाया जाता था। 'दाग़' ने इन दोनों का सम्मिश्रण करके एक नयी शैली की
स्थापना की। भाषा का माधुर्य उन्होंने लखनवी शैली से लिया, किन्तु उसकी
शाब्दिक खिलवाड़ दूर करके उसमें दिल्ली शैली की सरलता और सादगी
प्रतिष्ठापित कर दी। काव्य विषय के क्षेत्र में उन्होंने कल्पना की बजाय अनुभूति
का आधार लिया और लखनवी बेजान नखशिख वर्णन तथा 'ग़ालिब' और
'मोमिन' की कल्पना की उड़ानों, दोनों से बचकर वास्तविक प्रेम-व्यापार को

और अनुभूतियों का प्रकाशन किया। इसीलिए यद्यपि उनके यहाँ प्रेम-
का खुला वर्णन है (जिसके आधार पर कुछ लोग भूल से उनकी कविता
अश्लील और वासनापूर्ण भी कह देते हैं), तथापि उनमें वास्तविक की
अनुभूतियों का ही वर्णन है और जहाँ वासना का वर्णन भी है, वह हमारे
भाव की पुष्टि करता है। यह नहीं है कि 'दाग़' के यहाँ प्रेम का रूप ऐसा
है, जिससे प्रेम की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग जायें, यह भी नहीं है कि उ
अपनी प्रेमिकाओं के सम्मान की ओर से पूरी उपेक्षा बरती है (कभी-क
तो वे प्रेमिकाओं को गाली भी देने लगते हैं), किन्तु इसमें भी सदेह नहीं कि
अनुभूति यथार्थवादी है। चाहे उनका प्रेम के प्रति दृष्टिकोण अनुकरणीय
किन्तु वह है वास्तविक और हम सभी के जीवन मे ऐसे क्षण आते हैं,
हम 'दाग़' के ठेठ भौतिकवादी प्रेम का दृष्टिकोण अपना लेते है।

'दाग़' की शैली अत्यन्त आकर्षक है और अधिकतर अर्थों में उर्दू में
श्रेष्ठ कही जा सकती है। उनके शेरो मे रवानी और चुस्ती, जो प्रत्येक सत
के अनिवार्य गुण होते है, तो अत्यधिक है ही, साथ ही भाषा की सरलता, म
और गीतात्मकता ने मिलकर उनमें ऐसा लालित्य पैदा कर दिया है जो '
के अलावा मुश्किल से ही किसी और में दिखाई देता है। इस पर शोखी
तेवर तथा नाटकीयता ने उनके शेरों को बडा प्राणवान कर दिया है। उन
सबसे बडी सफलता मुहावरो का उचित प्रयोग है। इसमें उन्होंने बहुत परिश्र
किया था और इसमे सदेह नही कि उर्दू को टकसाली बनाने मे 'नासिख़' के ब
'दाग़' का ही नाम आता है। साथ ही उन्होंने ऐसे प्रवाहयुक्त, चुस्त औ
मार्मिक शेर लिखे हैं, जो स्वय ही उर्दू के मुहावरे बन गये है और उर्दू का भडा
उनसे भर गया है। उर्दू पर 'दाग़' का वही अहसान है जो अंग्रेजी गद्य प
ड्राइडेन का है। इसमे सदेह है कि यदि 'दाग़' और उनके समकालीनो ने भाषा
के सौष्ठव और उसकी अभिव्यजना शक्ति पर इतना ध्यान न दिया होता तो
उनके तुरन्त बाद मैदान में आनेवाले महान कवियो—'अकबर', चकबस्त और
इकबाल—की भाषा मे आज जैसा प्रभाव हो पाता या नही। काव्य विषय में
न सही, किन्तु भाषा की साज-सँवार करके उसे फ़ारसी से अलग करके अपने

पैरों पर खड़ा करने और उनमें असीमित माधुर्य और सौष्ठव पैदा करने में 'दाग़' की जो देन है, उसे उर्दू संसार कभी नहीं भुला सकेगा।

'दाग़' की रचनाओं में चार दीवान—(१) 'गुलज़ारे-दाग़', (२) 'माह-ताबे-दाग़', (३) 'आफ़्ताबे-दाग़' और (४) 'यादगारे-दाग़'—तथा एक मसनवी 'फ़रियादे-दाग़' है। उनकी रचनाओं का नमूना निम्नलिखित है—

ग़ज़ब किया तेरे वादे का एतबार किया
तमाम रात कयामत का इन्तज़ार किया
तड़प फिर ऐ दिले-नादाँ कि ग़ैर कहते हैं
अख़ीर कुछ न बनी सब्र इख़्तियार किया
भुला भुला के जताया है उनको राज़े-निहाँ
छुपा छुपा के मुहब्बत को आशकार किया

बुत को बुत और ख़ुदा को जो ख़ुदा कहते हैं
हम भी देखें तो उसे देख के क्या कहते हैं
मैं गुनहगार अगर इश्क़े-मजाज़ी है गुनाह
मैं ख़तावार अगर इसको ख़ता कहते हैं

दर्द बनकर दिल में आना कोई तुमसे सीख जाय
जाने-आशिक़ होके जाना कोई तुमसे सीख जाय
कोई सीखे ख़ाकसारी की रविश तो हम सिखायें
ख़ाक में दिल को मिलाना कोई तुमसे सीख जाय

दुनिया के देखने के लिए आँख चाहिए
जन्नत की सैर से है सिवा इस मकाँ की सैर

हकीम ज़ामिन अली 'जलाल'—रामपुर दरबार के कवियों में 'जलाल' का भी प्रमुख स्थान है। यद्यपि इनकी कविता 'दाग़' और 'अमीर' के स्तर को नहीं पहुँचती, फिर भी उनमें एक अपना रंग है। सय्यद ज़ामिन अली हकीम असग़र अली दास्तानगो के पुत्र थे। उनका जन्म १८३४ ई० में हुआ था। उन्होंने

आसफुद्दौला के मदरसे से फारसी और अरबी पढ़ी। इसके बाद चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया। लखनऊ मे उन दिनो शायरी का दौर-दौरा था। इसलिए सय्यद जामिन अली की भी रुचि इधर को ओर हो गयी। पहले वे अमीर अली खाँ 'हिलाल' से अपनी कविता का संशोधन कराने लगे। कुछ दिनों में 'हिलाल' ने अपने उस्ताद मीर अली औसत 'रश्क' के सुपुर्द कर दिया। 'रश्क' ठेठ लखनवी शैली के कवि थे और 'नासिख' के प्रमुख शागिर्दों में से थे। कुछ दिनो बाद जब 'रश्क' इराक की यात्रा पर जाने लगे तो 'जलाल' को 'नासिख' के दूसरे प्रमुख शिष्य मिर्जा मुहम्मद रजाखाँ 'बर्क' के हवाले कर गये। 'बर्क' अपने जमाने के माने हुए शायरो से थे और वाजिद अली शाह के निर्वासन में उनके साथ रहे थे। 'बर्क' ने 'जलाल' को काव्यकला में दक्ष कर दिया। उन दिनो लखनऊ मे रोजाना मुशायरे होते थे, जिनमे 'बह्र', 'सेह्र', 'असीर', 'अमीर' आदि सम्मिलित होते थे। जलाल भी इन मुशायरो में भाग लेने लगे।

१८५७ ई० के विद्रोह मे ये पुरानी महफ़िलें उजड़ गयी और कविगण इधर-उधर हो गये। 'जलाल' ने भी जीविका के लिए अपने चिकित्सा-ज्ञान का सहारा पकड़ा, किन्तु उनकी काव्य-साधना बराबर जारी रही। रामपुर के दरबार में जलाल के पिता कहानी कहने के नौकर थे। कुछ दिनो बाद रामपुर के नवाब यूसुफ अली खाँ ने 'जलाल' को भी रामपुर बुलाकर अपने दरबार में रख लिया। कुछ दिनो बाद यूसुफ अली खाँ के मरने पर उनके पुत्र कल्बे अली खाँ गद्दी पर बैठे। यह कवियो की कद्रदानी करने में अपने पिता से भी आगे बढ़े हुए थे। उन्होंने 'जलाल' को सौ रुपया महीने पर नौकर रख लिया। नवाब कल्बे अली खाँ इन्हे कितना मानते थे, इसका अन्दाजा इसी बात से हो सकता है कि 'जलाल' कई बार उनसे बिगड़कर लखनऊ चले आये और हर बार नवाब साहब ने उन्हें बुलाकर रख लिया। रामपुर के दरबार में 'दाग', 'अमीर', 'तसलीम' और 'मुनीर' जैसे प्रतिभाशाली कवि भी मौजूद थे। मुशायरों में एक ही तरह पर सारे कवि गजलें कहते थे और एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा में एक से एक अच्छी गजलें निकाली जाती थी और रामपुर के दरबार की कविता का स्तर ऊँचा होता जाता था। बीस वर्ष तक 'जलाल' इसी प्रेरणादायक वातावरण में रहे।

१८८६ ई० मे नवाब कल्बे अली खाँ का देहान्त हो गया और रियास
के प्रबंध के लिए कौंसिल आफ रीजेन्सी स्थापित हुई, तो दरबार के कविगण भ
इधर-उधर बिखर गये। 'जलाल' को मगरौल के नवाब ने बुलाकर र
लिया। मगरौल की लखनऊ से दूरी और जलवायु अनुकूल न होने के कार
'जलाल' जल्द ही वहाँ से लखनऊ चले आये। मगरौल के नवाब ने फिर भ
इनकी कद्रदानी की और आजीवन उन्हे पचास रुपया महीना और प्रत्येक कसी
पर सौ रुपया भेजते रहे। अन्त मे २० अक्तूबर १९०९ ई० को उनका देहान
हो गया।

'जलाल' की योग्यता असंदिग्ध थी। काव्यशास्त्र मे उनकी जानका
बेजोड थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में काव्यनियम सम्बन्धी शिथिलता त
आने ही नही दी है, साथ ही काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखकर अप
उस्ताद 'बर्क़' द्वारा अधूरे छोडे हुए काम को उन्होंने पूरा किया है। यद्य
'जलाल' की तत्सम्बन्धी पुस्तके प्रारंभिक प्रयास ही कहे जा सकते हैं और इ
समय छंद-शास्त्र और काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई अच्छी पुस्तके छप चुकी ह
फिर भी 'जलाल' की रचनाओं का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही।

उन्हें अपनी योग्यता पर गर्व भी था। 'दाग' को तो वे जाहिल समझते थे
अन्य कवियों को भी अपनी बराबरी का न समझते थे। वे अपने मित्रों में बे
झिझक कहा करते थे कि 'जलाल जैसा शायर न कभी पैदा हुआ है न आयद
होगा'। इसी आत्माभिमान को वे उद्दंडता की सीमा तक ले जाते थे और उनक
अपने समकालीनो से झगड़ा भी हो जाता था। ऐसे ही एक झगडे पर तस्लीम
के शागिर्द ज़हीर अहसन शौक़ ने दो पुस्तकें लिखकर उनकी अच्छी तरह ख़बर
ली और उनकी काव्य-सम्बन्धी भूलें दिखायी। 'जलाल' बड़े कवियों से मिलन
और उनकी प्रशंसा करने में अपनी हेठी समझते थे, किन्तु अपने मित्रों औ
शागिर्दों से वे बहुत प्रेम भी करते थे और शागिर्दों की कविताओं का संशोधन ब
परिश्रम के साथ करते थे।

'जलाल' लखनवी शायरी की आख़िरी यादगार थे। शब्द-व्यंजना का ज
उन पर से कभी नही उतरा और उनकी शैली मे कभी परिवर्तन नहीं हुआ
फिर भी पुराने लखनवी कवियो से उनमें एक बात में फ़र्क़ है कि वे गंदी, चोटी,

अँगिया, चोली का वर्णन नहीं करते थे। साथ ही उनकी भाषा में बनावट भी अपेक्षाकृत कम है। कभी-कभी वे प्रभावोत्पादक और करुणात्मक शेर भी कह जाते हैं, किन्तु अपवादस्वरूप। वे बहुत शीघ्र काव्यरचना करते थे, एक-एक दिन में बीस पच्चीस ग़ज़लें तक लिख जाते थे, इसीलिए उनकी रचनाओं में साधारणतः फीकापन बहुत है। फिर भी आकारवादी दृष्टिकोण से उनकी कविता काफ़ी ऊँची है और उसमें शब्दों, मुहावरों आदि की भूलें नगण्य हैं। उनकी रचनाएँ ये हैं—(१) चार दीवान, (२) सरमायए-ज़बाने-उर्दू (उर्दू मुहावरों पर पुस्तक), (३) इफ़ादए-तारीख़ (तारीख़ लिखने के बारे में पुस्तक), (४) मुतख़िबुल कवायद (शब्दों की व्युत्पत्ति सम्बन्धी पुस्तिका), (५) तनक़ीहुललुग़ात (६) गुलशने-फ़ैज़ (ये दोनों शब्दकोष हैं), (७) दस्तूरूल-फुसहा (छंद शास्त्र सम्बन्धी पुस्तक) और (८) मुफ़ीदुश्शोअरा (स्त्रीलिंग और पुल्लिंग की विवेचना)। 'जलाल' की रचना का नमूना निम्नलिखित है—

> जो वादिए-इश्क़ के हैं जादे किधर हैं उनका ज़रा पता दे
> मुझे भी ऐ बेखुदी बता दे इरादा रखती तू कहाँ का
> जो दे गया दाग़ मुझको अपना निशाँ तो कुछ उसका मैं न दूँगा
> मगर कहूँगा ज़रूर इतना ये काम है एक मेहरबाँ का
> फ़ुग़ाँ ही क्या और क्या वो नाला सुने हो जिसको न सुनने वाला
> हुआ करे लाख बोलबाला 'जलाल' के नाल ओ-फ़ुग़ाँ का

मुंशी अमीरुल्ला 'तसलीम'—रामपुर के दरबार के चौथे प्रतिष्ठित कवि 'तसलीम' थे। 'तसलीम' के पिता मौलवी अब्दुस्समद पहले दरियाबाद के समीप बंदूसराय में रहते थे, किन्तु फिर फ़ैज़ाबाद में आकर रहे। इसके कुछ दिनों बाद वे लखनऊ आ गये और मुहम्मदअली शाह के ज़माने में उनकी सेना में तीस रुपये मासिक पर नौकर हो गये। 'तसलीम' का जन्म १८२० ई० में फ़ैज़ाबाद ज़िले के मगलसी नामक गाँव में हुआ था। उन्होंने अरबी और फ़ारसी पहले अपने पिता और फिर मौलवी शहाबुद्दीन और मौलवी सलामतुल्ला से पढ़ी। उन्होंने खुशनवीसी भी सीखी। पहले वे भी अपने पिता की भाँति

फ़ौज में नौकर हुए। कुछ समय के बाद वाजिद अली शाह के ज़माने में वह पल्टन तोड़ दी गयी, जिसमें वे नौकर थे। अब उनकी जीविका का सहारा छूट गया। कुछ दिनों बाद उन्होंने एक आवेदन-पत्र पद्य में लिखकर और अपने हाथ के मुलेख में लिखकर मकनूबुद्दौला मिर्ज़ा मेहदी अली खाँ की मध्यस्थता से नवाब के दरबार में पेश किया। वाजिद अली शाह जो स्वयं कवि थे, इस आवेदनपत्र से प्रभावित हुए और उन्होंने 'तसलीम' को तीन रुपया मासिक वेतन पर अपने दरबार के कवियों में सम्मिलित कर लिया।

'तसलीम' को अपने जीवन में कभी चैन नहीं मिला। १८५६ ई० में अवध की नवाबी जब्त होने के बाद 'तसलीम' रामपुर चले गये। वहाँ उन्होंने युवराज कल्बे अली खाँ के सामने एक क़सीदा भी पेश किया। किन्तु इसका फल कुछ न निकला, उन्हें वहाँ नौकरी नहीं मिली। वे गदर समाप्त होने पर लखनऊ लौट आये। यहाँ उन्होंने मुंशी नवलकिशोर के प्रेस में तीन रुपये महीने पर प्रूफ पढ़ने की नौकरी कर ली। इसके साथ ही नवाब मुहम्मद तक़ी खाँ के यहाँ से भी उन्हें दस रुपया महीना मिला करता था। १८६५ ई० में जब कल्बे अली खाँ रामपुर के नवाब हुए तो उन्होंने 'तसलीम' को रामपुर बुला लिया और तीस रुपये महीने पर नाज़िर बना दिया। वे नज़ारत से पेशकारी पर पहुँचे और उसके बाद स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर हो गये और उनका वेतन भी पचास रुपया मासिक हो गया। १८८६ ई० में नवाब कल्बे अली खाँ के मरने पर 'तसलीम' पहले टोंक के नवाब के यहाँ और फिर मगरोल के नवाब के दरबार में पहुँचे। वे मगरोल में कुछ वर्षों तक रहने के बाद फिर रामपुर लौट आये, क्योंकि नवाब हामिद अली खाँ ने उन्हें बुला लिया था। अब वे बहुत बूढ़े हो गये थे। नवाब ने उनकी पेंशन चालीस रुपया मासिक नियत कर दी, जो उन्हें अन्त समय तक मिलती रही। १९११ ई० में उनका देहावसान हो गया।

'तसलीम' पुराने ज़माने के सीधे-सादे सन्तोषी प्रवृत्ति के बुज़ुर्गों में से थे। उन्हें सारी आयु घोर आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा। रुपया तो अधिक उन्हें कभी मिला ही नहीं, छोटी-मोटी नौकरियों का भी ठिकाना न रहा, आज लगी तो कल छूटी। बुढ़ापे में भी दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। लेकिन चित्त में इतना सन्तोष था कि कभी किसी के प्रति कटुता नहीं रखी और मिज़ाज में

कभी चिड़चिड़ापन नही आने दिया, बावजूद इसके कि कभी-कभी आर्थिक कठिनाइयों से भूखे रहने की भी नौबत आ जाती थी। 'तसलीम' के अपने समकालीनों और प्रतिद्वंद्वी कवियो से उनके सम्बन्ध बड़े मधुर रहे। 'दाग' के शिष्य 'नूर' नारवी ने इस सिलसिले में बडी मार्मिक कहानी बतायी है। अंत समय में 'तसलीम' को आँखो से नही सुझाई देता था। 'दाग' उस समय मर चुके थे। 'तसलीम' ने 'नूह' नारवी से कहा कि 'तुम मेरा हाथ अपनी आँखों से छुआ दो, ताकि मैं अपनी उँगलियाँ चूम लूँ, क्योंकि तुम्हारी आँखों ने 'दाग' को अंत तक देखा है!'

'तसलीम' कविता मे मोमिन शैली के स्तम्भो मे से थे। वे 'मोमिन' के प्रमुख शिष्य 'नसीम' देहलवी के शागिर्द थे। लखनवी होते हुए भी उनकी कविता मे लखनवीपन छू तक नही गया था। उनके यहाँ 'मोमिन' की अनुभूति, तीव्रता, प्रभावोत्पादन और कल्पना की मनोहर उड़ान देखने को मिलती है यद्यपि यह भी सही है कि अधिक लिखने के कारण उनमें 'मोमिन' जैसा जोर नही पाया जाता। 'तसलीम' की ख्याति गजलो के अतिरिक्त मसनवी के क्षेत्र मे भी है। दरअस्ल वे उन्नीसवी शताब्दी के अंत के मसनवी-लेखको में सबसे आगे बढ़े हुए साबित होते हैं। उनकी मसनवियों में सरलता, ओज, प्रवाह और प्रभाव सब कुछ है। दरअस्ल 'मोमिन' की शैली मसनवी के लिए अत्यन्त उचित शैली भी थी। मसनवी मे उन्होंने गजलों से कही अधिक कविता की है।

'तसलीम' का नाम जितना उनकी कविता ने ऊँचा किया है, उससे अधिक उनके शागिर्दों ने ऊँचा किया है। हजरत 'जिगर' मुरादाबादी उन्ही के नियमित रूप मे शिष्य थे, यद्यपि उन्होने शीघ्र ही 'तसलीम' का रंग छोड़ दिया। 'असगर' गोंडवी ने भी कुछ गजलें उन्हे दिखायी थीं। किन्तु 'तसलीम' की परम्परा को आगे बढ़ानेवाले उनके प्रमुख शिष्य मौलाना 'हसरत मोहानी' और जमीरुद्दीन 'अर्श' गयावी थे, जिन्होंने 'मोमिन' शैली को बीसवी शताब्दी में भी बनाये रखा।

'तसलीम' की गजलों के तीन दीवान मिलते हैं—'नज्मे-अर्जुमन्द', 'दफ्तरे दिलअफरोज' और 'दफ्तरे-खयाल'। उनका पहला दीवान १८५७ ई० के विद्रोह में नष्ट हो गया और एक दीवान किसी शिष्य के पास रह गया है।

उनकी अन्य कविता-पुस्तकें अधिकतर मसनवियाँ हैं और उनकी सूची यह है—(१) 'नालए-तसलीम', (२) 'शामे-ग़रीबाँ', (३) सुब्हे-ख़न्दाँ, (४) दिलो-जान, (५) नग़मए-बुलबुल, (६) शौकते शाहजहानी, (७) गौहरे इन्तख़ाब, (८) तारीख़े-रामपुर। इनके अलावा उन्होंने नवाब की यूरोप यात्रा का वर्णन भी पच्चीस-तीस हजार शेरों में लिखा है। काव्य का नमूना यह है—

कुछ कह दो झूठ सच कि तवक़्क़ो बधी रहे
तोड़ो न आसरा दिले-उम्मीदवार का
'तसलीम' किस के वास्ते बैठे हो, घर चलो
क्या एतबार वादए-बे-एतबार का

वाअ़ज़ ख़ुदा-शनास न होगा तमाम उम्र
अब तक पड़ा हुआ है हरामो-हलाल में

सय्यद रियाज़ अहमद 'रियाज़' खैराबादी—उर्दू में शराब के विषय में लगभग प्रत्येक कवि ने लिखा है, किन्तु जैसा 'रियाज़' ने लिखा है, वैसा किसी और से नहीं बन पड़ा है। वे १८५३ ई० में खैराबाद, जिला सीतापुर में पैदा हुए थे। उनके पिता सय्यद तुफ़ैल अहमद पुलिस के अफसर थे और रियाज़ ने भी शुरू में पुलिस में ही नौकरी की, किन्तु कुछ ही दिनों में त्यागपत्र दे दिया। १८७२ ई० में गोरखपुर से, जहाँ उनके पिता नौकर थे 'रियाज़ुल-अख़बार' और बाद में 'तारबर्की' नामक दैनिक निकालने लगे। १८७९ ई० में साहित्यिक पत्रिका 'गुलकदए-रियाज़' भी निकालने लगे। उन्हें कई बार रामपुर से बुलाया आया, हैदराबाद से महाराजा किशन परशाद 'शाद' ने भी बुलाया, किन्तु वे नहीं गये। अन्त में महाराजा महमूदाबाद के आग्रह पर १९०८ ई० में लखनऊ आ गये और लगभग अन्त समय तक वहीं रहे। २० जुलाई १९३४ ई० को उनका देहावसान हो गया और खैराबाद में दफ़्न किये गये।

'रियाज़' 'अमीर' मीनाई के शागिर्द थे। वे अपने उस्ताद को बहुत मानते थे, बल्कि उनकी भक्ति करते थे। उस्ताद के परिवार वालों से भी आत्मीयता के सम्बन्ध रखते थे। फिर भी उनकी कविता में लखनवी की बजाय 'दाग़' का रंग और ज़्यादा शोख़ होकर उभरा है। उन्होंने सबसे अधिक मद्यपान सम्बन्धी कविता की, किन्तु तारीफ़ यह थी कि एक बूँद शराब नहीं पी। बड़े

: ११ :

सामाजिक चेतना और नयी कविता

'हाली' और 'आज़ाद' ने उर्दू कविता में जिस सामाजिक चेतना की दाग-बेल डाली थी, उस पर तुरन्त ही उनके बाद आने वालों ने ऐसी राहें तय्यार कर दीं, जिन पर होकर उर्दू कविता बहुत आगे बढ़ गयी। उर्दू कविता साधारणतः अन्तर्मुखी है। बुनियादी तौर पर उसमें सामाजिक चेतना के तत्त्व कम मिलते हैं। 'मीर', 'ग़ालिब' आदि ने अपने कुछ शेरों में ज़माने के दुख-दर्दों का प्रतिबिम्ब दिखाया ज़रूर है, किन्तु वह परोक्ष रूप में ही है। 'ज़फ़र' की कारुणिक ग़ज़लों, वाजिद अली शाह की 'हुज़्ने-अख़्तर' नामक मसनवी तथा 'मुनीर' शिकोहाबादी के बंदी जीवन आदि के कारुणिक बहिर्मुखी चित्रणों आदि में हमें ज़माने की हालत का साफ़ पता चलता है, किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि उन कवियों ने सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों को भी केवल अपने निजी दुख-दर्द की कसौटी पर परखा। उनमें सामाजिक चेतना का अभाव मिलता है। 'ज़फ़र' की ग़ज़लों में ज़रूर ज़माने का दुख-दर्द उभर कर आया है, किन्तु उनका भी कोई सामाजिक दृष्टिकोण साफ़ नहीं है। 'ज़फ़र' इसी बात को रोते हैं कि बेगुनाहों को फाँसी पर लटकाया जा रहा है। क्यों लटकाया जा रहा है, इस पर उनकी काव्य-चेतना माथा-पच्ची नहीं करना चाहती। फिर 'ज़फ़र' के यहाँ भी ऐसी ग़ज़लें, जिनमें अपने समय के जन-साधारण की कठिनाइयों का उल्लेख है, एक आध ही हैं और उनके बारे में भी संदेह है कि उनकी हैं या नहीं।

इसके विपरीत सर सय्यद के नेतृत्व में गद्य में और 'हाली' के नेतृत्व में पद्य में सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। यह ठीक है कि उनका दृष्टिकोण राजनीतिक नहीं, बल्कि समाज-सुधारक का था और उसमें केवल परिवर्तन की कामना की गयी थी, किन्तु फिर भी इन लोगों का स्पष्ट सामाजिक दृष्टिकोण था। जिस प्रकार का समाज वे पैदा करना चाहते थे, उसका स्पष्ट चित्र उनके मन

शास्त्र में उन्हें विशेष दिलचस्पी थी। वे बड़े धर्मनिष्ठ सज्जन थे और सूफ़ी दर्शन में विशेष रुचि रखते थे।

अकबर हुसैन की शिक्षा नियमित रूप से कोई विशेष नहीं रही। आठ-नौ वर्ष की अवस्था तक घर पर ही पढ़ते रहे फिर उनकी माँ शिक्षा के ख्याल से उन्हें इलाहाबाद ले आयीं। कुछ दिनों मौलवियों से पढ़कर उन्होंने १८५६ ई० में जमुना मिशन स्कूल में दाखिला ले लिया। दो-तीन ही साल की पढ़ाई से जी ऊब गया और उन्होंने १८५९ ई० में स्कूल छोड़ दिया। अब वे नौकरी की तलाश में घूमने लगे। पहले यमुना के पुल के निर्माण में पत्थरों की नाप-जोख का काम किया, फिर इलाहाबाद रेलवे स्टेशन में माल-गोदाम पर बीस रुपया मासिक पर नौकर हुए, लेकिन जल्दी ही इस नौकरी से भी जी ऊब गया। अब उन्होंने सोचा कि कचेहरी में नौकरी की जाय। चुनांचे कलक्टर को अर्ज़ी दी और अपनी निराली सूझ-बूझ के कारण नक़लनवीस की जगह प्राप्त कर ली, लेकिन उनकी बेचैन तबीयत को यहाँ भी सहारा न मिला और उन्होंने दो वर्ष बाद इसे भी छोड़ दिया। 'अकबर' की बुद्धि बड़ी प्रखर थी और लगन गज़ब की। नौकरी छोड़ने के बाद उन्होंने सोचा कि मुख्तारी का इम्तहान दिया जाय। उन्होंने यह परीक्षा १८६७ ई० में प्रथम श्रेणी में पास की। कलक्टर ने उनकी तारीफ़ सुनकर उन्हें १८६९ ई० में नायब तहसीलदार बनाकर बाहर भेज दिया। लेकिन 'अकबर' इस छोटे-से कस्बे में जीवन बिताने के लिए पैदा नहीं हुए थे। उन्होंने एक वर्ष तक किसी तरह काटा और फिर उस नौकरी से भी इस्तीफ़ा दे दिया।

इसके बाद १८७० ई० में वे इलाहाबाद हाईकोर्ट में मिसिल-ख्वाँ हो गये। यहाँ उन्हें कानूनी वातावरण मिला और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को सहारा मिला। १८७२ ई० में उन्होंने हाईकोर्ट की वकालत का इम्तहान दिया और सात वर्ष तक इलाहाबाद, गोंडा, गोरखपुर और आगरे में वकालत की और इस पेशे में अच्छी उन्नति कर ली।

१८८० ई० में सरकार ने इन्हें मुंसिफी के लिए चुन लिया। मुंसिफी में भी 'अकबर' ने योग्यता का सबूत दिया और धीरे-धीरे उन्नति करते-करते जज खफ़ीफ़ा हो गये। कई साल तक उन्होंने स्थानापन्न डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन जज के

के पटल पर अंकित था। यह भी मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्
हमें मुख्यतः पश्चिम के ही द्वारा मिली है, इसके पहले 'वतन'
शहर या गाँव और उसके आस-पास का इलाका समझा जाता
में तो पिछले दशक तक 'मुल्की' और 'गैर-मुल्की' में खींचातानी
और यह स्थान-प्रेम (Local patriotism) भी सामाजिक
अंग नहीं था, मुख्य अंग तो धार्मिक समाज था। ऐसी दशा में
के सुधारवादी और राजभक्त देश-प्रेम का महत्त्व बहुत अधिक

किन्तु बहुत शीघ्र ही यह नयी चेतना आगे बढ़कर शास
लेने को उद्यत हो गयी। १८५७ ई० के विद्रोह के तीस वर्ष
कांग्रेस की स्थापना हो गयी, यद्यपि उसका आधार सरकार
करके ही राजनीतिक उन्नति करने का था। फिर भी कुछ ही
कर्जन की नीति के फलस्वरूप राष्ट्रीय चेतना ने शासन-सत्ता
कर दिया। राष्ट्रीय चेतना के पहले युग का उर्दू साहित्य में प्र
सय्यद और उनके साथियों तथा 'हाली', 'आजाद', दुर्गा सहाय
कविताओं में मिलता है, किन्तु राजनीतिक विरोध के युग का प्र
उसके तुरन्त ही बाद 'अकबर' इलाहाबादी, चकबस्त लख
'इकबाल' की कविताओं में मिल जाता है। नये सामाजिक औ
परिवर्तनों ने भारत के चिन्तनशील मस्तिष्क पर अलग-अलग
डाला और उसकी अलग-अलग प्रतिक्रिया हुई। उर्दू के इन ती
की कविताओं में हमें प्रतिक्रिया का यह वैभिन्न्य पूरी तरह दि
इसका विस्तृत विश्लेषण आगे किया जायेगा।

सय्यद अकबर हुसेन 'अकबर' इलाहाबादी—सारे उत्तर भारत
को गुदगुदाकर हँसानेवाला और हँसा-हँसाकर रुलानेवाला
शायर १६ नवम्बर १८४६ ई० को इलाहाबाद जिले के बारा
पैदा हुआ। इनका घराना पुराने ढंग का मध्य वर्ग का था।
बारा में तहसीलदार थे। उनका नाम सय्यद वारिस अली थ
नाम सय्यद तफ़ज़्ज़ुल हुसेन था। वे अपने ज़माने के बड़े विद्वान्

शास्त्र में उन्हें विशेष दिलचस्पी थी। वे बड़े धर्मनिष्ठ सज्जन थे और सूफी दर्शन में विशेष रुचि रखते थे।

अकबर हुसेन की शिक्षा नियमित रूप से कोई विशेष नहीं रही। आठ-नौ वर्ष की अवस्था तक घर पर ही पढ़ते रहे फिर उनकी माँ शिक्षा के ख्याल से उन्हें इलाहाबाद ले आयीं। कुछ दिनों मौलवियों से पढ़कर उन्होंने १८५६ ई० में जमुना मिशन स्कूल में दाखिला ले लिया। दो-तीन ही साल की पढ़ाई से जी ऊब गया और उन्होंने १८५९ ई० में स्कूल छोड़ दिया। अब वे नौकरी की तलाश में घूमने लगे। पहले यमुना के पुल के निर्माण में पत्थरों की नाप-जोख का काम किया, फिर इलाहाबाद रेलवे स्टेशन में मालगोदाम पर बीस रुपया मासिक पर नौकर हुए, लेकिन जल्दी ही इस नौकरी से भी जी ऊब गया। अब उन्होंने सोचा कि कचेहरी में नौकरी की जाय। चुनांचे कलक्टर को अर्जी दी और अपनी निजी सूझ-बूझ के कारण नकलनवीस की जगह प्राप्त कर ली, लेकिन उनकी बेचैन तबीयत को यहाँ भी सहारा न मिला और उन्होंने दो वर्ष बाद इसे भी छोड़ दिया। 'अकबर' की बुद्धि बड़ी प्रखर थी और लगन गजब की। नौकरी छोड़ने के बाद उन्होंने सोचा कि मुख्तारी का इम्तहान दिया जाय। उन्होंने यह परीक्षा १८६७ ई० में प्रथम श्रेणी में पास की। कलक्टर ने उनकी तारीफ़ सुनकर उन्हें १८६९ ई० में नायब तहसीलदार बनाकर बारा भेज दिया। लेकिन 'अकबर' इस छोटे-से कस्बे में जीवन बिताने के लिए पैदा नहीं हुए थे। उन्होंने एक वर्ष तक किसी तरह काटा और फिर उस नौकरी से भी इस्तीफ़ा दे दिया।

इसके बाद १८७० ई० में वे इलाहाबाद हाईकोर्ट में मिसिल-ख्वाँ हो गये। यहाँ उन्हें कानूनी वातावरण मिला और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को सहारा मिला। १८७२ ई० में उन्होंने हाईकोर्ट की वकालत का इम्तहान दिया और सात वर्ष तक इलाहाबाद, गोंडा, गोरखपुर और आगरे में वकालत की और इस पेशे में अच्छी उन्नति कर ली।

१८८० ई० में सरकार ने इन्हें मुंसिफी के लिए चुन लिया। मुंसिफी में भी 'अकबर' ने योग्यता का सबूत दिया और धीरे-धीरे उन्नति करते-करते जज ख़फ़ीफ़ा हो गये। कई साल तक उन्होंने स्थानापन्न डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशंस जज के

अकबर [illegible] के साथ में विनोद और [illegible]
का [illegible] जीवन में भी उनका मन खासा आनंदी उम्र तक रहा। साथ ही
[illegible] भी उनमें बहुत बड़ा गुण था। इन दोनों गुणों के सम्मिश्रण
के कारण जहाँ एक ओर उनके परिहास में तेजी आयी, वहीं दूसरी ओर
विरोध प्रदर्शन के लिए उन्हें व्यंग्य का सहारा न लेना पड़ा। उनकी विनोद-
प्रियता की कई घटनाएँ काफी मशहूर हैं, जिनमें से दो घटनाएँ दी जा रही हैं।

एक बार वे अपने पुत्र इशरत हुसैन के यहाँ, जब वे डिप्टी कलेक्टर थे, पहुँचे। उनकी बैठक में स्थानीय बड़े लोगों का जमाव था। यह बेचारे सीधे-सादे मेर-वानी पहने एक ओर जा बैठे। किसी ने उपस्थित लोगों का ध्यान भी इस ओर दिलाया कि प्रख्यात कवि 'अकबर' इलाहाबादी यही हैं। फिर भी आम तौर पर लोगों ने इनकी ओर कोई ध्यान न दिया। अन्त में किसी ने फुसफुसा कर कहा कि यह डिप्टी साहेब के पिता हैं। अब चारों ओर से इनपर सम्मान की

वर्षा होने लगी। यह जी में जल गये, लेकिन मामूली तौर से बात करते रहे। कुछ देर में बोले, "म्याँ और भी कुछ सुना? सुना है कि लन्दन में अल्लाह मियाँ आये थे।" सब लोग हैरत से देखने लगे तो उन्होंने बात पूरी की, "बेचारे तरफ कहते फिरे कि मैं खुदा हूँ, लेकिन किसी ने उन्हें अपने यहाँ घुसने न दिया। आखिर जब उन्होंने कहा कि मैं ईसामसीह का बाप हूँ तो लोग चारों तरफ से दौड़े और उन्हें हाथों हाथ लिया।" सुनने वालों की गर्दन शर्म से नीची हो गयी।

जब 'अकबर' तेरह वर्ष के थे और कचेहरी की नौकरी के लिए कोशिश कर रहे थे, तो इनकी कम उम्र को देखकर कलेक्टर साहब को इनकी सूरत याद रही। हाजिरी के दिन इन्हें देखा और मुस्कुराकर कहा, "इस बच्चे ने एक जरा-सा पर्चा लिखकर दिया था, वह कहीं खो गया।" 'अकबर' लौटकर बाजार से कई तख्ते कागज लाये और उन्हें जोड़जाड़कर इतना बड़ा बना लिया, जितना दीवारों पर टाँगने वाला बड़ा-नक्शा होता है। उसपर निहायत मोटे-मोटे अक्षरों में अर्जी लिखी और कलक्टर साहब की मेज पर उसे फैला दिया। अर्जी मेज़पोश की तरह मेज पर बिछ गयी। कलक्टर ने गुस्से में पूछा, "यह क्या है?" तो बोले, "हुजूर अर्जी है। अबकी जरा बड़ी लिखकर लाया हूँ ताकि खो न जाये।" कलक्टर साहब हँस पड़े और सय्यद अकबर हुसैन को नकल-नवीसी की जगह मिल गयी।

यह किस्सा तो मशहूर ही है जब एक प्रेजुएट साहब उनसे मिलने गये और विज़िटिंग कार्ड पर अपने नाम के आगे हाथ से बी० ए० लिख दिया और घर में भिजवाया। 'अकबर' ने उसी कार्ड के पीछे यह शेर लिखकर कार्ड वापस कर दिया—

शेख जी घर से न निकले और यह फरमा दिया
आप बी० ए० पास हैं बन्दा भी बीबी पास है

विनोदप्रियता के साथ ही उनकी बुद्धि भी बड़ी कुशाग्र थी। अपनी कम शिक्षा के बावजूद केवल स्वाध्याय के बलपर तरक्की पर तरक्की करते जाना खुद इस बात की दलील है कि उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। इस सिलसिले में उनके आरम्भिक जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है। नकलनवीसी छोड़ने

के बाद वे मुख्तारी का इम्तहान देने के चक्कर में अपने एक रिश्तेदार सिराजुद्दीन हैदर के पास गये। वे सज्जन वकील थे। 'अकबर' ने उनसे कहा कि आप अपनी दो पुस्तकें 'ताज़ीराते-हिन्द' और 'कानूने-शहादत' शाम को दे दिया कीजिए, हर सुबह मैं वापस कर दिया करूँगा। हैदर साहब इनकी अल्प शिक्षा को जानते थे, हँसकर पूछा, "क्या करोगे ?" इन्होंने कहा कि देखूँगा क्या लिखा है। हैदर साहब ने कहा, "यह खब्त छोड़ो। यह कानून की ज़बान है, बहुत पेचीदा होती है। इसे न समझ सकोगे।" लेकिन 'अकबर' पीछे पड़ गये तो दोनो पुस्तकें दे दी। दूसरे दिन 'अकबर' ने उन्हे वापस किया तो हैदर साहब बोले, "कुछ समझ मे आया ?" 'अकबर' ने कहा, "अभी दोनो के पचास-पचास सफ़हे ही पढ़े हैं, वे तो खूब समझ में आ गये। आप चाहें तो पूछ लीजिए।" हैदर साहब ने किताब खोली और एक दफा पूछी। 'अकबर' ने व्याख्या सहित उस दफ़ा को बता दिया। हैदर साहब स्तभित रह गये। फिर उन्होंने उनकी काफ़ी मदद भी की। कानून के विद्यार्थी यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि एक ही रात में—वह भी पहले पहल ही—कानून की किताबों के सौ पृष्ठ समझ लेने के लिए कितनी ज़बर्दस्त प्रतिभा अपेक्षित है।

'अकबर' उर्दू कविता की अन्तर्मुखी परम्परा को काफी हदतक छोड़नेवाले लगभग पहले शायर हैं। उनके यहाँ हमें सामाजिक परिवर्तनो और उनके प्रभाव के प्रति पूरी तरह से जागरूकता दिखाई देती है। उन्हे साधारणत राष्ट्रवादी कवि कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश राज्यकाल में होनेवाले परिवर्तनो का काफी विरोध किया और उनका डटकर मजाक उडाया। कभी-कभी वे अँगरेज़ो तथा उनके द्वारा लाये गये राजनीतिक सुधारो पर भी हमला करने लगते हैं। फिर भी उन्हें आज के संदर्भ में राष्ट्रवादी कहना उचित नहीं है। वास्तव में वे आज के राजनीतिक मूल्यो के आधारभूत रूप से विरोधी थे। आज की भारतीय राजनीतिक चेतना के मुख्य आधार पाँच दिखाई देते हैं—(१) प्रजातन्त्र, (२) आर्थिक समृद्धि, (३) धर्म-निरपेक्षता, (४) विश्व-बंधुत्व, तथा (५) सास्कृतिक प्रगति। 'अकबर' ने हमेशा निर्वाचन का मज़ाक उड़ाया, आर्थिक समृद्धि के प्रति उदासीन रहे, बल्कि आर्थिक समृद्धि का त्याग करके भी पुराने धार्मिक और सामाजिक मूल्यों को कायम रखने पर ज़ोर दिया।

धर्म के प्रति उदासीन होने का वे सपना भी नहीं देख सकते थे। वे चाहते थे कि हिन्दू अपने धर्म पर और मुसलमान अपने धर्म पर दृढ़ता से जमे रहें और धर्म-निरपेक्षता का मनोवैज्ञानिक आधार धर्म के प्रति थोड़ी-बहुत, कम से कम सामाजिक क्षेत्र में उदासीनता ही होता है, विश्व-बन्धुत्व की एक तो उनके सामने कोई समस्या ही नहीं थी, किन्तु उनकी पश्चिमी सभ्यता के प्रति जितनी तीव्र घृणा थी, उसमें विश्व-बन्धुत्व का मार्ग तो बिल्कुल प्रशस्त नहीं हो सकता था। वे पूर्व और पश्चिम के एक होने की कभी कल्पना ही नहीं कर सकते थे, यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दुओं के प्रति जो उदारता दिखाई, ईसाइयों के प्रति बिल्कुल नहीं दिखायी, जहाँ तक सांस्कृतिक उत्थान और प्रगति का प्रश्न है, 'अकबर' का रूढ़िवादी दृष्टिकोण इतना साफ है कि किसी से छुपा नहीं है। उनकी पर्दे की हिमायत, अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध, विज्ञान का विरोध आदि उनके शेरों से फूट-फूटकर निकलता दिखाई देता है और उनके पुरातनवाद का स्पष्ट प्रमाण है।

दरअस्ल 'अकबर' घोर पुरातनवादी के अतिरिक्त और कुछ न थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमानों की एक मिली-जुली संस्कृति—जिसका आधार दोनों की धार्मिक दृढ़ता के साथ ही सामाजिक जीवन में सहिष्णुता भी था—विकसित हो गयी थी। अंग्रेज़ी प्रभाव से यह सभ्यता टूटने लगी और पश्चिमी मूल्यों के साथ ही साथ राजनीतिक कारणों से फूट भी पड़ने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रगतिशील राजनीतिज्ञों ने अंग्रेज़ों की इस नीति का विरोध किया और 'अकबर' ने भी साम्प्रदायिक ऐक्य का नारा दिया, किन्तु 'अकबर' का उद्देश्य उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक मूल्यों की पुनर्स्थापना भर था। उनके साम्प्रदायिक ऐक्य के पुरातनवाद का पता इसी से चलता है कि उसमें ईसाइयों के लिए कोई स्थान नहीं है, जबकि बीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीय चेतना 'हिन्दू बौद्ध सिख जैन पारसिक मुसल्मान क्रिस्तानी' को एक सूत्र में पिरोना चाहती थी। इसका कारण भी यही था कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेज़ और ईसाई दोनों को एक नज़र से देखा जाता था।

फिर भी 'अकबर' की सामाजिक चेतना का अत्यन्त उत्कृष्ट पक्ष यह है कि उनका मानव प्रेम उनके एक-एक शेर से फूटा पड़ता सा दिखता है। उन्हें किसी विशेष वर्ग की नहीं, सभी लोगों की चिन्ता थी। अत्यंत स्पष्टवाद,

निर्धनता, बे-रोजगारी, दुर्भिक्ष आदि के दृश्य देखकर उनका हृदय रो पड़ता था। यही मानव-प्रेम का स्थायी मूल्य—जिसका आधार उनके सूफी मन पर विश्वास के साथ उनकी सामाजिक चेतना में निहित है—'अकबर' को उनके सारे पुरातन-वाद के बावजूद उन्हें लोकप्रिय बनाये रखेगा।

'अकबर' के काव्य का असली आकर्षण उनकी सामाजिक चेतना के आधार पर नहीं, बल्कि उसके कलापक्ष की सबलता के आधार पर समझा जा सकता है। 'अकबर' मुख्यतः व्यंग्य और विनोद के कवि हैं और हँसी-मजाक को उन्होंने इतना ऊँचा रूप दे दिया है कि वह अत्यन्त गंभीर चीज बन गया है। पहले ही कहा जा चुका है कि 'अकबर' का दृष्टिकोण पुनरुत्थान-वादी था। अपने जमाने के सारे पुनरुत्थान-वादियों की भाँति 'अकबर' भी सामाजिक चेतना की दृष्टि से कुण्ठाग्रस्त थे। किन्तु अपने निज के विनोदी स्वभाव तथा उससे भी अधिक अपने मानव-प्रेम के कारण उनकी कुण्ठा ने व्यंग्य का रूप ले लिया, जिससे उनके कोपभाजनों को डाँट-फटकार की बजाय मीठी चुटकियाँ ही मिलीं। 'अकबर' अपने विश्वासों की पृष्ठभूमि में दो ही बातें कर सकते थे—एक तो यह कि वे अपने युग के नवचेतना-वादियों को पुराने मौलवियों और मुल्लाओं की तरह काफ़िर कहकर गालियाँ दें, या फिर उनका मज़ाक उड़ायें। जनतन्त्र में विश्वास न होने और सशस्त्र विद्रोह की असफलता देखने के कारण पुरातनवादी केवल अपनी कुण्ठा का प्रदर्शन कर सकते थे। कुण्ठा के प्रदर्शन में 'अकबर' देख चुके थे कि गाली-गलौज का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि पुरातनवादी मौलवियों की गाली-गलौज को सर सय्यद अपनी दृढ़ता से परास्त कर चुके थे। चुनाचे 'अकबर' ने व्यंग्य का, बल्कि कटुताहीन व्यंग्य का सहारा लिया। यद्यपि इस अस्त्र से भी वे अपने सामाजिक उद्देश्य में पूरी तरह सफल न हो सके, तथापि उन्होंने सर्वसाधारण के मन में अपने लिए स्थायी रूप से स्थान बना लिया।

इसमें संदेह नहीं कि 'अकबर' ने व्यंग्य को जैसा कलात्मक रूप दिया है, वह उनके किसी पूर्ववर्ती में तो दिखाई ही नहीं देता, उनके बाद वालों ने भी हज़ार कोशिश करने पर भी उनकी सफ़ाई पाने में सफलता नहीं पायी। उनके कुछ शेर तो बिलकुल हँसी-मजाक के हैं, जिनमें कोई बात नहीं कही गयी है, किन्तु जो

शेर परिहास में निकल कर व्यंग्य के क्षेत्र में आ जाते हैं, वे भी इस अंदाज से कहे गये हैं कि जिस व्यक्ति पर व्यंग्य किया गया है, वह भी हँस पड़े। उनकी व्यंग्य की शैली की दो-तीन विशेषताएँ हैं। कभी तो धड़ाधड़ अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से परिहास और व्यंग्य की सृष्टि कर देते हैं, कभी नयी-नयी उपमाओं और रूपकों के द्वारा—बल्कि अधिकतर इसी माध्यम से व्यंग्य की सृष्टि करते हैं, जैसे लिबरल नेताओं के लिए 'बुद्धू', इस्लामी सभ्यता के लिए ऊँट, सजर और सारबानी तथा हिन्दू सभ्यता के लिए गाय, खिचड़ी, पूरी आदि का प्रयोग। कभी भोलेपन के आवरण में छुपी हुई शोखी आदि से श्रोताओं को लहालोट कर देते हैं। साधारणतः उनके मज़ाक (एक आध अपवाद को छोड़कर) अश्लीलता और बाज़ारूपन से बचे हुए हैं और पूरी शोखी के बावजूद भद्र समाज में कहे जा सकते हैं।

अपने सामाजिक पुरातनवाद के बावजूद साहित्य-सृजन के क्षेत्र में वे नवीनतावादी भी थे। उन्होंने दिल्ली दरबार, पानी की रवानी आदि कई नज़्में बिल्कुल नयी शैली में लिखी हैं, बल्कि एक कीड़े के मसले जाने पर जो दार्शनिक नज़्म लिखी है, वह तो सारी परम्पराओं को तोड़कर अन्त्यानुप्रासहीन लिखी है। कभी-कभी 'अकबर' जब व्यंग्य की शैली छोड़कर दार्शनिक रूप में सामने आते हैं, तो बड़े मार्के की बातें कहते हैं और थोड़े से ही शेरों में उनका सूफ़ियाना दृष्टिकोण इतना उभर कर सामने आता है और इतने नये ढंग से आता है कि देखते ही बनता है। काव्य की नयी अभिव्यक्तियों में 'अकबर' की ऐतिहासिक देन है।

'अकबर' ने ग़ज़लें भी लिखी हैं और काफ़ी लिखी हैं। कुछ लोग उनकी ग़ज़लों को भी प्रथम श्रेणी की बताते हैं, किन्तु ग़ज़लगो की हैसियत से 'अकबर' द्वितीय श्रेणी से आगे नहीं बढ़ते और अपने पूर्ववर्तियों 'दाग़' 'अमीर' आदि और बाद के ग़ज़लगोयों 'असग़र', 'जिगर', 'फ़ानी', 'यगाना' आदि के बीच में बिल्कुल दब जाते हैं।

कविता का आरम्भ 'अकबर' ने 'वहीद' की शागिर्दी से किया। 'वहीद' ख्वाजा 'आतिश' के शिष्य थे और उन्हीं के रंग में चुटीले शेर कहने के अभ्यस्त थे। 'अकबर' की प्रारम्भिक रचनाएँ भी इसी रंग में कही गयी हैं। उन्होंने

स्वयं कविता में कोई शिष्य नहीं बनाया। उनके तीन संग्रह मिलते हैं। पहले में १९०८ तक की रचनाएँ हैं, दूसरे में १९१२ ई० तक की रचनाएँ हैं और तीसरे में, जिसे इशरत साहब ने सम्पादित किया है, अंतिम काल की रचनाएँ हैं। इनके अलावा एक छोटा-सा संग्रह हाल में ही पाकिस्तान से प्रकाशित किया गया है। कुछ स्फुट कविताएँ पुरानी पत्र-पत्रिकाओं से मिलती हैं, जिन्हें किसी संग्रह में स्थान नहीं मिला है। 'अकबर' की रचनाओं का नमूना निम्न-लिखित है—

जो मिल गया वो खाना दाता का नाम जपना
इसके सिवा बताऊँ क्या तुम से काम अपना
ऐ बरहमन हमारा तेरा है एक आलम
हम ख्वाब देखते हैं तू देखता है सपना
बे-इश्क के जवानी कटनी नहीं मुनासिब
क्यों कर कहूँ कि अच्छा है जेठ का न तपना

बे-पर्दा नजर आयीं जो कल चन्द बीबियाँ
'अकबर' जमीं में ग़ैरतें-क़ौमी से गड़ गया
पूछा जो उनसे आपका पर्दा वो क्या हुआ
कहने लगीं कि अक़्ल पे मर्दों की पड़ गया

हम क्या करें अहबाब क्या कारे-नुमायाँ कर गये
बी० ए० हुए, नौकर हुए, पेंशन मिली, फिर मर गये

दर पर मजलूम एक पड़ा रोता है
बेचारा बला में मुब्तला रोता है
कहता है वो शोख ताल-सम ठीक नहीं
क्या इसकी सुनूँ कि बेसुरा रोता है

डारविन साहब हक़ीक़त से निहायत दूर थे
मैं न मानूँगा कि मूरिस आपके लंगूर थे

कहता हूँ मैं हिन्दू-मुसलमाँ से यही
अपनी अपनी रविश पे तुम नेक रहो
लाठी है हवाए दहर, पानी बन जाओ
मौजों की तरह लड़ो मगर एक रहो

ज़ेहन में जो घिर गया लाइन्तहा क्योंकर हुआ
जो समझ में आ गया फिर वह खुदा क्योंकर हुआ

जो हमी जिन्दगी इस बात पर कामिल नहीं आता
इसे जीना नहीं आता जिसे मरना नहीं आता

पण्डित ब्रज नरायन चकबस्त—इन सामाजिक परिवर्तनों की पुरातनवादी प्रतिक्रिया का रूप हम अकबर की कविता में देख पाते। किन्तु इन की जागरूक और प्रगतिशील—अपने ज़माने के लिहाज से प्रगतिशील—चेतना पर नये परिवर्तनों की जो प्रतिक्रिया हुई है, वह चकबस्त के काव्य में स्पष्ट दिखाई देती है।

पण्डित ब्रज नरायन चकबस्त एक कश्मीरी ब्राह्मण खानदान में पैदा हुए थे। उनके वंश में लिखने-पढ़ने का शौक शुरू से ही रहा था। उनके बुज़ुर्ग खास लखनऊ के रहने वाले थे, किन्तु कुछ दिनों के लिए उनके पिता पं० उदित नरायन चकबस्त फैज़ाबाद चले गये थे। वहीं १८८२ ई० में पण्डित ब्रज नरायन चकबस्त का जन्म हुआ।

पण्डित ब्रज नरायन ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा परम्परानुसार अपने घर पर ली और साथ ही अंग्रेज़ी स्कूल में भी दाखिल हो गये। उन्होंने १९०५ ई० में केनिंग कालेज लखनऊ से बी०ए० पास किया और वहीं से वकालत पास करके १९०८ ई० में वकालत करने लगे। चूँकि मेहनती, समझदार और लगन के पक्के थे, इसलिए शीघ्र ही वकालत में चमकने लगे और कुछ ही वर्षों में उनकी गणना लखनऊ के बड़े वकीलों में होने लगी।

शायरी का शौक उन्हें बचपन से ही था। कहा जाता है कि उन्होंने पहली ग़ज़ल उस समय कही, जब उनकी अवस्था केवल नौ वर्ष की थी।

उन्होंने उर्दू कविता की परम्परा के अनुसार कोई उस्ताद नहीं बनाया। यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उस्ताद बनाकर वे शायद शुरू से ही अपना अलहदा रंग न पैदा कर पाते। उस्ताद की कमी को उन्होंने उर्दू के प्रमुख कवियों—'मीर', 'आतिश', 'गालिब', 'अनीस', 'दबीर' आदि—की रचनाओं का गहरा अध्ययन करके पूरी की। किन्तु मालूम होता है कि उन्हें उस्ताद न करने के कारण साहित्य-संसार में पदार्पण करने में कुछ कठिनाई हुई होगी। उनकी कविताओं के प्रथम पाठ के उदाहरण उनकी जातीय सभाओं में ही मिलते हैं और वह भी रचना प्रारंभ के काफी बाद। उनका बार-बार यह कहना कि मैं कवि नहीं हूँ, केवल शिष्टता समझी जाती है, वस्तुत इसकी तह में थोड़ा भ्रम भी दिखाई देता है,क्योंकि सारी शिष्टता के बावजूद उन्होंने अपनी विशेष शैली का सगर्व उल्लेख करने में कभी समझौता नहीं किया।

चकबस्त कविता के अतिरिक्त आलोचना के क्षेत्र में भी शुरू से ही धाक जमा बैठे थे। १९०५ ई० में, जब उनकी अवस्था केवल तेईस वर्ष की थी, तत्कालीन प्रख्यात आलोचक मौलाना अब्दुलहलीम 'शरर' ने प० दयाशंकर 'नसीम' की मसनवी 'गुल्जारे-नसीम' पर कुछ काव्य-कला सम्बन्धी आपत्तियाँ उठायी थी। चकबस्त ने उनका विद्वत्तापूर्ण उत्तर देना शुरू किया। तत्कालीन उर्दू जगत में 'शरर' और चकबस्त की कलमी लड़ाई बहुत दिलचस्पी की चीज बन गयी। यह वाद-विवाद बाद मे 'मारकए-शरर-ओ-चकबस्त' के नाम से छप भी गया है। प्रख्यात कवि और आलोचक मौलाना 'हसरत' मोहानी ने इस वाद-विवाद के बारे मे अपने पत्र 'उर्दू-ए-मुअल्ला' मे लिखा कि चकबस्त की दलीलें सुनने के बाद मालूम होने लगा है कि मौलाना 'शरर' ने मसनवी 'गुल्जारे-नसीम' पर जो आपत्तियाँ उठायी थी, वे गलत थी। यह सिर्फ एक आलोचक की राय नही है। उर्दू जगत ने चकबस्त के ही पक्ष में निर्णय दिया और मसनवी 'गुल्जारे-नसीम' पर इसके बाद किसी ने कोई आपत्ति नहीं उठायी। इस वाद-विवाद के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक विषयों पर भी चकबस्त बराबर कुछ न कुछ लिखा करते थे। 'कश्मीर-दरपन', 'मख़ज़ने-नजर', 'अदीब', 'ज़माना' आदि पत्रिकाओं में उनके विद्वत्तापूर्ण लेख बराबर निकलते रहते थे। चकबस्त के ये लेख पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हो गये हैं।

उनकी मृत्यु अचानक ही हुई। १२ फरवरी १९२६ ई० को वे एक मुकदमे की पैरवी करने राय बरेली गये। तीसरे पहर उन्होंने बहस की और ६ बजे शाम को लखनऊ आने के लिए रेलगाडी पर बैठे। अचानक ही उनके मस्तिष्क पर पक्षाघात हुआ और उनकी जबान बन्द हो गयी। उन्हें प्लेटफार्म पर उतार लिया गया। यथासंभव उपचार की व्यवस्था की गयी, किन्तु दो घंटे बाद प्लेटफार्म पर ही उनकी मृत्यु हो गयी। ग्यारह बजे रात को मोटर पर उनका शव लखनऊ लाया गया। सारे लखनऊ बल्कि सारे उर्दू जगत में इस समाचार से शोक छा गया। कई शायरों ने तारीखें और मरसिये लिखे।

यह स्पष्ट है कि चकबस्त की परम्परा में उनके बाद बहुत-से लोगों ने देश-प्रेम से परिपूर्ण कविताएँ लिखी हैं, परन्तु वे चकबस्त की बनायी हुई राह पर न चल सके। 'इकबाल' की ही भाँति चकबस्त साहित्य-गगन के जाज्वल्यमान नक्षत्र बनकर चमके, अपने प्रकाश की कुछ किरणें भी छोड़ गये, किन्तु उनका स्थान किसी और नक्षत्र ने नहीं लिया। 'इकबाल' की ही भाँति चकबस्त ने भी अपना कोई 'स्कूल' न छोड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में हमें 'नज़ीर' अकबराबादी के रूप में ऐसा एक और उदाहरण मिलता है, जब कि कोई उस्ताद अपनी जगह काफी मशहूर होकर भी कोई अपना निज का 'स्कूल' कायम नहीं करता।

इस बात का कारण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता कि 'इक-बाल' और चकबस्त दोनों ने साहित्य के नये तकाजों के अनुसार अपनी अनुभूतियों का रुख वैयक्तिक क्षेत्र से हटाकर सामाजिक क्षेत्र की ओर मोड़ दिया था। यहाँ किसी तरह की गलतफहमी न होनी चाहिए। वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं के बीच कोई हदबन्दी नहीं हो सकती और न इन दोनों कवियों में लेखकों और कवियों का बँटवारा हो सकता है। कहने का मतलब यह है कि इन दोनों महाकवियों ने मनुष्य की वैयक्तिक समस्याओं का समाधान मुख्यत: सामाजिक रूप से करने का प्रयत्न किया। सूफीवाद की भाँति वे कभी सामाजिक जीवन को तटस्थ रूप से न देख सके। और चूँकि उनकी अनुभूतियों का आधार मुख्यत: सामाजिक था और समाज गतिशील होता है, अतएव उनके साहित्यिक व्यक्तित्व में तत्कालीन सामाजिक रूपरेखा का पूरा प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। समाजशास्त्री जानते हैं कि सामाजिक

परिवर्तनों का रूप नदी के बहाव की भांति समगति नहीं होता, बल्कि मेंढक की कुदान की भांति होता है। कभी तो समाज स्थिर-सा मालूम होता है (यद्यपि वास्तव में उसका प्रत्येक अंग प्रगति की तय्यारी में लगा होता है) और कभी अचानक परिवर्तन दिखाई देते हैं। सामाजिक प्रगति की उन्हीं दोनों स्थितियों को विकास (Evolution) तथा क्रांति (Revolution) कहते हैं। क्रान्ति के लिए न तो हिंसात्मक होना आवश्यक है और न क्षणिक। वह तो झटके के साथ परिवर्तन होने का नाम है। इस दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और बीसवीं का पूर्वार्ध भारतीय समाज के लिए क्रान्तिकारी काल कहा जा सकता है। सामाजिक क्रांति-काल में समस्याएँ और उनके समाधान के तौर-तरीके क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में समय का थोड़ा-सा ही अन्तर होने पर दृष्टिकोणों में आमूल परिवर्तन हो जाता है। चूंकि 'इकबाल' और चकबस्त दोनों ही समाजोन्मुख साहित्यकार थे, इसलिए उन पर अपने समय की सामाजिक अनुभूतियों का प्रभाव पड़ा और कुछ ही वर्षों बाद परिस्थितियाँ इतनी बदल गयीं कि बाद के प्रतिभावान साहित्यकार इन दोनों से प्रेरणा के अतिरिक्त और कुछ ग्रहण न कर सके। इसीलिए इन दोनों ने अपने कोई 'स्कूल' न छोड़े और न अब यही मुमकिन है कि बाद का कोई साहित्यकार उनकी जगह ले ले या उनके क्षेत्र में उनसे आगे बढ़ जाय। उनका क्षेत्र भी उनके साथ खत्म हो गया।

सबसे पहले तो हमें चकबस्त की काव्य-चेतना के विकास पर एक सरसरी नजर डालनी है। चकबस्त ने जब होश सँभाला, उस समय से अंत समय तक वे लखनऊ में ही रहे। उन्होंने बचपन से ही काव्य-रचना प्रारंभ कर दी थी। पहले ही कहा जा चुका है कि उनकी पहली गजल नौ वर्ष की अवस्था में कही गयी थी। लखनऊ का निवास और कश्मीरी ब्राह्मणों का खानदानी विद्या-प्रेम। स्पष्ट है कि ऐसे में चकबस्त शुरू से ही लखनवी रंग में पूरी तरह रँग जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते थे। उनका साहित्य-प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि १९०५ ई० में ही उन्होंने जिस योग्यता से साहित्यिक विवाद में भाग लिया, उसे देखकर तत्कालीन विद्वान् उनका लोहा मान गये। हाँ, चूँकि वे जन्मजात कवि थे, इसलिए 'नासिख' स्कूल की बेजान और कोरे शब्द-

[illegible] आरम्भिक कविता में वे प्रभावित न हो सके। किन्तु [illegible] के ही [illegible] 'आतिश' की शैली से वे बहुत प्रभावित हुए। [illegible] उन्होंने [illegible] में अपनी अलग राह नहीं बनायी, [illegible] उनकी [illegible] [illegible] 'आतिश' का असर साफ दिखाई देता है। 'आतिश' [illegible] की [illegible] [illegible] और शब्दों के उचित चयन और प्रयोग के [illegible] थे। चकबस्त भी आरम्भ में इन्हीं बातों पर ध्यान दिया। इसके साथ ही उन्होंने [illegible] में [illegible] 'मीर' से और दार्शनिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] लिये। चुनाँचे उनके प्रारम्भिक [illegible] में इन तीनों [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, जो बाद में [illegible] होकर [illegible] नये ही रंग में सामने आयीं।

इन उस्तादों के अलावा वे मर्सियों के उस्ताद 'अनीस' से बहुत प्रभावित [illegible]। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि कुल मिलाकर चकबस्त की कविता 'अनीस' की ही मानवतावादी परम्परा का विकास थी। 'अनीस' एक ओर तो अपनी टकसाली भाषा, मुहावरों के प्रयोग, वर्णन की पूर्णता, शब्दों के उचित चयन और कविता में प्रवाह पैदा करने में अद्वितीय थे, दूसरी ओर यौन-प्रेम को छोड़कर लगभग सभी उत्कृष्ट मानवीय भावनाओं—त्याग, शौर्य, पवित्रता, करुणा—को उभारने में कमाल रखते थे। उत्कृष्ट मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति की इसी परम्परा ने आगे चलकर चकबस्त की रचनाओं में देश-प्रेम का रूप धारण कर लिया।

इसे भी चकबस्त की स्वातन्त्र्य-प्रियता ही कहा जायगा कि उन्होंने प्रचलित रीति के अनुसार किसी को कविता में अपना गुरु नहीं बनाया, बल्कि हर जगह से जो चीज अच्छी मिली, उसे उन्होंने बेतकल्लुफ़ी से ले लिया। उनकी इस आत्म-शिक्षा ने उनके भावुक हृदय, सत्य के प्रति उनकी निष्ठा और उनके विचारशील मस्तिष्क के साथ मिलकर उनके लिए काव्य-जगत् में एक अलग, किन्तु ऊँचा स्थान बना दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि चकबस्त ने अपनी पूरी काव्यप्रतिभा को जिस प्रकार देश-प्रेम के लिए उत्सर्ग कर दिया, उस तरह किसी और ने नहीं किया। यदि चकबस्त की कविता में से राष्ट्रीयता के तत्त्व निकाल दिये जायें, तो फिर और कुछ विशेष नहीं बचता। उनके संग्रह का एक बड़ा भाग राष्ट्रीय भावना जागृत

उनका सहानुभूति का स्रोत फूट बहता है। अपने नौजवान दोस्तों की मौत पर उन्होंने जो मरसिये लिखे हैं, उनमें उनके बिलखते हुए आत्मीय जनों की दशा का ऐसा मर्मान्तिक वर्णन है, जो 'अनीस' के मरसियों की याद दिला देता है।

आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि चकबस्त पर पुरानी परम्परा और नये विचार दोनों का ही असर था, किन्तु उन्होंने इन दोनों का 'हसरत' मोहानी की तरह विचित्र सम्मिश्रण नहीं किया, बल्कि हृदय और मस्तिष्क की पूरी शक्तियों से काम लेकर एक सुंदर स्वाभाविक समन्वय स्थापित कर दिया। उनकी नज्मों में 'अनीस' के मरसियों की स्पष्ट छाप मिलती है, किन्तु गजलों में उन्होंने अपना निराला ही मार्ग अपनाया। 'आतिश' की चुस्त बन्दिश के साथ उन्होंने 'गालिब' की दार्शनिक जिज्ञासा का पुट देकर गजलों में नयी ही शान निखारी। गजल के परम्परागत विषय—वैयक्तिक प्रेम—से शायद वे बहुत ऊब गये थे। गजल का पुनरुत्थान भी अधिकतर उनके बाद ही हुआ, इसलिए वैयक्तिक प्रेम को शालीनतापूर्ण ढंग से व्यक्त होते उन्होंने नहीं देखा। फिर भी यह स्पष्ट है कि उनकी तर्क बुद्धि ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा। इसलिए वे गजलों में वह मस्ती तो पैदा नहीं कर सके, जो उनके बाद वाले कवियों ने की, किन्तु उनकी विशिष्ट दार्शनिकता ने उनकी गजलों को 'इकबाल' की गजलों की भाँति परम्परा-विरोधी भी नहीं होने दिया। अपनी विचारशक्ति को अपनी काव्यप्रतिभा के साथ मिलाकर उन्होंने कुछ शेर ऐसे भी लिख दिये, जिन्हें आनेवाली पीढ़ियाँ कभी नहीं भूल सकतीं। उनके जो शेर यादगार बन गये हैं, वे यद्यपि कहीं-कहीं शुष्क उपदेश के समीप जा पहुँचे हैं, तथापि गजल की विशेषताएँ—नर्मी, करुणा, व्यापकता, थोड़े में ज्यादा कहने की क्षमता आदि—पूरी तरह उनमें कायम हैं। इसलिए उनके पढ़ने से मस्तिष्क पर बोझ नहीं पड़ता, कल्पना शक्ति को बहुत ज्यादा ऊँचे उड़ाना नहीं पड़ता और रसानुभूति पूरी हो जाती है। उनकी रचनाएँ नये ढंग की हैं, किन्तु नये प्रयोगों की कोटि में नहीं आतीं।

ऊपर की पंक्तियों में चकबस्त की दार्शनिकता की बात कही गयी है। इससे यह भ्रम पैदा हो सकता है कि शायद उन्होंने किन्हीं गंभीर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया हो। वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है।

'गालिब' की दार्शनिक जिज्ञासा जिस समय उड़ानें लेती थी, उस समय बग़ैर किसी प्रचलित सिद्धान्त का सहारा लिये हुए अपने ही बल पर ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाने लगती थी और अंतिम सत्य की गुत्थियाँ खोलने का प्रयत्न करती थी। 'मीर' की दार्शनिकता सूफ़ीमत पर सदा आधृत थी। चकबस्त न तो 'ग़ालिब' की भाँति आजाद उड़ानें लेते थे, न किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त के पोषक थे। उनकी प्रवृत्ति समाजोन्मुख थी और उनकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने नज़्मों का क्षेत्र चुना था। सार्वजनिक और सामाजिक प्रश्नों से अलग होकर जब वे कभी-कभी ग़ज़ल में जीवन-दर्शन की बातें करने लगते थे, तो ऐसा मालूम होता था, जैसे युद्ध-नीति सोचते-सोचते थककर कोई सेनापति नदी किनारे घूमने निकल जाय और पानी की लहरों को देखने लगे। इसीलिए यद्यपि चकबस्त के दार्शनिक शेर कोई ऐसा स्पष्ट नपा-तुला जीवन-दर्शन नहीं देते, जो हमारी आत्मा को शान्ति और संतोष दे सके या जिसे हम उनके बताये बग़ैर समझने में असमर्थ हों, तथापि उनकी सीधी-सादी, किन्तु हृदय से निकली हुई बातें सुननेवालों के मन पर ऐसा प्रभाव डाल देती हैं कि उन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

संक्षेप में चकबस्त ने अपने मानव-प्रेम, समाज-प्रेम और जीवन के प्रति ईमानदारी के साथ अपने हृदय की कोमलतम अनुभूतियों का योग देकर साहित्य के इतिहास में सदैव के लिए अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। यदि उनकी असमय मृत्यु न हो जाती तो उर्दू का भंडार कितना भर जाता, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है।

अपने अल्प जीवन में भी चकबस्त को वकालत के व्यस्ततापूर्ण जीवन ने कुछ अधिक न लिखने दिया। उनकी पद्य-रचनाओं का केवल एक संग्रह है, जो 'सुब्हे-वतन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। चकबस्त की रचनाओं के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

> शैदाए - बोस्ताँ को सर्वो - समन मुबारक
> रंगीं तबीयतों को रंगे - सुख़न मुबारक
> बुलबुल को गुल मुबारक गुल को चमन मुबारक
> हम बेकसों को अपना प्यारा वतन मुबारक

गुंचे हमारे दिल के इस बाग़ में खिलेंगे
इस ख़ाक से उठे हैं इस ख़ाक में मिलेंगे

क्या कहें किससे कहें हम आज क्या कहने को हैं
आख़िरी अफ़सानए-सोज़े-वफ़ा कहने को हैं
जिन उमीदों की लड़कपन में हुई थी इब्तिदा
आज उनकी इन्तिहा का माजरा कहने को हैं
बेख़बर अब भी नहीं हम क़ौम के दुख दर्द से
पहले हिम्मत थी दवा की अब दुआ कहने को हैं
क्या कहें क्या दौरे-आख़िर में सितम देखा किये
बरहमी बढ़ती गयी महफ़िल की हम देखा किये

जहाँ में आँख जो खोला फ़ना को भूल गये
कुछ इब्तिदा में हो, हम इन्तिहा को भूल गये
निफ़ाक़ गब्रो-मुसल्माँ का यूँ मिटा आख़िर
ये बुत को भूल गये वह ख़ुदा को भूल गये
ये इनक़लाब हुआ आलमे-असीरी में
क़फ़स में रह के हम अपनी सदा को भूल गये

दर्दे-दिल, पासे-वफ़ा, जज़्बए-ईमाँ होना
आदमीयत है यही और यही इंसाँ होना
ज़िन्दगी क्या है? अनासिर में ज़हूरे-तरतीब
मौत क्या है? इन्हीं अजज़ा का परीशाँ होना

आशना हो कान क्या इंसान की फ़रियाद से
शेख़ को फ़ुरसत नहीं मिलती ख़ुदा की याद से

डा० सर मुहम्मद इक़बाल 'इक़बाल'—डा० 'इक़बाल' को बीसवीं शताब्दी का महत्तम उर्दू कवि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। वे १८७५ ई० में पंजाब के स्यालकोट नगर में, जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में है, पैदा हुए। उनके

१९०५ ई० में इकबाल के यूरोप जाने के समय तक 'मखज़न' के प्रत्येक अंक में उनकी नज़्में निकलती रहीं। उस ज़माने में इकबाल की नज़्मों की प्रसिद्धि इस कारण भी हुई कि वे उस समय की प्रचलित रीति से तहतुल-लफ़्ज़ (साधारण तौर से पढ़कर) नहीं, बल्कि तरन्नुम (स्वर और लय) के साथ अपनी नज़्में सुनाते थे। उनकी आवाज़ ऊँची और सुरीली थी और उनके कविता-पाठ को सुनने के लिए साहित्य-मर्मज्ञ ही नहीं, जन-साधारण भी आया करते थे। लाहौर की अंजुमने-हिमायते-इस्लाम के सालाना जल्सों में इकबाल की नज़्म सुनने के लिए हज़ारों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। उनके पास नज़्मों के लिए इतनी जगहों से आग्रह होने लगे कि उन्हें पूरा करना असम्भव हो गया।

एम० ए० करने के बाद इकबाल गवर्नमेंट कालेज में ही लेक्चरर हो गये। १९०५ ई० में दर्शन शास्त्र की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे इंग्लैण्ड चले गये और केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी में दो वर्ष तक उन्होंने डा० मेकटेगर्ट के पथ-प्रदर्शन में पूर्वीय और पश्चिमी दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन किया और नैतिक शास्त्र में डिग्री ली। उनके अध्ययन में प्रो० ब्राउन, प्रो० निकलसन और प्रो० सार्ली से तथा उनके पुराने गुरु मि० ऑर्नाल्ड से बड़ी सहायता मिली। डिग्री पाने के बाद जर्मनी गये और 'ईरानी दर्शन-शास्त्र' पर थीसिस पेश करके म्यूनिख यूनीवर्सिटी से डाक्टरेट की डिग्री ली। १९०८ ई० में वे भारत आकर लाहौर कालेज में लेक्चरर हो गये।

इंग्लैण्ड के आवास काल में दर्शन शास्त्र के उच्च अध्ययन के कारण एक बार इकबाल को कविता से विरक्ति भी हो गयी थी और उन्होंने फ़ैसला किया था कि इस 'बेकार' काम को छोड़ कर मानवता की सेवा के लिए कोई ठोस काम किया जाए। किन्तु उनके पुराने गुरु मि० ऑर्नाल्ड ने उन्हें समझाया कि तुम कविता के ही द्वारा मानवता की सेवा कर सकते हो। इकबाल ने उनके परामर्श को मान लिया और मि० ऑर्नाल्ड के उचित परामर्श से उर्दू का एक दार्शनिक पैदा हो गया। अंग्रेज प्रोफ़ेसरों ने इकबाल की प्रभावशाली ख्याति में चार चाँद लगा दिया। प्रो० निकल्सन ने उनकी मसनवी 'रमूज़े-बेखुदी' का अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उसे संसार के सामने पेश किया। यद्यपि इकबाल का अपना कहना—ईरानियन उक्त मसनवी का एक-एक शब्द—यूरो-

पीय सम्यता, जनतन्त्र, राष्ट्रीयता आदि के विरोध में है। अँगरेज़ साहित्यिकों और बुद्धिजीवियों का शुद्ध साहित्य-प्रेम सचमुच सराहनीय है।

डा० इकबाल ने इग्लैण्ड के आवास काल में ही बैरिस्टरी भी पास कर ली थी। लाहौर आकर वे लेक्चररशिप के साथ ही बैरिस्टरी भी करने लगे थे। इकबाल के विचार यूरोप में बिलकुल बदल गये थे, वे देश-भक्त की बजाय पैन इस्लामिस्ट (विश्व इस्लामवादी) हो गये थे। १९११ ई० में इटली ने ट्रिपोली को विजय कर लिया। बल्कान के ईसाई राज्य भी तुर्की के साम्राज्य से विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गये थे। इकबाल के इस्लामी विश्वाधिपत्य के स्वप्नों पर इससे ऐसी प्रतिक्रिया हो गयी कि उनकी कविता के स्वर अत्यन्त प्रखर और आक्रामक हो गये। उन्होंने इसी समय अपनी प्रख्यात नज़्म शिकवा लिखी, जिसमें खुदा को उलाहना दिया गया कि वह मुसलमानों का भाग्य सितारा ऊँचा क्यों नहीं करता। अपने 'फिरंगी', विरोध के कारण उनका कालेज में रहना मुश्किल हो गया और वे सिर्फ़ बैरिस्टरी करने लगे।

१९१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ होने पर उन्होंने शक्ति-प्रयोग का ठोस रूप देखा और उससे प्रभावित हुए। इसके बाद उन्होंने अपनी मसनवियाँ 'असरारे-खुदी' और 'रमूज़े-बेखुदी' लिखी, जिनमें शक्ति-संचय और प्रयोग की प्रशंसा की गयी थी। उन्होंने अपने संदेश को समस्त इस्लामी देशों में प्रचलित करने के विचार से फ़ारसी में कविता करना शुरू किया। इस में वे सफल नहीं हुए। ईरानियों ने उन्हें विशेष मान्यता नहीं दी और शेष मुस्लिम राष्ट्रों की भाषा फारसी नहीं, बल्कि अरबी थी। हाँ, अंग्रेजी के द्वारा वे यूरोप में अवश्य ख्याति प्राप्त कर सके, जो शायद उनका उद्देश्य नहीं था।

इक़बाल समाजोन्मुख कवि थे और कोई समाजोन्मुख व्यक्ति राजनीति से विमुख नहीं होता। किन्तु उनके निराले विचारों ने उन्हें सक्रिय राजनीति में नहीं आने दिया। १९२६ ई० में वे कौंसिल आफ स्टेट के सदस्य चुने गये और १९३० ई० में मुस्लिम लीग के सदस्य हुए। फिर कुछ स्वास्थ्य के कारण और कुछ विचार-वैषम्य से उन्होंने राजनीति छोड़ ही दी।

जीवन के अंतिम चार वर्षों में वे बहुत अस्वस्थ रहे। १९३४ ई० में उनकी आवाज बैठ गयी, जिससे उनकी प्रैक्टिस छूट गयी। इसके बाद

समय तक भोपाल राज्य से पाँच सौ रुपया मासिक पेंशन मिलती रही। वे गुर्दे के रोगी भी थे। १९३५ ई० में उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। इससे उनके हृदय पर गहरा धक्का लगा और उन्होंने अपनी भी वसीयत लिख दी। १९३७ ई० में उनकी आँखों में मोतियाबिन्द हो गया और साथ ही साँस फूलने की बीमारी हो गयी। वे सारी बीमारियों से धैर्यपूर्वक लड़ते रहे। २१ अप्रैल १९३८ ई० को उनका देहान्त हो गया।

इक़बाल का रहन-सहन भी उनकी कविता की भाँति महान् था। वे कभी धनार्जन के पीछे नहीं पड़े, किन्तु उन्हें कभी धनाभाव न रहा। वे हमेशा अच्छा खाते और पहनते रहे और अपने सामारिक कर्तव्य बग़ैर किसी कठिनाई के करते रहे। उनके जीवन में और भी कोई कमी नहीं रही। सामाजिक जीवन में भी उन्हें अपने मित्रों, सम्बन्धियों, सहधर्मियों और साहित्यिकों से सदैव प्रशंसा और सम्मान ही मिला।

इक़बाल ऐसे भाग्यशाली कवि हैं, जिन्हें राष्ट्रीयतावादियों, साम्यवादियों और सम्प्रदायवादियों, तीनों ने अपने-अपने पक्ष में खींचा है। उनकी कविताओं में प्रत्यक्ष विरोधाभास दिखाई देता है, तभी तो परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ भी उनसे प्रेरणा के तत्त्व पाती रही हैं। किन्तु ऊपरी दृष्टि से ही ऐसा मालूम होता है। वास्तव में उनकी अपनी निश्चित विचारधारा थी—कम से कम १९०८ ई० के बाद की रचनाओं में एक ही विचारधारा है। यह ज़रूर है कि उस विचारधारा को किसी प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। फिर उनकी कविता के तीन युग—१८९९ ई० से १९०५ ई० तक, १९०५ से १९०८ तक और १९०८ के बाद—स्पष्ट रूप से अलग-अलग हैं।

आरंभ काल में इक़बाल एक भावुक कवि के रूप में दिखाई देते हैं। उनकी बिलकुल आरंभ की ग़ज़लों पर—जो उनके संग्रह में नहीं आयी हैं—'दाग़' की कोमलता, सरसता, सरलता और शोख़ी का रंग साफ़-साफ़ दिखाई देता है। इसके बाद उन्होंने 'हाली' और 'आज़ाद' की नवीन स्वाभाविकतावादी शैली का अनुसरण किया। इस रंग में उनकी प्रकृति चित्रण और देशभक्ति सम्बन्धी नज़्में केवल उसी ज़माने में नहीं मशहूर हुईं, बल्कि बाद में भी

रही। इस भावुकता तथा सौन्दर्य-बोध के साथ ही इकबाल में दार्शनिक उत्कण्ठा आरभ से ही पायी जाती है। उन्होंने भारतीय दर्शन का भी कुछ अध्ययन किया था और उन्हें भारतीय वेदान्त ने प्रभावित भी किया था (यद्यपि बाद में उनके विचारों में आमूल परिवर्तन हो गया)। इसके साथ ही इकबाल की प्रथम युग की कविताओं में मानवीय भावनाओं का हृदयग्राही वर्णन मिलता है। उन्होंने इस जमाने में अत्यन्त कोमल और वात्सल्य रस से परिपूर्ण नज़्में लिखी। इसी युग में उन्होंने प्रचलित रुचि के अनुसार कुछ अंग्रेजी कविताओं का उर्दू मे अत्यन्त सफल पद्यमय अनुवाद किया। इकबाल की कोमल कल्पना केवल वात्सल्य तक ही सीमित न थी, पिंजड़े में बन्द पक्षी भी उन्हें कविता करने के लिए प्रेरित कर देते थे। उनकी करुणा बड़ी विस्तृत थी और वे अपने देश की दुर्दशा और जीवन की व्यथा से पूरे तौर पर द्रवित थे। देश-भक्त के रूप में इकबाल उस समय जो मशहूर हुए, तो बाद में राष्ट्रीयता-विरोधी होने पर भी उनकी देश-भक्ति से परिपूर्ण नज़्में 'हिंदोस्तां हमारा', 'नया शिवाला' आदि अमर रही, जिनमें राष्ट्रीयता को धर्म से आगे बताया गया है। वे यद्यपि इस्लाम की महत्ता को पूरी तरह समझते थे, तथापि भारतीय दर्शन भी उन्हे प्रभावित किये थे और उन्होंने 'आफ़ताब' आदि नज़्मों में वेद की सूर्योपासना को प्रतिबिम्बित कर दिया है। उस जमाने की ग़ज़लो में भी सूफीवाद की स्पष्ट छाप दिखाई देती है, यद्यपि उनका लहजा पुरानी परम्परा से बिलकुल अलग है। शिल्प की दृष्टि से इकबाल की कविता आरंभ में अपेक्षाकृत अनगढ है, किन्तु अपनी तीव्र अनुभूति, ईमानदारी और व्यापक दृष्टिकोण के साथ और कठमुल्लापन के अभाव में इकबाल का प्रारंभिक काव्य शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ऊँची कोटि का है और सरसरी तौर पर उड़ा देने की चीज़ नहीं है।

इकबाल की कविता का दूसरा युग उनका यूरोप का आवासकाल है। इस जमाने में उन्होंने कुल पच्चीस ग़ज़लें और नज़्में लिखी। एकबार उन्होंने कविता से हाथ ही खींच लिया था। इन कविताओं में एक तो यह दिख देता है कि दार्शनिकता ने कवित्व को दबा-सा दिया है, यहाँ तक कि शा[illegible] कविताओं में भी रस-भग की सीमा तक दार्शनिकता आ जाती है। यह दी

वे 'खुदी' (अहं) के आधार पर खुदा से बराबरी की हैसियत से बात करना चाहते थे। फिर भी वे इसकी छूट नहीं देते कि हर आदमी अपने व्यक्तिगत रूप में इस लक्ष्य की पूर्ति करे। उनकी सामाजिक गति का आधार एक महामानव था, जो सारे संसार को अपनी अदम्य शक्ति से उसके लक्ष्य की पूर्ति की ओर ले जाता है। यह मार्ग स्पष्टतः इस्लाम की शुद्ध व्याख्या है और इकबाल भी इस्लाम के भारत या ईरान में प्रचलित रूप में नहीं, बल्कि उसके शुद्ध, आक्रामक और व्यापक रूप में विश्वास करते हैं और सातवीं शताब्दी की इस्लामी दिग्विजयों को बड़े गर्व के साथ याद करते हैं।

फिर भी उन्हें साम्प्रदायिकता के सीमित घेरे में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनकी एक विश्वव्यापी दृष्टि है और व्यापक दर्शन। इस्लाम को वे संसार का नेतृत्व करने वाली शक्ति मानते हैं, किन्तु ध्यान उन्हें मुसलमानों का ही नहीं, सभी लोगों का रहता है। उन्होंने रामचन्द्र और गुरु नानक की जो प्रशंसा की है, वह साम्प्रदायिकता की द्योतक नहीं। उन्हें किसी धर्म से विरोध नहीं है, हाँ, धर्म-निरपेक्ष राजनीति से उन्हें चिढ़ ज़रूर है। धर्मों में भी उन्होंने ईसाइयत की यह कमज़ोरी ज़रूर दिखायी है कि उसमें संसार छोड़ने की जो बात कही गयी है, इसी कारण यूरोप में राजनीति धर्म से अलग हो गयी और छल-प्रपंच, लोभ और परपीडन में लिप्त हो गयी। धर्म-निरपेक्षता से उन्हें ऐसी चिढ़ है कि वे धर्म-निरपेक्ष मजदूर राज्य की भी भर्त्सना कर देते हैं। मार्क्सवाद के भौतिकवादी दृष्टिकोण के वे दुश्मन हैं।

राजनीति में इकबाल वंशभेद, प्रजातन्त्र, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के घोर शत्रु हैं। इकबाल को यूरोप के राज्यों में ये तीनों चीजें एक साथ मिलीं, इसलिए वे यूरोपीय लोगों से ही इतनी घृणा करने लगे कि उन्हें इस योग्य नहीं समझा कि उनमें इस्लाम का प्रचार किया जाय या पेरिस में मसजिद बनायी जाय। साथ ही उन्हें तत्कालीन राष्ट्रवादी और जनतन्त्रवादी मुस्लिम देशों से भी कोई आशा नहीं थी, बल्कि रेगिस्तानों और पहाड़ों में बसने वाले अफ़ग़ानों और बिलोचियों से उन्हें आशा थी। स्पष्टतः ही उनकी राजनीति काल्पनिक थी।

इकबाल निस्सन्देह पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद के विरोधी और पीड़ितों से सहानुभूति रखने वाले हैं, किन्तु वे साम्यवादी भी नहीं हैं। साम्यवाद अपने धर्मात्मिक रूप में इकबाल को जरूर प्रेरित करता है, किन्तु उसके भौतिकवाद, समृद्धिवादी-नियोजनवादी दृष्टिकोण आदि से उन्हें यदि चिढ़ नहीं है, तो वे उसका मजाक उड़ाने से भी नहीं चूकते। भारत का कोई दल उन्हें आकृष्ट न कर सका। उन्हें मुस्लिम लीग के प्रतिक्रियावाद से, गांधी जी की अहिंसा से और साम्यवादियों की आर्थिक योजनाओं से चिढ़ थी। वे केवल शक्ति और वेग से आकृष्ट थे और यह चीज फासिज्म में ही देखने को मिलती है। इसीलिए साफ दिखाई देता है कि इकबाल ने जहाँ अन्य प्रचलित विचार-धाराओं और नेताओं की भर्त्सना की है या उनका मजाक उड़ाया है वहीं उन्होंने मुसोलिनी और नेपोलियन की प्रशस्ति भी की है। साम्राज्य-विरोधी होते हुए भी उन्होंने हिटलर के विरुद्ध कुछ नहीं कहा और मुसोलिनी के अबीसीनिया-अभियान के अवसर पर भी उन्होंने अबीसीनिया के साथ सहानुभूति प्रकट करने की बजाय उसे एक 'ज़हरनाक लाश' ही कह गया। फासिज्म से उनका विरोध उसके धर्म-निरपेक्षरूप से ही हो सकता था। यदि भारत में उनके ज़माने में कोई ऐसा राजनीतिक दल होता जो धर्म के आधार पर अधिनायकवाद की स्थापना की चेष्टा करता तो इकबाल जरूर उसका साथ देते।

इकबाल की काव्य-शैली उनके दर्शन के अनुरूप ही थी। उन्हें कोमलता या करुणा से सरोकार न था, केवल शक्ति-प्रदर्शन ही उनके यहाँ था। इसलिए उनके यहाँ हमें कोमल और नरम शब्दावली नहीं मिलती। इस मामले में भी वे अपने उस्ताद 'दाग' के ठीक विपरीत जा पड़े हैं। वे अरबी-फारसी के गरजते-गूँजते शब्दों का बहुतायत से प्रयोग करते हैं। उनका कविता-प्रवाह भी नदी के बहाव की तरह नहीं, बल्कि बुलडोज़र की तोड़-फोड़ की तरह होता है। उन्होंने ग़ज़लें भी कही हैं, किन्तु इसी शक्ति और ज़ोर के कारण वे ग़ज़लों की विषय और शैली की परम्परागत कोमलता भी छोड़ बैठे हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि इकबाल को अपने समय में और उसके बाद भी जो लोकप्रियता मिली, वह अनुचित थी। वे बड़े

के रूप में महान् है। उर्दू में जिस चीज की कमी थी—अर्थात् शक्ति अभिव्यंजना की—वह इक़बाल ने बग़ैर किसी साहित्यिक परम्परा का सहारा लिये हुए—बल्कि सारी परम्पराएँ तोड़ कर—पैदा कर दी और आगे आने वाली पीढ़ी के लिए राह खोल कर उर्दू काव्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान सदा के लिए बना लिया। इक़बाल का दर्शन और राजनीतिक विचार धारा चाहे अवास्तविक और कपोल-कल्पित हो, किन्तु निस्सन्देह उन्होंने उर्दू को ऐन ऐसे मौक़े पर तेज स्वर दे दिये, जब कि उर्दू संसार को ही नहीं, समस्त भारत को सामाजिक रूप से इसकी आवश्यकता थी। उन्हीं की शैली और उन्हीं की शब्दावली अपनाकर 'जोश' मलीहाबादी और अहसान दानिश जैसे प्रगतिशील कवियों ने युग-चेतना को मुखर किया। कलाकार के रूप में जीवन का गतिशील पहलू सामने लाने में इक़बाल को अद्वितीय सफलता मिली है।

इक़बाल की समस्त रचनाओं की सूची इस प्रकार है—(१) इल्मुल इक्तसाद (उर्दू में अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक), (२) फ़लसफ़ए-ईरान (म्यूनिख यूनीवर्सिटी द्वारा मान्य शोध), (३) बांगे-दरा (प्रथम उर्दू काव्य-संग्रह), (४) मसनवी असरारे-खुदी और रमूज़े-बेखुदी (फ़ारसी), (५) पयामे-मशरिक (फारसी काव्य-संग्रह), (६) जावेदनामा (फारसी काव्य), (७) पस चे बायद कर्द ए अक़वामे-शर्क (फ़ारसी काव्य), (८) ज़बूरे-अजम (फारसी), (९) जर्बे-कलीम (उर्दू काव्य-संग्रह), (१०) बाले-जिब्रील (उर्दू काव्य-संग्रह), (११) अरमुगाने-हिजाज (उर्दू तथा फारसी काव्य-संग्रह), (१२) खुतबाते-इक़बाल (उनके भाषणों का संग्रह) और (१३) मकतूबाते-इक़बाल (उनके पत्रों का संग्रह)।

'इक़बाल' की कविता का नमूना नीचे दिया जा रहा है—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा
हम बुलबुले हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा
मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना
हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा

इस दौर में मै और है, जाम और है, जम और
साक़ी ने बिना की रविशे-लुत्फ़ो-सितम और
मुस्लिम ने भी तामीर किया अपना हरम और
तहज़ीब के आज़र ने तरशवाये सनम और
इन ताज़ा ख़ुदाओं में बड़ा सब से वतन है
जो पैरहन इसका है वो मज़हब का कफ़न है

अपनी मिल्लत पर क़यास अक़वामे-मग़रिब से न कर
ख़ास है तरकीब में क़ौमे रसूले-हाशिमी
उनकी जमईयत का है मुल्को-नसब पर इन्हिमार
—वते-मज़हब से मुस्तहकम है जमईयत तेरी
मने-दीं हाथ से छूटा तो जमईयत कहाँ
र जमईयत हुई रुख़सत तो मिल्लत भी गयी

ख़ुदी बलन्द थी उस ख़ूं गिरफ़्ता चीनी की
कहा ग़रीब ने जल्लाद से दमे-ताज़ीर
ठहर ठहर कि बहुत दिलकुशा है यह मंज़र
ज़रा मैं देख तो लूं ताबनाकिए-शमशीर

आज़ादी-ए-अफ़कार से है उनकी तबाही
रखते नहीं जो फ़िक्रो-तदब्बुर का सलीक़ा
हो फ़िक्र अगर ख़ाम तो आज़ादी-अफ़कार
इंसान को हैवान बनाने का तरीक़ा

ख़ुदी को कर बलन्द इतना कि हर तक़दीर से पहले
ख़ुदा बन्दे से ख़ुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है

अगर कजरौ हैं अंजुम आसमां तेरा है या मेरा
मुझे फ़िक्रे-जहाँ क्यों हो जहाँ तेरा है या मेरा

मन की दुनिया ? मन की दुनिया सोज़ो-मस्ती जज़्बो-शौक
तन की दुनिया ? तन की दुनिया सूदो-सौदा मक्रो-फ़न
पानी पानी कर गयी मुझको क़लन्दर की ये बात
तू झुका जब ग़ैर के आगे न तन तेरा न मन

'हाली', 'आज़ाद' और 'सुरूर' जहानाबादी ने उर्दू की काव्य-चेतना में एक मौलिक क्रान्ति ला दी। उन्होंने लगभग समस्त परम्परावादी साहित्यिक मूल्यों का खंडन कर दिया और उर्दू काव्य का प्रेरणा-स्रोत अंग्रेज़ी काव्य बनाना चाहा। उनके बाद 'अकबर' इलाहाबादी, 'इकबाल', 'चकबस्त' आदि ने केवल अपनी विचारशक्ति के बल पर उर्दू काव्य के सामने नयी संभावनाएँ खोलीं। इन तीनों की काव्य-प्रतिभा में किसे संदेह हो सकता है, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि इनकी देन भावना के क्षेत्र में उतनी न थी, जितनी बुद्धि के क्षेत्र में थी। इन तीनों की कविताओं में से यदि विचार के तत्त्व निकाल दिये जायँ, तो कोई उल्लेखनीय तत्त्व बाकी नहीं रह जायेंगे। इनके अलावा 'शाद' अज़ीमाबादी, 'आसी' गाज़ीपुरी, 'असगर' गोंडवी, 'फ़ानी' बदायूनी और 'जिगर' मुरादाबादी गजल के मैदान में बड़ी धूमधाम से उतरे और उन्होंने इस मरणोन्मुख काव्य-रूप को ऐसा सँभाला दिया कि गजल फिर उर्दू काव्य पर आच्छादित हो गयी। इन कवियों का क्षेत्र शुद्ध भावनात्मक था, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि इस भावना का आधार लौकिक प्रवृत्तियाँ और अनुभूतियाँ नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभूतियाँ थीं और एक विशेष स्तर पर गये बग़ैर इन महाकवियों की कविताओं का रसास्वादन संभव नहीं था।

लेकिन इस सबके बावजूद मानव की कलात्मक चेतना का एक कोना ऐसा था, जिसे उक्त महाकवि छूने में असमर्थ थे। वह क्षेत्र साधारणता और महत्ता का वह संधि-स्थल था, जहाँ पर सबसे ज़्यादा देर लोग टिकते हैं। साधारण लोगों का महान् विचारों से कुछ देर बाद जी ऊब जाता है, साधारण जीवन की साधारण अनुभूतियों के प्रकाशन से और भी जल्दी जी ऊब जाता है। ज़रूरत अक्सर इस बात की होती है कि हम अपनी राह चले जा रहे हैं और कोई हमारे कंधे पर हाथ रख कर धीरे से हमारा रुख मोड़कर एक क्षण के लिए हमें दूर का सौन्दर्य [illegible]

[illegible]

[illegible]

वह मटियाबुर्ज के बादशाह के शहज़ादों को पढ़ाने के लिए नौकर हो गये। जब वाजिदअली शाह का देहान्त हुआ तो उन्हें निज़ाम ने हैदराबाद के निज़ाम कालेज में अध्यापन-कार्य के लिए बुला लिया। लगभग तीस वर्षों तक वे वहीं अध्यापन-कार्य करते रहे। इसके बाद उनकी पदोन्नति हो गयी। साथ ही हैदराबाद के युवराज को पढ़ाने का काम भी उनके सुपुर्द हुआ। इस काम से खुश होकर निज़ाम ने उन्हें नवाब हैदर यार जंग की उपाधि से विभूषित किया। जब उस्मानिया विश्वविद्यालय स्थापित हुआ, तो सांस्कृतिक विभाग की हैसियत से उन्हें दारुल तर्जुमा में ले लिया गया। २३ मई १९३३ ई० को उनका देहावसान हो गया।

'नज़्म' की योग्यता की धाक कितनी बँधी हुई थी, इसका अन्दाज़ा इसी बात से हो सकता है कि जितने शागिर्द उनके हुए, उस ज़माने में मुश्किल से ही किसी के हुए होंगे। उनके शागिर्दों में मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर', मौलाना 'गरा', महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' आदि प्रमुख हैं। 'शाद' हैदराबाद के दीवान थे, लेकिन जब भी मौलाना 'नज़्म' उनके सामने जाते थे, वे उनके सम्मान में उठकर खड़े हो जाते थे। स्वयं मौलाना भी लखनऊ की पुरानी शराफ़त और तहज़ीब का जीता-जागता नमूना थे।

मौलाना 'नज़्म' पुरानी पीढ़ी में से थे और ग़ज़लों में 'दाग़' का अनुसरण किया करते थे, फिर भी उन्होंने नये ज़माने के तकाज़े से नये आन्दोलनों में भाग

लिया। ग्रे की प्रसिद्ध 'ऐलिजी' का उन्होंने इतनी सुन्दरता से उर्दू अनुवाद किया कि उर्दू संसार में उसकी धूम मच गयी। अनूदित कविता का शीर्षक है 'गोरे-गरीबाँ' इसमें पहली मरतबा अंग्रेजी की तरह ऐसी चौपदियाँ कही गयी हैं, जिनमें पहले मिसरे की तीसरे और दूसरे मिसरे की चौथे के साथ तुक बैठती चली जाती है। अनुवाद का कमाल यह है कि ग्रे की मूल कविता से मिला कर देखिए तो उसका कोई विवरण छूटने नहीं पाया है और अलग से देखिए तो अनुवाद मालूम ही नहीं होता है। मुहावरों, शब्द-विन्यास, वर्णनशैली आदि पूर्णत: उर्दू की है। अनुवाद के बावजूद किसी मिसरे में शैथिल्य नहीं दिखाई देता। इस नज़्म के बारे में मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' ने बिलकुल ठीक लिखा है कि "ऐसी मकबूले-रोज़गार · नज़्म · जिसका तर्जुमा हमारे वाजिबुलाहतराम अल्लामा और मुस्तनदे-ज़माना शायर जनाब मौलवी हैदरअली साहब ने किया है, मगर किस खूबी से जिसका इज़हार करना हमारे इख्तियार के बाहर है। ऐसी जाँ-गुदाज़ और मुअस्सर नज़्में ओरिजिनल तौर पर भी उर्दू में कम कही गयी हैं, नकि तर्जुमा।" मौलाना नज़्म ने मौलिक रूप में भी कई नज़्में मारके की लिखी। 'गुलाब का फूल' अपनी भावव्यंजना और 'साकी-नामा-ए-शबसाविया' अपने प्रभावपूर्ण संदेश के लिहाज़ से बेजोड़ नज़्में हैं। मौलाना की नज़्मों में सबसे बड़ी विशेषता उनकी गीतात्मकता है। यह गुण उनकी उस नज़्म में भरपूर दिखाई देता है, जो उन्होंने राजकुमार अल्बर्ट के भारत-आगमन पर लिखी थी। एक अन्य विशेषता जो वे पैदा करते हैं, वह यह कि एक-एक बात के लिए बीसियों उपमाएँ देते चले जाते हैं, फिर भी उनमें किसी तरह की ऊब नहीं पैदा होती। इसका उदाहरण उनकी नज़्म 'तुलूए-आफ़ताब' (सूर्योदय) उल्लेखनीय है। मौलाना ने अतुकान्त शैली (ब्लैंक वर्स) में भी कविताएँ की हैं, इससे उनका नूतनता-प्रेम काफ़ी स्पष्ट होता है।

मौलाना 'नज़्म' ने ग़ज़लों पर कोई खास ध्यान नहीं दिया। ग़ज़लों का दीवान उनके देहावसान के बाद प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में स्वयं लिखा है—"यह सब ग़ज़लें मुशायरों की हैं या गुलदस्तों की तरहों में या बाज़ बाज़ अहबाब की फ़रमायशी ज़मीनों में हैं। खुद से कभी ग़ज़ल नहीं कहता।" किन्तु मौलाना ने स्वयं अपनी ग़ज़लों की जो उपेक्षा की है, वे उसके योग्य नहीं

है। भाषा की दृष्टि से उन्होंने उर्दू की गजलों में वही नरमी और मिठास भर दी है, जो फारसी गजलों में मिलती है। मौलाना पुराने जमाने के आदमी थे, किन्तु उनकी गजलें बिलकुल नये जमाने की होती हैं। उनमें अर्थ-गांभीर्य बहुत अधिक होता है। अतिशयोक्ति से बहुत ही कम काम लिया गया है, फूहड़पन और ग्रामत्व दोष उनकी भाषा में कभी नहीं आ पाता और मुहावरों तथा रोज़-मर्रा की भाषा का प्रयोग अत्यन्त आकर्षक ढंग से करते हैं। शेरों को देखकर पहले मालूम होता है कि बहुत मामूली बातें कही गयी हैं, लेकिन जरा-सा गौर करने के बाद मालूम होता है कि उनमें बड़ा गहरा अर्थ है। कुछ शेर उदाहरण-स्वरूप आगे दिये जाते हैं, जिनसे मौलाना के रंग का पता चलता है—

कहाँ तक रास्ता देखा करें हम बर्क़ - खिरमन का
लगा कर आग देखेंगे तमाशा अब नशेमन का

लिहाज इतना अभी तक हजरते - नासेह का बाकी है
वो जो कुछ हुक्म फरमाते हैं कह देते हैं हम 'अच्छा'

इस छेड़ में कोई जो न मरता है तो मर जाय
वादा है कहीं और इरादा है कहीं और

अहसान ले न हिम्मते - मर्दाना छोड़ कर
रस्ता भी चल तो मज्जए - बेगाना छोड़कर
ऐ 'नरम' इश्क और हवस में ये फ़र्क़ है
बीमार मेरे साथ के अक्सर सँभल गये

मौलाना अली नकी 'सफी' लखनवी—मौलाना 'सफी' उन महाकवियों में से हैं, जिन्होंने लखनवी शैली की कविता पर से बदनामी का दाग धो डाला और उसे अत्यन्त पवित्र और ललित रूप में पेश कर दिया। उनका जन्म ३ जनवरी, १८६२ ई० को हुआ था। बारह-तेरह वर्ष की अवस्था तक घर पर फारसी-अरबी पढ़ने के बाद अंग्रेजी पढ़ी और कैनिंग कालिजिएट स्कूल से एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इसी बीच अपने चचा से हकीमी और ससुर से

शागिर्द थे, जिनमें 'अज़ीज़' लखनवी, मौलाना अब्दुर्रहमान, 'ज़रीफ़' लखनवी (जो 'सफ़ी' के छोटे भाई थे), 'सग़ीर', 'हामिद' आदि प्रमुख हैं। मौलाना सफ़ी की नज़्मों के दो संग्रह 'लख्ते-जिगर' और 'सहीफ़तुल्क़ौम' और ग़ज़लों का एक दीवान प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु मौलाना की कविता का उद्देश्य केवल कविता करना ही न होता था। अपनी क़ौमी नज़्मों के द्वारा उन्होंने अपनी सोयी हुई क़ौम को जगाया, कई सुधार-कार्यों की नींव डाली, कालेज और स्कूल खुलवाये, यतीमख़ाना बनवा दिया और औद्योगिक प्रसार के लिए लोगों को उत्साहित किया। अपनी नज़्मों में उन्होंने नेताओं तथा अन्य महान् व्यक्तियों की जीवनियाँ लिखीं और अपनी नज़्मों के द्वारा इतिहास और भूगोल के विषयों को भी सरलतापूर्वक लोगों को समझा दिया। उर्दू के अतिरिक्त मौलाना 'सफ़ी' फ़ारसी में भी कविता करते थे और उर्दू-जैसे ही ज़ोर के साथ करते थे।

नज़्म के क्षेत्र में मौलाना 'सफ़ी' का कमाल यह है कि प्रत्येक विषय पर बड़ी लम्बी-लम्बी नज़्में कही हैं। फिर भी यह सभव नहीं कि उनमें शुष्कता पैदा हो जाय। यदि नज़्म कहनेवाला कवि प्रतिभावान् नहीं होता और अपने वर्णन में भावनात्मक सामजस्य नहीं कर पाता, तो नज़्म एक उबा देनेवाली तुकबन्दी होकर रह जाती है। मौलाना 'सफ़ी' की नज़्मों में यह दोष छू तक नहीं गया है। वे लम्बी-लम्बी नज़्मों के बीच इस तरह 'तग़ज़्ज़ुल' का तत्त्व ले आते हैं कि पढ़नेवाला बिलकुल मानसिक बोझ नहीं महसूस करता। वे नज़्मों में अरबी-फ़ारसी के शब्द भी प्रयोग करते हैं और हिन्दी के भी, लेकिन कहीं भी शैली में भारीपन नहीं मालूम होता। कभी-कभी वे भोंडे शब्दों—'सरफ़ुट्टौवल' आदि—का भी प्रयोग करते हैं, तो इस ख़ूबी के साथ कि वह अपनी जगह जम कर रह जाते हैं और यदि उन्हें हटाकर कोई पर्यायवाची शिष्ट शब्द रख दिया जाय तो मज़ा ही किरकिरा हो जाय। कभी-कभी वे नज़्मों की एकरसता ख़त्म करने के लिए व्यंग्य और हास्य का भी पुट दे देते हैं, लेकिन इस लिए-दिये-पन के साथ कि न तो फूहड़पन पैदा होता है और न नैतिक सुरुचि को ठेस पहुँचती है, केवल दिमाग़ ताज़ा हो जाता है।

ग़ज़ल में मौलाना की देन अमिट है। उन्होंने लखनऊ की परम्परावादी बनावट को एकदम मिटाकर सिर्फ़ 'तग़ज़्ज़ुल' के बल पर सादगी में ऐसा आकर्षण

पैदा कर दिया है कि ग़ज़ल में प्रभावपूर्ण सादगी की नयी राह निकल आयी। कभी-कभी पश्चिमी रुचि को भी उर्दू ग़ज़ल में इस ख़ूबी से जगह दे देते हैं कि वह उर्दू की ही चीज़ बन जाती है। उन्होंने कई परम्परागत विषयों को जो आज की रुचि के लिए भोंड़े और फूहड़ साबित होते हैं—जैसे 'रक़ीब' का वर्णन और उससे गाली-गलौज और 'शेख़' और 'ज़ाहिद' से हाथापायी—बिलकुल छोड़ दिया। निष्प्राण कल्पना की बातों को भी उन्होंने छोड़ दिया। भाषा और वर्णनशैली में 'सफ़ी' बेजोड़ हैं। उनकी ग़ज़लों में नरमी और संगीत की छटा हर जगह दिखाई देती है। भारी शब्द उनके यहाँ कहीं नहीं मिलते और फ़ारसी शब्दविन्यासों को भी वे गलाकर पानी कर देते हैं। इसके अलावा कल्पना की चुस्ती, भाषा की सफ़ाई, प्रवाह और मुहावरों तथा रोज़मर्रा की भाषा के प्रयोग के मामले में उनकी भाषा और शैली आदर्श कही जा सकती है।

मौलाना 'सफ़ी' की ग़ज़लों के कुछ शेर नमूने के तौर पर दिये जा रहे हैं—

हमारी आँख से जब देखिये आँसू निकलते हैं
जबीं की हर शिकन से दर्द के पहलू निकलते हैं

ग़ज़ल उसने छेड़ी, मुझे साज़ देना
ज़रा उम्रे-रफ़्ता को आवाज़ देना
न ख़ामोश रहना मेरे हम-सफ़ीरों
जब आवाज़ दूँ तुम भी आवाज़ देना

क़ालिबे-ख़ाक पे आँच आये ये मंज़ूर नहीं
दिल में है वर्ना वो बिजली जो सरे-तूर नहीं
दिल से नज़दीक हैं, आँखों से भी कुछ दूर नहीं
मगर इस पर भी मुलाक़ात उन्हें मंज़ूर नहीं

हमको परवाना-ओ-बुलबुल की रक़ाबत से ग़रज़ ?
गुल में वह रंग नहीं शमअ में वह नूर नहीं
कभी 'कैसे हो सफ़ी' पूछ तो लेता कोई
दिलदही का मगर इस शहर में दस्तूर नहीं

मुंशी नौबतराय 'नज़र' लखनवी—'नज़र' लखनवी उन दुर्भाग्यशाली कवियों में से थे, जिन्होंने अपनी रंग की कविता में आमूल सुधार का बीड़ा उठाया और चूंकि आर्थिक रूप से स्थिति बहुत दृढ़ न थी, इसलिए कम से कम उनके अंतिम काल में उनकी कद्र कम ही हुई, जो होनी चाहिए थी। 'नज़र' का जन्म लखनऊ में १८६६ ई० में हुआ था। वे एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में पैदा हुए थे। उनके पूर्वज शाही ज़माने में सम्मानित पदों पर थे। 'नज़र' की लिखाई-पढ़ाई अधिकतर लखनऊ में ही हुई। किशोरावस्था से ही आपने काव्य-साधना आरंभ कर दी थी। कविता में वे आगा 'मज़्हर' लखनवी के शागिर्द थे। धीरे-धीरे उन्होंने कविता में अपना रंग बना लिया और लखनऊ की शाब्दिक खिलवाड़ और नखशिख वर्णन की कविता से अलग हो गये।

'नज़र' का सारा जीवन साहित्य-सेवा में बीता। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में बहुत कुछ लिखा, किन्तु दुर्भाग्य से उनका कोई संग्रह न निकल सका। १८९७ ई० में उन्होंने लखनऊ से 'ख़दंगे-नज़र' नामक एक साहित्यिक पत्रिका प्रकाशित की। कुछ समय तक यह पत्रिका अच्छी तरह निकली, किन्तु सात वर्षों के बाद अर्थाभाव के कारण इसे बन्द कर देना पड़ा। इसके बाद 'नज़र' कानपुर के 'ज़माना' नामक प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्र में चले गये। १९१० ई० में इलाहाबाद से इंडियन प्रेस से 'अदीब' नामक पत्रिका निकली। 'नज़र' इसमें आ गये, किन्तु कुछ कारणों से १९१२ ई० में वहाँ से अलग होकर फिर 'ज़माना' में चले गये। १९१४ ई० में 'ज़माना' छोड़ कर लखनऊ आ गये और 'अवध अख़बार' का सम्पादन-कार्य संभाल लिया और अंतकाल तक वहीं रहे। १९२३ ई० में दमे की बीमारी के कारण उनका देहावसान हो गया।

'नज़र' का सारा जीवन चिन्ताओं और दुखों से बोझिल रहा। अर्थाभाव उन्हें हमेशा दबोचे ही रहा। अपनों की कमी भी उन्हें खटकती रही। उनके लड़का कोई हुआ ही नहीं। एक लड़की थी, जिसके पुत्र को अपने पास रखते थे। उनका यह दौहित्र भी चल बसा। इसके कुछ दिनों बाद उनकी बूढ़ी माँ भी चल बसीं। दौहित्र के मरने के बाद वे पड़ोस के एक लड़के का लाड़-प्यार करके और उसे अपने साथ सुलाकर अपने सूने जीवन को भरा-पूरा रखने का प्रयत्न करते थे, किन्तु वह लड़का भी एक दिन छत से गिर कर मर गया!

ीम की इन्ही कसौटी में शायद 'नजर' की कविता में दुख-दर्द कूट-कूट कर र दिया था।

उनका शब्द-चित्र उनके एक मित्र इस तरह खींचते हैं—"नजर मियाना द थे। दुबले-पतले, गन्दुमी रंग—लिबास में सादगी, मिजाज में नफ़ासत, मूद-ओ-नुमाइश से हद दर्जे मुज्तनब। गरूर-ओ-तकब्बुर छू तक न गया ा। 'नजर' जितने अच्छे शायर थे, उससे जियादा अच्छे इंसान थे। जितने च्छा शेर कहते थे, वैसे ही खुशनवीस-ओ-मुसव्विर भी थे। शतरंज का भी ौक़ था।"

उनकी कविता के बारे में यही सज्जन लिखते हैं—" 'नजर' अपने मुआ-सिर में इसलिए मुमताज़ हैं कि उन्होंने माहौल-ओ-पसन्दे-ज़माना को बिलकुल नहीं देखा, मज़ाके-आमियाना की पैरवी करके फ़नव-ए-उस्तादी-ओ-सुखनवरी ैना गवारा नहीं किया बल्कि रहे-शायरी को अपनाया। सस्ती शुहरत से रकश होकर लताफ़ते-ख़यालात-ओ-सदाक़ते-बयान की अक़लीम पर तसर्रुफ़ किया।"

कविता के क्षेत्र में नवीनता-प्रिय होने के कारण 'नजर' ने नज़्में भी कहीं, लेकिन सच्ची बात यह है कि नज़्म का क्षेत्र उनके उपयुक्त नहीं था। उनकी नज़्मों में वह चीज़ नहीं है, जो नज़्मों की जान है हाँ, जहाँ पर उनकी नज़्मों में तग़ज़्ज़ुल का तत्व आ जाता है, वहाँ उनका सौन्दर्य बढ़ जाता है।

लेकिन ग़ज़ल के क्षेत्र में 'नजर' का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी ग़ज़लों की सबसे पहली विशेषता उनका सोज़ो-गुदाज़ यानी करुणा है। यह तत्व पाठक या श्रोता को तुरन्त ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इसके अलावा बन्दिश की चुस्ती और मुहावरों की सुन्दरता से उनकी रचनाओं का सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है। उनकी ग़ज़लों के शेर बहुत साफ़ और सादे होते हैं। उनमें अर्थ-गाम्भीर्य भी इतना होता है कि संवेदनात्मक प्रभाव के साथ ही बौद्धिक तत्व भी उनमें अच्छी खासी मात्रा में आ जाते हैं। इस नज़र से 'नजर' की रचनाओं का विशेष महत्त्व है। रचनाओं की प्रौढ़ता और सफ़ाई के साथ ही शब्द-चयन में भी अक्सर नवीनता पैदा कर देते हैं और उनकी स्पष्टता इतनी बढ़ जाने से यह विशेषता पायी जाती है। उनका शब्दचयन बहुत सुन्दर होता

मुआफ़ ऐ हमनशीं ! गर आह कोई लब पे आ जाये
तबीयत रफ़्ता रफ़्ता खूगरे - दर्दे - जिगर होगी

यह समझ नहीं है कि हों इक रात के मेहमाँ
जलते हैं तो बुझते नहीं हम बक़्ते - सहर भी
जीने के मज़े देख लिये तेरी बदौलत
अब, ओ दिले - नाकामे - तमन्ना ! कहीं मर भी

मिर्ज़ा ज़ाकिर हुसैन 'साकिब' क़िज़िलबाश—मिर्ज़ा 'साकिब' भी लखनऊ के उन प्रतिभाशाली कवियों में से हैं, जिन्होंने ग़ज़ल का मर्तबा बहुत ऊँचा कर दिया। वे २ जनवरी १८६९ ई० को आगरे में पैदा हुए थे। अभी छ महीने के ही थे कि उनके पिता परिवार सहित लखनऊ आ गये। मिर्ज़ा ज़ाकिर हुसैन को शुरू से ही—१२ वर्ष की अवस्था से ही—शेर कहने का चस्का लग गया था, लेकिन उनके पिता को शायरी से चिढ़ थी। फलतः बेचारे मुशायरों की तरह से छुप-छुप कर शेर कहते थे और उनके साथी अपने नाम से उनकी ग़ज़ल पढ़ देते थे और वापस आकर बताते थे कि किस शेर पर कैसी दाद मिली। इन्हें मुशायरों में जाने की भी अनुमति न थी।

१८८३ ई० से १८९१ ई० तक अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे आगरे में रहे। सौभाग्यवश वहाँ आपको मोहसिन हुसैन खाँ 'सफ़ी' जैसे योग्य पथ-प्रदर्शक मिल गये। 'सफ़ी' उर्दू, फ़ारसी और अरबी तीनों भाषाओं के कवि थे और काव्यशास्त्र में पारंगत। फलतः 'साकिब' ने भी गुरु की कृपा और अपनी जन्मजात प्रतिभा के बल पर कुछ ही दिनों में इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि अपने गुरु-भाइयों की ग़ज़लों का भी सफलता-पूर्वक संशोधन करने लगे।

मिर्ज़ा 'साकिब' को आयु पर्यन्त आर्थिक कठिनाइयों ने नहीं छोड़ा। एक बार अपनी सारी जमा पूँजी लगाकर एक मित्र के साझे में व्यापार किया, पर उस व्यापार में सारी पूँजी ही चौपट कर दी। १९०६ ई० में वे [illegible] गये जो उस समय भारत की [illegible] थी। [illegible] १९०८ ई० में [illegible] [illegible] लिया और ५० [illegible] दिया।

मिर्जा साहब की संतोषी प्रवृत्ति के लिए इतना सहारा काफ़ी था। इसी छ
सी आय पर सारा जीवन काट दिया। २२ नवम्बर १९४६ ई० को इन
देहावसान हो गया।

मिर्जा 'साकिब' शायरी के लिए अपना सारा जीवन अर्पित कर चुके
रातदिन शेर की फ़िक्र में डूबे रहते थे। अक्सर राह चलते हुए भी शेर क
थे, फलस्वरूप कई बार सवारियों और राहगीरों से टकराकर चोट खा गये
पुरानी सभ्यता के जीते-जागते नमूने थे। उनका स्वभाव सरल और गंभ
था। वे अत्यन्त मिलनसार, किन्तु स्वाभिमानी बुजुर्ग थे। अपने मित्रों
सामने नम्र रहते, किन्तु विरोधियों के आगे सर झुकाने की आदत नहीं थी
अपने समकालीन अन्य उस्तादों—'सफ़ी' 'नज़र' आदि—की भाँति यह
आत्म-विज्ञापन पसंद न करते थे, फलत अपने काल में उतनी ख्याति न
पा सके, जितनी के हकदार थे। विचारों में स्वतन्त्र थे और व्यवहार में अत्य
भद्र। दुबले-पतले आदमी थे। फ्रेंच कट दाढ़ी और आँखों पर चश्मा निहाय
अच्छा लगता था। अक्सर काली शेरवानी और गोल टोपी पहना करते थे

मिर्जा 'साकिब' का काव्यपाठ का ढंग बड़ा मनोहर था। पुराने लो
मुशायरों में तरन्नुम से (गाकर) गजल नहीं पढ़ते थे। मिर्जा 'साकिब'
गाकर नहीं पढ़ते थे, लेकिन पढ़ने की सादगी का अदाज इतना प्रभावशाल
था कि तरन्नुम से पढ़ने वाले उनके आगे मांद (मन्द) पड जाते थे। मिर्जा
फ़िल बदीह (तात्कालिक) कविता करने का भी गुण था। अक्सर ऐसा हुआ
कि मुशायरे में ही तरह दी गयी और कवियों से उसी समय गजल पढ़ने को कह
गया। ऐसे मुशायरों में केवल कुछ ही प्रतिभाशाली कवि भाग ले सकते हैं
इस पर भी जिन कवियों ने भी ऐसे अवसरों पर गज़लें कहीं, उनमें मिर्जा 'साकिब'
की गज़ल ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती रही।

मिर्जा 'साकिब' की गज़लों में जो सबसे पहली खूबी दिखाई देती है, वह
उनकी जबान की सफाई, रवानी और मुहावराबन्दी है। लखनऊ के सारे
प्रमुख कवि इस बात के लिए प्रसिद्ध रहे हैं और लखनवी शैली में सुन्दर शब्द-
योजना, बन्दिश की चुस्ती और मुहावरों का बाहुल्यपूर्वक प्रयोग लखनऊ के
सारे कवियों की विशेषताएँ हैं। मिर्जा 'साकिब' में भी ये विशेषताएँ अपने

बाग़वाँ ने आग दी जब आशियाने को मेरे
जिन पे तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे
आइए, हाले - दिले - बीमार सुनिए देखिए
क्या कहा ज़ख्मों ने ? क्यों टाँके सदा देने लगे
मुट्ठियों में ख़ाक लेकर दोस्त आये बादे - दफ़्न
ज़िन्दगी भर की मुहब्बत का सिला देने लगे
किस नज़र से आपने देखा दिले - महरूम को
ज़ख्म जो कुछ भर चुके थे फिर हवा देने लगे
जुज़ ज़मीने - कूए - जानाँ कुछ नहीं पेशे - निगाह
जिसका दरवाज़ा नज़र आया सदा देने लगे

फ़तीलों की रगों पर जो गुज़रती है गुज़रने दें
खड़े हों दूर ही सैरे - चराग़ाँ देखने वाले
ज़बर्दस्ती की रुख़सत अहले-दिल निश्तर समझते हैं
खुद उट्ठे जाते हैं दुनिया को मेहमाँ देखने वाले

कहने को मुद्दते - पर की असीरी तो थी मगर
ख़ामोश हो गया है चमन बोलता हुआ

सय्यद अनवर हुसैन 'आरज़ू' लखनवी—'आरज़ू' लखनवी अपनी सरस भाषा और काव्य के लिए प्रसिद्ध हो गये हैं। उनके पिता मीर ज़ाकिर हुसैन 'यास' और बड़े भाई मीर यूसुफ हुसैन 'क़यास' भी अच्छे शायर थे। अनवर हुसैन १८ फरवरी १८७२ ई० को पैदा हुए। यह भी बचपन में ही शेर कहने लगे। पिता को इनकी प्रतिभा का पता चला तो उसी रोज़ उन्हें 'जलाल' लखनवी के पास ले गये। उस समय इनकी अवस्था तेरह वर्ष की थी।

लखनऊ में उन दिनों आये दिन मुशायरे होते रहते थे और शेरो-शायरी का चर्चा अक्सर हुआ करता था। मुशायरों में शीघ्र ही यह चमकने लगे। एक रोज़ एक सज्जन ने इन्हें एक मिसरा दिया और कहा कि अगर तुम दस वर्षों में भी इस पर दूसरा मिसरा लगा कर शेर बना दो तो तुम्हें शायर मान

रहेगा। यह मिसरा यूं था "उड़ गयी सोने की चिड़िया रह गये पर हाथ में।" मिसरा अजीब-सा था, किन्तु इन्होंने कहा कि 'दस वर्ष जीने की क्या आशा है, अभी कोशिश करता हूँ' और यह कहकर इतना सुन्दर मिसरा लगाया कि पहले का बेकार मिसरा भी चमक उठा। पूरा शेर इस तरह कर दिया—

दामन उस यूसुफ़ का आया पुरज़े होकर हाथ में
उड़ गयी सोने की चिड़िया रह गये पर हाथ में

इनकी ऐसी प्रतिभा देखकर विद्वानों ने भविष्यवाणी की कि यह अपने ज़माने के प्रमुख कवि होंगे और ऐसा ही हुआ। १८ वर्ष के ही थे कि उस्ताद ने अपने सारे शागिर्दों की गज़लों के संशोधन का भार इन्हीं पर डाल दिया। 'जलाल' की मृत्यु के पश्चात् इन्हीं को उनका उत्तराधिकारी मान लिया गया।

'आरज़ू' ने शायरी तो की, लेकिन दरबारदारी को अपनी जीविका का साधन नहीं बनाया। कलकत्ते में न्यू थियेटर्स कम्पनी स्थापित हुई तो उसमें गीत लिखने की नौकरी कर ली। कुछ वर्षों बाद बम्बई जाकर फ़िल्म कम्पनियों में यही काम करने लगे। १९५० ई० में 'डान' की ओर से मुशायरा हुआ तो उन्हें बुलाया गया। कराची जाकर वे वहीं के हो रहे। १९५१ ई० में उनका वहीं देहावसान हो गया।

'आरज़ू' पुराने ज़माने के बड़े वज़अदार बुज़ुर्ग थे। जो कोई भी उनसे मिलने जाता, बड़े खुले दिल से मिलते थे। विनोद-प्रिय बहुत थे और अस्सी वर्ष की अवस्था में भी चुटकुले सुनने-सुनाने और हँसते-हँसाते रहते थे। तबीयत में कठमुल्लापन या धर्मांधता नाम को भी न थी। बग़ैर धार्मिक भेदभाव के हरएक से मिलते थे और हर समय देश-हित का ध्यान नज़र में रखते थे। जीवन का पूरा रस लेते थे। संगीत अच्छा खासा जानते थे, बल्कि कभी-कभी दोस्तों में बैठ कर गाया भी करते थे। पतंगबाज़ी का जवानी में बहुत शौक था और बुढ़ापे में भी हालाँकि खुद पतंग नहीं उड़ाते थे, किन्तु पतंगबाज़ी की बातें काफ़ी किया करते थे।

'आरज़ू' की गज़लें ही प्रसिद्ध नहीं हैं, उन्होंने नज़्में भी अच्छी खासी संख्या में कही हैं। पुराने काव्यरूप कसीदा, मसनवी, रुबाई आदि भी खूब

गयी हैं। इनके अतिरिक्त मरसिये भी काफ़ी और सफलतापूर्वक लिखे हैं। उनकी कविताओं के तीन संग्रह—'फुगाने-आरज़ू', 'जहाने-आरज़ू' और 'सुरीली बाँसुरी' प्रकाशित हुए हैं। कवि के अलावा 'आरज़ू' नाटककार भी थे। उनके कई नाटक 'मतवाली जोगिन', 'दिलजली बैरागिन', 'शरारे-हुस्न' आदि प्रसिद्ध हो चुके हैं। इनके अलावा उन्होंने उर्दू व्याकरण की एक पुस्तक 'निज़ामे उर्दू' के शीर्षक से लिखी है। यह पुस्तक बीस वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप लिखी गयी है और इसके बारे में कहा जा सकता है कि यह उर्दू के भंडार में महत्त्वपूर्ण वृद्धि है।

'आरज़ू' ने उर्दू में ख़ास एक और प्रयोग किया है। 'ख़ालिस उर्दू' के नाम से उन्होंने ऐसी भाषा को जन्म दिया, जिसमें एक भी शब्द अरबी या फ़ारसी का नहीं है। यह सभी जानते हैं कि गद्य में ऐसी भाषा लिखना अपेक्षाकृत आसान काम है। 'इंशा' तो पूरी की पूरी 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी भाषा में लिख गये हैं, जिसमें अरबी-फ़ारसी तो क्या, संस्कृत का भी कोई तत्सम शब्द नहीं है। 'आरज़ू' ने यह कमाल किया है कि पद्य में भी अरबी-फ़ारसी के शब्द छोड़ दिये। उनका काव्य-संग्रह 'सुरीली बाँसुरी' इसी 'ख़ालिस उर्दू' का पद्य-संग्रह है। इसमें केवल लखनवी मुहावरों के बल पर कविता में ख़ूबी पैदा की गयी है। यह ठीक है कि इस चक्कर में उन्होंने अक्सर उलझे हुए और कम प्रचलित मुहावरे भी इस्तेमाल किये हैं, भाव पक्ष अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है और भाषा कुछ बनावटी हो गयी है, जिससे कि उसका प्रचलन संभव नहीं। फिर भी निस्संदेह भाषा के विकास की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग है और हिन्दी-उर्दू का अन्तर दूर करके एक जन-भाषा का विकास करने की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण क़दम कहा जा सकता है।

ग़ज़लों में 'आरज़ू' ने भावपक्ष में 'मीर' के रंग का अनुसरण किया है। उनके शेरों में नरमी, कोमलता और करुणा के तत्त्व काफ़ी पाये जाते हैं। साथ ही लखनवी शायर होने के नाते उनके शेरों में प्रवाह, शब्दों का उचित चयन और सुन्दर शब्द-विन्यास (बन्दिश) के तत्त्व भी बहुत हैं। हिन्दी के शब्दों का जी खोलकर प्रयोग करते हैं, जिससे काव्य-माधुर्य और गीतात्मकता काफ़ी बढ़ जाती है। मुहावरे और कहावतें भी संतुलित रूप में प्रयोग करते

है, जिससे वर्णन-सौन्दर्य बढ़ जाता है। कभी-कभी वे शाब्दिक अनुरूपता से भी काम लेते हैं, किन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक वह भाव-प्रकाशन में योग दे। वे शाब्दिक अनुरूपता के चक्कर में कभी भाव पक्ष निर्बल नहीं होने देते। नीचे हम उनकी एक साधारण ग़ज़ल और एक 'खालिस' उर्दू की ग़ज़ल के कुछ शेर देकर उनकी शैली का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

क़फ़स से ठोकरें खाती नज़र जिस नख़्ल तक पहुँची
उसी पर, ले के इक तिनका, बिनाए-आशियाँ रख दी
सुकूने-दिल नहीं जिस वक़्त से इस बज़्म में आये
ज़रा सी चीज़ घबराहट में क्या जाने कहाँ रख दी
बुरा हो इस मुहब्बत का हुए बरबाद घर लाखों
वहीं से आग लग उट्ठी ये चिनगारी जहाँ रख दी
किया फिर तुमने रोता देखकर दीदार का वादा
फिर इक बहते हुए पानी में बुनियादे-मकाँ रख दी
दरे दिल 'आरज़ू' दरवाज़ए-काबा से बेहतर था
ये, ओ ग़फ़लत के मारे! तूने पेशानी कहाँ रख दी

बस उन आँखों का है कहने को ज़रा-सा पानी
सैकड़ों डूब गये फिर भी है उतना पानी
कितने भीगे हुए बालों से ये टपका पानी
झूम कर आयी घटा टूट के बरसा पानी
पंखी धूप का है रूप लड़कपन की उठान
दोपहर ढलते है उतरेगा ये चढ़ता पानी
न सता उनको जो चुप रह के भरे ठंडी साँस
यह हवा करती है पत्थर का कलेजा पानी
यह पसीना वही आँसू है जो पी जाते थे हम
'आरज़ू' लो वो खुला भेद, वो फूटा पानी

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'अज़ीज़' लखनवी—'अज़ीज़' लखनवी अपनी उच्च [illegible] भावपूर्ण ग़ज़लों और क़सीदों के बल पर काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर

हुए हैं। इनके पूर्वज शीराज के रहने वाले थे। वहाँ से चलकर वे कश्मीर में रहे और फिर स्थायी रूप से लखनऊ में बस गये। मिर्ज़ा मुहम्मद हादी का जन्म १८८२ ई० में हुआ। पाँच वर्ष की अवस्था में आपका विद्यारम्भ हुआ और विभिन्न विद्वान शिक्षकों से आपने अरबी-फ़ारसी, व्याकरण, धर्मशास्त्र, दर्शन, साहित्य आदि पढ़ा। कविता में आप 'गनी' लखनवी के शागिर्द हुए लेकिन बाद में किसी बात पर उस्ताद से झगड़ा हो गया जो अन्त तक रहा। शुरू से सात-आठ वर्षों तक 'अज़ीज़' साहब मिर्ज़ा मुहम्मद अब्बास अली ख़ाँ (डिप्टी कमिश्नर और रईस) के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। अब्बास अली ख़ाँ साहब कविता में इनसे संशोधन भी कराया करते थे। इसके बाद 'अज़ीज़' अमीनाबाद हाईस्कूल लखनऊ में फ़ारसी के अध्यापक रहे। इसी बीच कई वर्षों तक वे लखनऊ विश्वविद्यालय में फ़ारसी के परीक्षक भी रहे थे। १९२८ ई० में महाराजा साहब महमूदाबाद के बुलावे पर उनके युवराज को पढ़ाने के लिए चले गये। कुछ समय के बाद महाराजा साहब ने रियासत का विशाल पुस्तकालय उनके सुपुर्द कर दिया। अन्त समय तक 'अज़ीज़' इसी पद पर रहे। २ अगस्त १९३५ ई० को उनका देहान्त हो गया।

'अज़ीज़' की तबीयत में सादगी और बेतकल्लुफ़ी थी। ज़बर्दस्त योग्यता के बावजूद किसी तरह का घमंड उनमें नहीं था। किसी से जलन भी नहीं थी, दूसरों की कविता की जी खोलकर प्रशंसा किया करते थे। फ़ौरन घुल-मिल जाने वाले लोगों में न थे, किन्तु जब मित्रता करते तो उसमें दृढ़ता होती। उनकी प्रकृति संतोषी थी, व्यवहार भद्र और विचार गंभीर थे।

वर्तमान समय में जितने योग्य शागिर्द 'अज़ीज़' को मिले, उतने किसी और को नसीब नहीं हुए। उनके शागिर्दों में कुछ प्रमुख नाम ये हैं—'जोश' मलीहाबादी, 'आशुफ्ता' लखनवी, 'असर' लखनवी, 'रशीद' लखनवी, जगत मोहन लाल 'रवाँ', 'जिगर' बरेलवी, 'शेफ़्ता' लखनवी, 'कैफ़ी' लखनवी।

उनकी गज़लों का पहला दीवान 'गुलकदा' उनके जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था। दूसरा दीवान पिछले वर्ष ही प्रकाशित हुआ है (जो हमें अभी देखने को नहीं मिला)। कसीदों का संग्रह 'सहीफ़ए-विला' के नाम से प्रकाशित हुआ है। कई जीवन चरित्र भी उन्होंने लिखे हैं और व्याकरण तथा

भाषा के सम्बन्ध में भी दो पुस्तकें हैं। दो शब्द-कोष भी उन्होंने बनाये हैं। 'अज़ीज़' की कविता की उनके समकालीनों ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। 'साक़िब' लखनवी की राय में "अज़ीज़ की तबीयत निहायत पुरदर्द वाक़अ हुई है। हर शेर में हसरत का इज़हार होता है। कमाल यह है कि आपने 'मीर'-ओ-'ग़ालिब' की तक़्लीद करते हुए अपने ख़ास रंग को हाथ से नहीं जाने दिया है। ज़बान की सफ़ाई, मज़ामीन की रिफ़अत और बयान की सलासत, मअनी-आफ़रीनी और नुक्तारसी से दस्तो-गरेबाँ है।"

लखनवी शैली की ग़ज़ल को बदनामी के गढ़े से निकालकर उसमें नयी चमक-दमक पैदा करने वालों में 'अज़ीज़' का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। उनके शेरों में कहीं हल्के भाव नहीं आते। हद तो यह है कि वे अँगड़ाई जैसे वासनापूर्ण विषय को उठाते हैं तो उसे इस दृष्टिकोण से देखते हैं कि उसमें लालित्य और सौन्दर्यबोध की तृप्ति के अलावा वासना का कोई तत्त्व नहीं रहने पाता। 'अज़ीज़' की एक विशेषता उनकी उच्च कल्पना है। यह असर उन्होंने 'ग़ालिब' से लिया है। 'ग़ालिब' की प्रसिद्ध ग़ज़लों की ज़मीन में उन्होंने कई ग़ज़लें कही भी हैं। 'अज़ीज़' के शेरों में शब्दों के उचित प्रयोग के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनके शब्दों में ओज भी है और संगीत भी। वर्णन में नवीनता, नवीन विचार, नवीन दृष्टिकोण—ग़रज़ कि ग़ज़ल के भाव क्षेत्र में प्रत्येक दृष्टि से उन्होंने ऐसी नवीनता दिखायी है कि पढ़नेवाले को हमेशा एक तरह की ताज़गी महसूस होती है। करुणा का पुट 'अज़ीज़' की ग़ज़लों में भी बहुत अधिक है—यहाँ तक कि कुछ लोग इस पर आपत्ति भी कर बैठते हैं। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं में सफ़ाई और सरलता पायी जाती है। साथ ही यह विशेषता है कि रचनाओं में कहीं खींचतान या बनावट नहीं है। उनमें एक स्वाभाविक प्रवाह, एक बेसाख़्तापन, मौजूद रहता है। ग़ज़ल के क्षेत्र में यही चीज़ें किसी कवि को उत्कृष्ट बनाती हैं। ग़ज़लों की ही भाँति क़सीदे के क्षेत्र में भी—यद्यपि 'अज़ीज़' का समय क़सीदा-गोई का अन्तिम काल था—वे प्रमुख हैं। उनके क़सीदे कल्पना की तेज़ उड़ान, शब्दों की धूम-धाम, गंभीर अर्थात्मकता और क्रमिक सबद्धता के लिए प्रसिद्ध हैं।

गाँव इनकी जन्मभूमि है। यह गाँव उसी ज़माने मे सिंध की बाढ़ मे डूब गया था और इनका परिवार अपनी थोडी-बहुत खेती और दुकानदारी को छोडकर ईसाखेल में बस गया। छ-सात वर्ष की अवस्था मे इन्हे स्थानीय मिडिल स्कूल में दाखिल कर दिया गया। यह अपने दरजे में हमेशा अव्वल रहते थे। मिडिल पास करने के बाद ईसाखेल से साठ-सत्तर मील दूर जाकर बन्नू के विक्टोरिया डायमंड जुबली स्कूल से १९०७ ई० में मैट्रिकुलेशन किया। पिता की मृत्यु के कारण अपनी पढाई जारी न रख सके, लेकिन बाद में नौकरी करते हुए इन्होंने एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षाएँ भी पास कर ली। १९०८ ई० में मिडिल स्कूल में मास्टरी शुरू की और लगभग दस वर्ष तक कई स्थानों के स्कूलों में काम करने के बाद कलोरकोट स्कूल के हेडमास्टर बना दिये गये। बाद में कुछ स्कूल के अन्दरूनी झगडों और कुछ अपनी देशभक्तिपूर्ण कविताओं के आधार पर सरकारी पकड में आ जाने के डर से यह रावलपिंडी के कन्टोनमेंट बोर्ड मिडिल स्कूल में हेडमास्टर हो गये। १९४३ ई० मे नौकरी से रिटायर हुए तो सनातन धर्म गोर्डन कालेज रावलपिंडी में उर्दू-फ़ारसी पढ़ाने के लिए नियुक्त कर दिये गये। भारत-विभाजन के बाद दिल्ली आकर कुछ दिनों उर्दू के दैनिक 'तेज़' में काम किया। इसके बाद पंजाब यूनीवर्सिटी कैम्प कालेज नयी दिल्ली में अध्यापन कार्य करने लगे।

'महरूम' ने कविता के क्षेत्र में किसी को उस्ताद नहीं किया। शुरू-शुरू मे काव्य-शास्त्र का भी अध्ययन आवश्यक नहीं समझा। इनकी मातृभाषा भी पंजाबी—वह भी पश्चिमी पंजाबी—थी, उर्दू नहीं थी। फिर भी केवल काव्य-अध्ययन और स्वाभाविक प्रतिभा के बल पर उन्होंने जो भी नज़्में या ग़ज़लें कहीं, उनमे शुरू में भी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कोई भूल नहीं होती थी। दरअसल 'महरूम' अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति हैं। मैट्रिकुलेशन के बाद जब वे आगे पढ़ने के लिए लाहौर आये तो उन्होंने मशहूर नूरजहाँ का मकबरा देखा। इस नौजवानी की उम्र में ही इस मकबरे को देखकर उन पर ऐसा असर हुआ कि 'नूरजहाँ का मज़ार' नामक नज़्म लिख डाली, जो आज तक इनकी प्रसिद्ध नज़्मों में समझी जाती है। इन्हें अब काव्य-सर्जन का कुछ अन्दाज़ हो [illegible] सरकार की चिन्ता छोड़कर उसमें लग जाते थे। इनके प्रारम्भिक

ज़ीस्त की दुश्वारियों ने यह तो अहसाँ कर दिया
मौत की मुश्किल को मेरे हक़ में आसाँ कर दिया

जगत मोहन लाल 'रवाँ'—चकबस्त की भाँति 'रवाँ' को भी अकाल मृत्यु ने कुछ अधिक कहने का समय न दिया, किन्तु थोड़े ही समय में उन्होंने जो कुछ कह दिया, उससे उर्दू का भंडार और भर गया। चौधरी जगत मोहन लाल १४ जनवरी १८८९ ई० को पैदा हुए थे। नौ वर्ष के ही थे कि उनके पिता चौधरी गंगा प्रसाद का देहांत हो गया। पिता के मरने पर बड़े भाई बाबू कन्हैयालाल ने इनका लालन-पालन किया। यह पढ़ाई में बड़े तेज थे और परीक्षाओं में हमेशा अच्छे नम्बरों से पास होते थे। 'रवाँ' ने १९१३ ई० में एम० ए० पास किया और १९१६ ई० में वकालत पास करने के बाद उन्नाव में वकालत शुरू की। शीघ्र ही अपनी योग्यता के कारण वे उन्नाव के नामी वकीलों में गिने जाने लगे। किन्तु मृत्यु ने शीघ्र ही आह्वान किया और अक्तूबर १९३४ ई० में इस प्रतिभाशाली कवि का देहावसान हो गया।

'रवाँ' अपनी कविताओं पर मौलाना 'अज़ीज़' लखनवी से संशोधन कराया करते थे। उनकी गज़लों में 'अज़ीज़' का साफ़ प्रभाव पाया जाता है। यह अपने उस्ताद से मुहब्बत भी बहुत करते थे। गज़लों में 'रवाँ' ने भाषा का बहुत ध्यान रखा है। फ़ारसी शब्द-विन्यास के साथ काव्य-प्रवाह को कायम रखते हुए चुने हुए और उचित शब्दों का प्रयोग इनकी विशेषता है। इसके कारण संगीत अपने आप पैदा होता है। बाज़ारू शब्दों और विचारों से 'रवाँ' को चिढ़-सी थी। उनके विचार बहुत उच्च होते थे और अर्थात्मकता तथा दार्शनिक जिज्ञासा की चकबस्त-जैसी प्रवृत्ति इनके यहाँ देखने को काफ़ी मिलती है। फिर भी तारीफ़ की बात यह है कि इससे गज़लों में रूखापन नहीं आता और रस-परिपाक पूरी तरह होता है। कभी-कभी तो ऐसे बेसाख्ता मिसरे कह जाते हैं, जिन्हें हज़ार बार पढ़ने पर भी नया मज़ा मिलता है।

'रवाँ' की सारी रचनाओं में एक ज़ोर और गंभीरता हर जगह पायी है, जिससे हृदय और मस्तिष्क दोनों को आनन्द मिलता है। वे अपनी . में भी गज़ल की भावात्मकता ले आते हैं, जिससे प्रभाव बहुत बढ़ जाता । नज़्मों में सफल चरित्र-चित्रण 'रवाँ' की उल्लेखनीय विशेषता है। इन्होंने

जहाँ कहीं पात्रों के भावों का वर्णन किया है, किसी तटस्थ पर्यवेक्षक की तरह नहीं, बल्कि इस तरह किया है, जैसे वे भावनाएँ इनकी अपनी ही हों। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन अत्यन्त सफल हैं और निर्जीव वस्तुओं के वर्णन में भी अपनी दार्शनिक स्तर की कल्पना द्वारा जान-सी डाल देते हैं। नज़्मों और ग़ज़लों के अलावा 'रवाँ' ने रुबाइयाँ भी अच्छी कही हैं, जिनमें दुरूह विषयों को भी कोमल उपमाओं और रूप के बल पर ऐसा सरल और आकर्षक कर दिया है कि देखते ही बनता है। उनका एक काव्य-संग्रह 'रूहे-रवाँ' है, जिसमें ग़ज़लें, नज़्में, रुबाइयाँ सभी कुछ हैं। नीचे उनकी एक ग़ज़ल के कुछ शेर उदाहरणस्वरूप दिये जा रहे हैं—

> किसी तदबीर से जब जी न बहलते देखा
> आशियाँ फूंक के अपना उसे जलते देखा
> हैरत-अंगेज है, ऐ शमए-लहद! तेरी हयात
> जल बुझी जिसके लिए उसने न जलते देखा
> मेरे साक़ी तेरी महफ़िल में किसे होश आये
> और दो घूंट दिये जिसको सँभलते देखा
> काँटे काँटे का क़लक है तेरे दीवाने को
> रख लिया दिल में जो तलवों से निकलते देखा
> जब्ते-गिरिया से यहाँ जान के लाले हैं 'रवाँ'
> और वो शाकी हैं कि आँसू न निकलते देखा

: १२ :

ग़ज़ल का पुनरुत्थान

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मौलाना अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' और मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से नवीनता का जो आन्दोलन उठाया, उसने एक बार तो उर्दू की पुरानी शायरी की नींव हिला कर रख दी। मालूम होता था कि रामपुर और हैदराबाद के दरबारों के अलावा गजल-गोई कहीं रह ही न जायेगी। इन दरबारों में भी 'दाग़', 'अमीर' आदि की काव्य-प्रतिभा भी बुझने वाले दिये की आखिरी भड़क-सी लग रही थी। पश्चिमी यथार्थवाद और सामाजिकता के प्रचण्ड वेग में उर्दू गजल की कोमल कल्पना और वैयक्तिक चेतना के ताने-बाने टूटे जा रहे थे। प्रेम की कोमल और समर्पणवादी अनुभूतियों का स्थान साहित्य से उठता-सा मालूम होता था और उसका स्थान सामाजिक आत्म-विश्वास और कर्मक्षेत्र में डटने की उत्कट अभिलाषा लेती मालूम होती थी।

किन्तु दरअस्ल गजल की व्यक्तिवादी चेतना का आधार इतना कमज़ोर नहीं था, जितना ऊपर से देखने पर मालूम होता था। प्रेम की भावना उतनी ही स्वाभाविक है, जितनी भूख और प्यास। कोई व्यक्ति देश-प्रेमी हो या देश-द्रोही, हिन्दू हो या मुसलमान, पुराण-पंथी हो या प्रगतिशील, हरएक को भूख, प्यास और नींद एक-सी लगती है। इसी प्रकार हरएक के हृदय में प्रेम और उसके अनिवार्य तत्व आत्म-समर्पण की भावना थोड़ी-बहुत मौजूद ही रहती है।

उर्दू काव्य के पीछे सूफ़ीवाद की वह शक्तिशाली परम्परा थी, जिसे न कर्मकाण्ड का पशु-बल दबा सका, न समय के प्रवाह ने जिसकी धार [illegible] किया। कारण यह है कि सूफ़ीवादी चेतना उसी प्रकार स्वाभाविक है, जैसे कि पार्थिव जीवन की आवश्यकताओं का बोध। चेतना का उच्च स्तर प्राप्त कर लेने के बाद उसे पूरी तरह छोड़ा या उसे भुलाया

[illegible] था।

इसीलिए सामाजिकता और यथार्थवाद का रंग भी उर्दू की सूफीवादी चेतना ने ही—जो [illegible] के बंधन में [illegible] दरबारों में बंद हो जाने के कारण [illegible] हुई मालूम होती थी—सँभाला। उसने ग़ज़ल को और निखार और सँवारे हुए रूप में सामने रखा, कविता में दार्शनिक तत्त्वों का समावेश किया और ईश्वर की सत्ता की बात कभी किसी से भुलाने न दी। प्रेम की भावना को उसने भूख-प्यास जैसी पार्थिव आवश्यकताओं के स्तर पर न उतरने दिया, बल्कि सर्वोपरि परिष्कृत मानवीय चेतना के रूप में उसे अक्षुण्ण बनाये रखा। सूफीवादी प्रेम निस्संदेह अलौकिक और आध्यात्मिक है, किन्तु वह अपना सम्बन्ध पूर्णतः समर्पणवादी भौतिक प्रेम से भी बनाये रखता है। इसी कारण आगे चलकर सूफीवादी प्रेम की निर्मलता से प्रेरित होकर आगे आनेवाले कवियों—'हसरत' मोहानी आदि—ने अपनी पार्थिव प्रेम की चेतना में इतना निखार पैदा कर दिया कि उनकी कविताएँ साहित्य की अमूल्य निधि बन गयीं। दरअसल 'हाली' के बाद सूफीवादी चेतना के प्रसार को पुनरुत्थान (revival) नहीं, बल्कि सँभाल (survival) कहना चाहिए। इस सँभाल में अग्रणी दो कवि दिखाई देते हैं—एक तो 'शाद' अज़ीमाबादी और दूसरे 'आसी' गाज़ीपुरी। यद्यपि टेक्नीक के क्षेत्र में ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं—'आसी' लखनवी शैली को अपनाते हैं, किन्तु आधारभूत चेतना इन दोनों महाकवियों की एक ही थी।

खान बहादुर नवाब अली मुहम्मद खाँ 'शाद' अज़ीमाबादी—'शाद' ही वे स्वनामधन्य कवि हैं, जिन्होंने उर्दू में 'दर्द' की परम्परा को टूटने न दिया और

बाद में जाकर जिनमे 'असगर' गोंडवी, 'फानी' बदायूनी, 'जिगर' मुरादाबादी आदि ने प्रेरणा पायी और उर्दू कविता के दामन में मोती भर दिये। शाद के पिता सय्यद अब्बास मिर्ज़ा इलाहाबाद में ही पैदा हुए थे, किन्तु चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में अज़ीमाबाद (पटना) चले गये, जहाँ १८४६ ई० में सय्यद अली मुहम्मद की पैदाइश हुई। यह परिवार बहुत ज़माने से अपने विद्या-प्रेम और राजनीतिक प्रतिष्ठा के लिए प्रसिद्ध रहा है। 'शाद' की शिक्षा चार वर्ष की अवस्था से आरंभ हुई थी। प्रारंभिक पुस्तकें उन्होंने कई मौलवियों से पढ़ीं, किन्तु इनके असली गुरु अपने काल के प्रसिद्ध विद्वान् मीर सय्यद थे। उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा में रहकर 'शाद' को उर्दू भाषा पर इतना अधिकार हो गया कि वर्तमान युग के लिए उनकी भाषा आदर्श बन गयी। अरबी-फ़ारसी की पाठ्य पुस्तकें पढ़ने के बाद एक बुज़ुर्ग के कहने पर उन्होंने थोड़ी-सी अंग्रेज़ी भी पढ़ी। फिर भी उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा अधिक न चल सकी और वे कुछ ही समय के बाद इसे छोड़ बैठे। अरबी-फ़ारसी की शिक्षा काफ़ी ऊँची हुई।

'शाद' ने आरंभ में अपनी कविताओं का संशोधन दो सज्जनों से कराया। इनके नाम नाज़िर वज़ीर अली 'इबरती' और मौलाना मीर तसद्दुक़ हुसैन 'जल्मी' थे। 'शाद' ने इन दोनों बुज़ुर्गों से साहित्य तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई पुस्तकें पढ़ीं। किन्तु काव्य-क्षेत्र में वास्तविक प्रगति अपने काव्य-गुरु सय्यद शाह उल्फ़त हुसेन 'फ़रियाद' के पथ-प्रदर्शन में की। 'फ़रियाद' ख़्वाजा मीर 'दर्द' के शिष्य थे और उनकी सूफ़ीवादी प्रेम-मार्गी परम्परा में पूरी तरह रँगे हुए थे। इन्हीं के असर से 'शाद' ने सूफ़ीवादी परम्परा को इतना आगे बढ़ाया कि उसने और भावों को दबा-सा दिया।

'शाद' ने अपना सारा जीवन उर्दू साहित्य की सेवा में व्यतीत किया। ख़ानदानी कुलीनता के कारण उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त थी। सर[illegible] ने १८९१ ई० में उन्हें 'ख़ान बहादुर' की उपाधि से सम्मानित किया। [illegible] वर्ष तक वे आनरेरी मैजिस्ट्रेट रहे और चौदह वर्षों तक सरकार द्वारा [illegible] निर्देशित म्यूनिसिपल कमिश्नर रहे। उन्हें सरकार से एक हज़ार रु[illegible] सालाना वज़ीफ़ा मिलता रहा। इस प्रकार सम्मानपूर्वक ८१ वर्ष का जी[illegible] व्यतीत करके शाद ने १९२७ ई० में परलोक-गमन किया।

'शाद' को धर्म और दर्शन से विशेष रूप से दिलचस्पी थी। उन्होंने स्लामी धर्म, दर्शन, इतिहास आदि की पूर्ण शिक्षा तो प्राप्त की ही, साथ ही होंने अन्य धर्मों का भी विस्तृत और गंभीर अध्ययन किया था। ईसाइयों बाइबिल के दोनों भागों 'ओल्ड टेस्टामेंट' और 'न्यू टेस्टामेन्ट', पारसियों 'ज़न्द' और 'पाज़न्द' तथा हिन्दुओं की गीता और रामायण का भी उन्होंने भीरतापूर्वक अध्ययन किया था।

'शाद' के काव्य के सम्बन्ध में आलोचक-प्रवर 'नियाज़' फ़तेहपुरी की म्मति उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—"शाद बलिहाज़े-तग़ज़्ज़ुल बड़े मरतबे शायर थे। उनके हाँ मीर-ओ-दर्द का सोज़ो-गुदाज़, मोमिन की नुक्ता-ज़ी, ग़ालिब की बुलन्द-परवाज़ी और अमीर-ओ-दाग़ की सलामत सब एक हो रूप में ऐसी मिली-जुली नज़र आती है कि अब ज़माना मुश्किल से ही कोई सरी नज़ीर पेश कर सकेगा।" उक्त सम्मति में हमें कोई संशोधन नहीं करना । हम केवल इसकी कुछ विस्तृत व्याख्या करना चाहते हैं।

ऊपर ख़्वाजा मीर 'दर्द' की परम्परा की बात आयी है। 'दर्द' की ज़लों की विशेषता का उनके प्रकरण में उल्लेख हो चुका है। इस परम्परा के सम्बन्ध में 'शाद' के शिष्य 'हमीद' अज़ीमाबादी द्वारा लिखित 'शाद' के दीवान 'मैख़ान-ए-इल्हाम' की भूमिका से एक उद्धरण देना काफ़ी समझते हैं। 'हमीद' अज़ीमाबादी लिखते हैं—

"ख़्वाजा मीर दर्द के चार मशहूर शागिर्द थे जिनकी बदौलत हिन्दुस्तान के चारों कोनों पर 'दर्द' का फ़लसफ़ए-शायरी चमका। उनमें अव्वल क़ायमु-द्दीन 'क़ायम' थे जिनका असर दिल्ली से पंजाब तक पहुँचा। दूसरे मीर हसन 'हसन' थे। तीसरे ख़्वाजा मुहम्मद जान 'तपिश' जिनके ज़रिये से बंगाले और बिलख़ुसूस मुर्शिदाबाद में ख़्वाजा 'दर्द' की शायरी फैली और उनके फ़ल्सफ़ए-तसव्वुफ़ ने रिवाज पकड़ा। चौथे हज़रत 'अश्की' थे जिनके क़दमों की बरकत से बिहार, ख़ुसूसन अज़ीमाबाद, 'दर्द' के रंग से दर्द-आश्ना हुआ। हज़रते अश्की का यह रंग बिहार और अज़ीमाबाद में बहुत जल्द शायर-ओ-मानूस हो गया क्योंकि हज़रते-'रासिख़' अज़ीमाबादी जो रंग यहाँ छोड़ गये थे यहाँ के

अहले-होश उसी रंग में रँगे हुए नजर आते थे। 'शाद' ब-वक्त-वारसना* हज़-रते-अरनी के शागिर्द और ख्वाजा 'दर्द' के स्कूल के जय्यद तालिबुलइल्म थे उनके कलाम में भी वही असर नजर आता है जो 'दर्द' के मदरसे के तुलबा का तुर्रए-इम्तियाज़ था। लेकिन कहीं-कहीं उनका कलाम उस लखनवी मज़ाक से भी मुतअस्सिर नजर आता है जो उस वक्त अवध में रायज था। जब मीर 'अनीस' मग़फ़ूर अज़ीमाबाद आये तो 'शाद' पर उनकी शायरी और खुसूसन उस फ़ल्सफ़े का असर पड़ा जो 'अनीस' के बे-मिस्ल सलामों में पाया जाता था। इससे असर-पिज़ीर होकर 'शाद' ने इन चीजों को अपने हाँ दाखिल करके अपने फ़ल्सफ़ए-शायरी की एक ऐसी मुस्तहकम बुनियाद रखी जो उस वक़्त मुरव्वजा शायरी को रौंदने वाली थी। मरहूम का यह रंग १८९८ ई० के बाद से शुरू होकर १९२६ ई० तक एक तरह कायम रहा।"

'शाद' के काव्य पर आन्तरिक रूप से तो ख्वाजा मीर 'दर्द' के सूफ़ीवादी प्रेम मार्ग का पूरा प्रभाव था, जिसके साथ ही प्राचीन भारतीय तथा अन्य गैर-इस्लामी दर्शनों का भी पुट रहता था, किन्तु भाषा और शैली के बारे में अगर उन्हे पूरी तरह मीर 'अनीस' का अनुयायी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'अनीस' की शैली की विशेषता भाषा की सादगी, सफाई और घुलावट है। मुहावराबन्दी, रोज़मर्रा की भाषा और अभिव्यक्ति की स्थानीयता उनके काव्य को अत्यन्त प्रभावपूर्ण बना देती है। 'अनीस' की इन्ही विशेषताओ को 'शाद' ने पूरे तौर पर गज़लो में पैदा कर दिया और यही उनकी उर्दू कविता को ऐसी देन है, जिसके कारण बीसवी शताब्दी की गज़ल-गोई में वे पथप्रदर्शक के रूप में रहे हैं और रहेंगे। 'अनीस' का प्रभाव उनकी गज़लों तक ही सीमित हो, ऐसी बात नही है। उन्होंने 'अनीस' के रंग में मरसिये भी ज़ोरदार कहे हैं और उनके मरसिये काफ़ी मशहूर भी हैं। फिर भी मरसियो में उनका वह नाम न हो सका, जो गज़लों में है। इसका कारण स्पष्ट है। मरसियों में उन्होंने जो विशेषताएँ दिखायी, वे 'अनीस' पहले ही दिखा चुके थे। मरसियों में यही कहा जा सकता

*'शाद' के उस्ताद हज़रत शाह उल्फ़त हुसैन साहब 'फरियाद' अज़ीमाबाद 'दर्द' के निधन के बाद उनके शिष्य 'अश्की' से काव्य संशोधन कराने लगे थे।

है कि वे उन थोड़े-से लोगों में थे जो 'अनीस' के बनाये हुए मार्ग पर सफलता-पूर्वक चल सके। किन्तु इतनी ही विशेषता किसी को किसी क्षेत्र में प्रमुख स्थान दिलाने में समर्थ नहीं हो सकती। हाँ, ग़ज़लों में उन्होंने जो नयी राह निकाली और जिस तरह 'दर्द' की भावनात्मक उच्चता को 'अनीस' के भाषा-सौष्ठव के साथ जोड़ दिया, वह अपनी जगह बे-जोड़ चीज़ है और उर्दू काव्य संसार इसके लिए 'शाद' अज़ीमाबादी का सदैव ऋणी रहेगा।

'शाद' की भाषा के बारे में यह कह देना भी ज़रूरी है कि यद्यपि वे देशज मुहावरेदार और सरल शैली के पक्षपाती हैं, फिर भी जहाँ कहीं सूफ़ीवादी दर्शन की व्याख्या करने लगते हैं, वहाँ सरलता से काम नहीं लेते, बल्कि पूरे के पूरे मिसरे अरबी और फ़ारसी के लिख जाते हैं। ऐसे अवसरों पर 'दर्द' की याद आती है, जो गूढ़तम और गहनतम दार्शनिक समस्याओं को अत्यन्त सफलता-पूर्वक सरलतम भाषा और शैली में कह जाते थे। फिर भी ऐसे दुरूह स्थल 'शाद' की कविता में कम ही हैं और उनकी शैली साधारणतः दुरूह नहीं कही जा सकती।

एक बात और भी कह देना आवश्यक मालूम होता है। 'शाद' अज़ीमाबादी बीसवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की ग़ज़ल-गोई को जोड़ने वाली कड़ी का काम करते हैं। यद्यपि उनके यहाँ उन्नीसवीं शताब्दी की उच्छृंखलता नहीं दिखाई देती, फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ प्रतीकों—कन्द, क़बा, लटपटी दस्तार, कान के मोती, क़ब्र पर सुगजमालों की भीड़ आदि—से उन्हें बहुत मोह है, यद्यपि उनके ज़माने में ही ये पुराने प्रतीक काफ़ी छूट गये थे। प्रियतम के हाथों प्रेमी की हत्या का विषय, जिससे आजकल सभी चिढ़ते हैं, उन्हें इतना प्रिय है कि लगभग हर ग़ज़ल में एक आध शेर इस मज़मून का भी आ जाता है। साथ ही साथ उन्होंने कई नये विषय इस अपने अन्दाज़ से पेश किये हैं, जो उन्नीसवीं शताब्दी के बड़े से बड़े उस्ताद के लिए असम्भव था। इस प्रकार 'शाद' को किसी काल में साथ बांधा नहीं जा सकता।

नीचे 'शाद' के कुछ शेर उदाहरण-स्वरूप दिये जा रहे हैं, ताकि उनकी भाषा और शैली का अन्दाज़ा हो सके—

बुलाया कोह पर शीरीं को ऐ फ़रहाद क्या कहना
बड़े पत्थर को पानी कर दिया, उस्ताद क्या कहना!
तेरी मजमूं-निगारी, नुक्ता-संजी 'शाद' क्या कहना
बनाये सैकड़ों उस्ताद, ऐ उस्ताद क्या कहना

नज़र मिलायी नज़र से कि दिल पे आयी चोट
दिखायी तूने किधर और किधर लगायी चोट
दिल अपना सीने में रह रह के गुदगुदाने लगा
किसी ख़याल से हमने अगर छुपायी चोट

न ख़ुशी से ख़ुश है न ग़म से ख़ुश, न मकाँ से ख़ुश न मकीं से ख़ुश
तो ख़ुदा ने हमको दिया है दिल कि न आसमाँ न ज़मीं से ख़ुश
इसी सोच में हूँ पड़ा हुआ कि वजूद के हैं हदूद क्या
मुझे दिल मिला भी तो वह मिला कि यहाँ से ख़ुश न वहाँ से ख़ुश
तुम्हें 'शाद' चाहिए अब यही न पड़ो गुमान के फेर में
कि ज़माने भर में हरएक है फ़क़त अपने दिल के यक़ीं से ख़ुश

उठती जवानी, उज़्वे-मुनासिब सांवली रंगत हाय सितम!
आँखें रसीली, बातें भोली, चाल क़यामत हाय सितम!
बुअदे-मुसाफ़त, रात अँधेरी, शमअ न मिशअल, मैं तनहा
ज़ोफ़ से गिरना, साँस का चढ़ना, शिद्दते-वहशत हाय सितम!

असीरे-जिस्म हूँ, मेयादे-क़ैद ला-मालूम
ये किस गुनाह की पादाश है ख़ुदा मालूम
सफ़र ज़रूर है और उज़्र की मजाल नहीं
मज़ा तो यह है कि मंज़िल न रास्ता मालूम
सुनी हिकायते-हस्ती तो दरमियाँ से सुनी
न इब्तदा की ख़बर है न इन्तहा मालूम

तलब करें भी तो क्या हम तलब करें ऐ 'शाद'
हमें तो आप नहीं अपना मुद्दआ मालूम

शाह अब्दुल अलीम 'आसी' ग़ाज़ीपुरी—'आसी' एक सूफ़ी फ़क़ीर थे। इनके जीवन के बारे में विस्तृत रूप से कहीं कुछ नहीं मिलता। इनके जन्म का समय भी हमें ज्ञात नहीं हो सका है। अभी तक इनकी रचनाएँ भी संग्रह के रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी हैं। सिर्फ़ इतना मालूम हुआ है कि कविता में यह लखनवी शैली के अनुगामी थे। इनका देहावसान १९१७ ई० में हुआ।

'आसी' के काव्य में सूफ़ीवादी चेतना पूरी तरह से उभरी है। फिर भी 'शाद' की शैली से उनकी शैली एकदम भिन्न है। 'शाद' के शेर दर्द में डूबे होते हैं, 'आसी' मस्ती में नारे मारते हैं। मस्ती का जो स्तर बाद में 'असग़र' गोंडवी ने क़ायम किया था—यानी पूर्णत: आध्यात्मिक मस्ती—उसकी भी 'आसी' परवा नहीं करते। वे लखनऊ के नासिख़ स्कूल के अनुयायी थे, इसलिए उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी इस तरह भौतिक प्रेम के प्रतीकों में व्यक्त की हैं कि कभी-कभी उनमें अश्लीलत्व दोष भी थोड़ा-बहुत आ जाता है। प्रियतम का नख-शिख वर्णन भी वे कर दिया करते हैं। भाषा के बारे में उनमें और 'शाद' में कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम होता, सिवाय इसके कि 'आसी' पूर्णत: लखनवी भाषा बोलते हैं और 'शाद' लखनऊ या दिल्ली कहीं की भाषा में बँधे नहीं दिखाई देते।

नीचे 'आसी' की ग़ज़लों के कुछ शेर नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं—

कोई तो पी के निकलेगा, उड़ेगी कुछ तो बू मुंह से
दरे - पीरे - मुग़ाँ, पर मे - परस्तो ! चलके बिस्तर हो
किसी के दर पे 'आसी' रात यह रो रो के कहता था
कि आख़िर मैं तुम्हारा बन्दा हूँ तुम बन्दा - परवर हो

जो रही और कोई दम यही हालत दिल की
आज है पहलुए - ग़मनाक से रुख़सत दिल की
घर छुटा शहर छुटा, कूचए - दिलदार छुटा
कोहो - सहरा में लिये फिरती है वहशत दिल की

इतने बुतख़ानों में सजदे एक काबे के इवज
कुफ़्र तो इस्लाम से बढ़कर तेरा गिरवीदा है
हश्र में कहना किसी का फेर कर मुंह हाय हाय
'आसी' - ए - गुस्ताख़ का हर जुर्म ना - बख़्शीदा है

वहां पहुंच के ये कहना सबा सलाम के बाद
कि तेरे नाम की रट है ख़ुदा के नाम के बाद
यहां भी वादए - दीदार इस तरह टाला
कि ख़ास लोग तलब होंगे बारे - आम के बाद

इश्क़ कहता है कि आलम से जुदा हो जाओ
हुस्न कहता है जिधर जाओ नया आलम है

इतना तो जानते हैं कि आशिक़ फ़ना हुआ
और इससे आगे बढ़के ख़ुदा जाने क्या हुआ

अकबर, इकबाल और चकबस्त के नव संदेशों के काल ही उर्दू ग़ज़ल के पुनरुत्थान की पूरी चेष्टा होने लगी थी और हाली तथा आज़ाद के गंभीर आरोपों का उत्तर देने के लिए ग़ज़ल ने अपने को फिर सँभाल लिया। इस पुनरुत्थान की एक प्रमुख धारा सूफ़ीवाद का आधार लेकर बही और उसने ग़ज़ल को फिर पुरानी प्रतिष्ठा दिला दी। शाद अज़ीमाबादी से प्रेरणा पाकर हसरत मौहानी, फ़ानी बदायूनी, असगर गोंडवी और ग़ालिब से प्रेरणा पाकर यगाना चंगेज़ी ने ग़ज़ल में नयी राहें खोल दी। आगे इनका संक्षिप्त उल्लेख होगा।

फ़ज़लुल हसन 'हसरत' मौहानी—मौलाना हसरत की ख्याति राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में हुई और यद्यपि वे किसी भी क्षेत्र में प्रथम पंक्ति के नेताओं में न आ सके, तथापि उनके व्यक्तित्व के निरालेपन ने दोनों क्षेत्रों में उनकी धाक बिठा दी, और उनका स्थान सदा के लिए सुरक्षित कर दिया।

मौलाना फ़ज़लुल हसन हसरत का पैतृक आवास तो जिला फ़तेहपुर हस्वा के किसी गाँव में था, किन्तु उनका जन्म और लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा उनकी ननिहाल जिला उन्नाव के क़स्बे मौहान में हुई थी। उनका जन्म १८७५

ई० में हुआ था। ननिहाल वाले खाते-पीते जमींदार थे, उन्होंने पाँच-छः वर्ष स्थानीय मकतब में शिक्षा दिलाने के बाद ११ वर्ष की अवस्था में अंग्रेजी पढ़ने के लिए अलीगढ़ के मुस्लिम कालेज में भेज दिया। यहीं पर उन्होंने राजनीति और साहित्य दोनों से ऐसा नाता जोड़ा जो अन्त तक नहीं टूटा।

१८९५ ई० में बी० ए० पास करने के दौरान लौटे और अगले वर्ष लखनऊ चले गये। वहाँ वे साहित्य-साधना में लग गये। वे कविता में 'तसलीम' लखनवी के शागिर्द हो गये। 'तसलीम' 'मोमिन' के शिष्य 'नसीम' देहलवी के शिष्य थे। इस प्रकार मोमिन की परम्परा में एक और मजबूत कड़ी जुड़ गयी।

लखनऊ में कुछ दिन रहने के बाद 'हसरत' फिर अलीगढ़ आ गये, क्योंकि लखनऊ का जीवन उनके लिए निष्क्रिय सिद्ध हो रहा था। जीविकोपार्जन का प्रश्न भी उनके सामने था। सरकारी नौकरी की उन्होंने बात ही नहीं सोची। एक बार उन्हें जजी का लालच दिया गया था, लेकिन उन्होंने उसे ठुकरा दिया। साहित्य को ही उन्होंने जीविका का साधन बनाया। किसी तरह एक प्रेस खरीदा और अपना साहित्यिक मासिक पत्र 'उर्दूए-मुअल्ला' निकालने लगे। इस काम में उन्हें उनकी धर्मपत्नी से, जो स्वयं भी लेखिका और आलोचिका थीं, बड़ी सहायता मिली। इसी अरसे में उन्होंने चमड़े का भी व्यापार किया, किन्तु शीघ्र ही उसे छोड़ दिया। साथ ही उन्होंने ब्रिटिश-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया और सबसे पहले जेल जाने वाले राजनीतिज्ञों में हसरत का नाम प्रमुख हो गया। सरकार ने जेल में और बाहर भी उन पर बड़ी सख्तियाँ कीं, लेकिन 'हसरत' अपनी धुन के पक्के थे। उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा, उनकी काव्य-रचना अधिकतर जेल में ही हुई। किन्तु असहयोग आन्दोलन की असफलता के बाद साम्प्रदायिक तनातनी के वातावरण में वे मुस्लिम लीग में शामिल हो गये। फिर भी मुस्लिम लीग में उन्होंने वामपक्षीय उग्रवाद का झंडा हमेशा ऊँचा रखा और इसी कारण वे मि० जिन्ना तथा अन्य प्रतिक्रिया-वादियों की निगाहों में उठ न सके। इस शताब्दी के चौथे दशक में वे अलीगढ़ से कानपुर आ गये। यहीं उनकी बेगम और पुत्री का देहान्त हो गया। पाकिस्तान बनने के बाद भी मौलाना भारत में ही रहे और मुसलमानों तथा किसान मजदूरों के लिए राजनीतिक सेवाएँ करते रहे। १३ मई १९५१ ई० को लखनऊ में

उनका देहान्त हुआ और उन्हें उनके इच्छानुसार उनके धर्मगुरु की क़ब्र की पांयती की ओर दफ़न किया गया।

मौलाना 'हसरत' के काव्य को देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य होता है कि यद्यपि उनका जीवन क्रान्तिकारी था, तथापि उन्होंने साहित्य में केवल शृंगार का सहारा पकड़ा है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उनका शृंगारमय साहित्य उनके तूफ़ानी राजनीतिक जीवन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। साहित्यिक दृष्टि से ध्यान देने की बात यह नहीं है कि उन्होंने क्या लिखा, महत्त्व इसी का है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, वह कैसा लिखा। पहले ही कहा जा चुका है कि मौलाना 'हसरत' मोमिन की परम्परा के पृष्ठपोषक थे। यह परम्परा एक ओर तो लखनवी कविता के बेजान आकारवाद से अपना दामन बचाये थी और दूसरी ओर सूफ़ीवाद की दार्शनिक उड़ान से। मौलाना खुद सूफ़ी थे और उनके शेरों में कहीं-कहीं इसका असर साफ दिखाई देता है। फिर भी उनके साहित्य की प्रेरक-शक्ति दर्शन नहीं, बल्कि संवेदना थी। मोमिन की तरह वे भी वास्तविक सांसारिक प्रेम के जीते-जागते और तड़पते हुए चित्र पेश करते थे। यहाँ तक कि वे कभी-कभी रक़ीब (प्रेम-प्रतिद्वंद्वी) का भी उल्लेख करने लगते थे जो कि आधुनिक रुचि के विपरीत है। फिर भी उनके चित्र इतने सजीव और वास्तविक होते हैं कि उनमें प्रेम-पात्र के पद पर हमें उर्दू के परम्परा-वादी क्रूर और निष्ठुर पुरुष प्रियतम के स्थान पर आरंभिक बीसवीं शताब्दी की मध्यवर्गीय किशोरिकाओं के दर्शन होते हैं जो लज्जावश और समाजभय से प्रेम का प्रतिदान खुल कर तो नहीं कर सकतीं, किन्तु अपने हृदय में भी प्रेम की कसक का अनुभव करती हैं और लुकाछिपी करके कभी-कभी प्रेमी से मिल भी लेती हैं।

'हसरत' की दूसरी विशेषता यह है कि वास्तविक प्रेम के चित्रण के बावजूद उनके यहाँ शालीनता और सुथरापन बराबर रहता है, छिछोरापन कभी देखने को नहीं मिलता। यहाँ तक कि प्रेमिका को उपालंभ भी देते हैं तो उसमें भी उसकी और अपनी मर्यादा का पूरा ध्यान रखते हैं।

'हसरत' बहुत शीघ्र लिखने वाले थे। राजनीतिक जीवन की व्यस्तता के कारण उन्हें लिखने का अवसर कम मिला। फिर भी तेरह दीवान और लगभग

ह दर्जन आलोचना पुस्तकें उनके ज्ञान की विशालता और अनुभूति की तीव्रता परिचायक हैं। निम्नलिखित शेरों से उनकी रचनाओं का नमूना मालूम गा—

शबे-फ़ुरक़त में याद उस बेख़बर की बार बार आयी
भुलाना हमने भी चाहा मगर बे-इख़्तियार आयी
इलाही रंग यह कब तक रहेगा हिज्रे-जानां में
कि रोज़े-बेदिली गुज़रा तो शामे-इन्तज़ार आयी

दिल ग़म से जो कहता है मुहब्बत का बुरा हो
ऐसे में तेरी याद जो आ जाये तो क्या हो
पास आओ तो कुछ दिल की तपिश और सिवा हो
हरचन्द कि तुम दर्दे-जुदाई की दवा हो

निगाहे-यार जिसे आश्नाए-राज़ करे
वो अपनी ख़ूबी-ए-क़िस्मत पे क्यों न नाज़ करे
दिलों को फ़िक्रे-दो आलम से कर दिया आज़ाद
तेरे जुनूं का ख़ुदा सिलसिला दराज़ करे
तेरे करम का सज़ावार तो नहीं 'हसरत'
अब आगे तेरी ख़ुशी है जो सरफ़राज़ करे

एक दर्जन आलोचना पुस्तकें उनके ज्ञान की विशालता और अनुभूति की तीव्रता की परिचायक हैं। निम्नलिखित शेरों से उनकी रचनाओं का नमूना मालूम होगा—

> शबे-फ़ुरक़त में याद उस बेख़बर की बार बार आयी
> भुलाना हमने भी चाहा मगर बे-इख़्तियार आयी
> इलाही रंग यह कब तक रहेगा हिज्रे-जानाँ में
> कि रोज़े-बेदिली गुज़रा तो शामे-इन्तज़ार आयी

> दिल ग़म से जो डरता है मुहब्बत का बुरा हो
> ऐसे में तेरी याद जो आ जाये तो क्या हो
> पास आओ तो कुछ दिल की तसल्ली और सिवा हो
> हरचन्द कि तुम दर्दे-जुदाई की दवा हो

> निगाहे-यार जिसे आशनाए-राज़ करे
> वो अपनी ख़ूबी-ए-क़िस्मत पे क्यों न नाज़ करे
> दिलों को फ़िक्रे-दो आलम से कर दिया आज़ाद
> तेरे जुनूँ का ख़ुदा सिलसिला दराज़ करे
> तेरे करम का सज़ावार तो नहीं 'हसरत'
> अब आगे तेरी ख़ुशी है जो सरफ़राज़ करे

मिर्ज़ा वाजिद हुसैन 'यगाना' चंगेज़ी—मिर्ज़ा वाजिद हुसैन [illegible] पहले 'यास' तख़ल्लुस करते थे और बाद में 'यगाना' हो गये। [illegible] के शागिर्द थे तथापि उनकी मूर्तिवादी परम्परा से हटकर [illegible] चिन्तन की परम्परा में उसी प्रकार चले गये जैसे [illegible] के शिष्य होते हुए भी 'ग़ालिब' की परम्परा में चले गये थे। [illegible] शैली के साथ मिलकर इन्होंने भी [illegible] किया किन्तु [illegible] 'हसरत' की दिशा से विपरीत थी। [illegible] को ही आधार बनाते थे और [illegible] करते थे, 'यगाना' को [illegible]

नहीं, उनका प्रियतम कोई व्यक्ति न होकर सौन्दर्य मात्र है। इस प्रकार उनकी चेतना ऊँची जरूर उठी है, किन्तु जीवन और उसकी संवेदनाओं का नहीं, बल्कि भावनात्मक चिन्तन की आलौकिक स्थितियों का ही चित्रण कर सकी है।

मिर्ज़ा वाजिद हुसेन १८८४ ई० में पटना के मुहल्ला मुगल पुरा में पैदा हुए। शिक्षा-दीक्षा पटना में ही हुई और वहीं कविता में पहले 'बेताब' और फिर 'शाद' अजीमाबादी के शिष्य हो गये। १९०३ ई० में उन्होंने मेट्रिक पास किया और दूसरे साल मटिया बुर्ज और कलकत्ता गये। वहां सख्त बीमार पड़े। इलाज के लिए दूसरे वर्ष लखनऊ आये तो यहीं के हो रहे और शादी करके बस गये। लखनऊ में उन्होंने तत्कालीन प्रचलित निराशावादी कविता के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। इस पर लखनऊ के जमे हुए उस्ताद बिगड़ खड़े हुए। 'यगाना' ने, जो उस समय 'यास' के नाम से कविता करते थे, एक साहित्यिक पत्र भी निकाला और विरोधियों का डटकर मुकाबिला किया। जैसा कि ऐसी बहसों में हमेशा होता है, बात सिद्धांतों से उतर कर व्यक्तियों पर आ गयी और 'यगाना' साहब पर इस निरन्तर विरोध की ऐसी विचित्र प्रतिक्रिया हुई कि जिन 'गालिब' से उन्होंने प्रेरणा ली थी, उन्हीं को अब गालियां देकर अपने से नीचा ठहराने लगे। कटुता बहुत बढ़ी तो लाहौर चले गये और मौलाना ताजवर नजीबाबादी के साथ साहित्य-सेवा करने लगे। वहाँ भी इनकी अपने स्वभाव के कारण पंजाबियों से न पटी और फिर लखनऊ आ गये। कुछ दिन बाद महाराजा सर किशन प्रसाद ने इन्हें हैदराबाद बुला लिया। वे वहाँ किसी जिले में सब-रजिस्ट्रार हो गये। रिटायर होकर फिर लखनऊ में आ गये, लेकिन लखनऊ वालों ने अब भी उन्हें क्षमा न किया और एक बार धर्म का बहाना लेकर सरेबाजार इनका घोर अपमान किया और अपने मुँह पर कालिख लगा ली। अंत में सत्तर वर्ष की अवस्था में मिर्ज़ा यगाना का लखनऊ में देहावसान हो गया।

मिर्ज़ा 'यगाना' के तीन कविता-संग्रह हैं—'निश्तरे-यास', 'गंजीना' और 'आयाते-विजदानी'। आपके कलाम का नमूना निम्नलिखित है—

किसी के हो रहो, अच्छी नहीं ये आज़ादी
किसी की जुल्फ से लाज़िम है सिलसिला दिल का

शाह! ये बन्दए-ग़रीब आप से लौ लगाये क्यों
आ न सके जो वक़्त पर वक़्त पे याद आये क्यों

इतना तो ज़िन्दगी का कोई हक़ अदा करे
दीवाना वार हाल पे अपने हँसा करे

शौकत अली ख़ाँ 'फ़ानी' बदायूनी—करुणा के क्षेत्र में 'फ़ानी' बदायूनी से आगे बढ़ा हुआ कवि शायद ही कोई हो। 'ज़फ़र' की करुणा सीमित है और 'मीर' की करुणा अपने अन्दर महान् आत्म-सम्मान लिये है, किन्तु 'फ़ानी' की करुणा नितान्त करुणा है। इस दृष्टि से वे अपने ढंग के एकमात्र शायर हैं।

इनके पूर्वज काबुल के रहने वाले थे। शाह आलम के समय में इनके पूर्वज नवाब बशारत ख़ाँ भारत आये और उन्हें बदायूँ की गवर्नरी मिल गयी। ग़दर में अँगरेज़ों ने इनकी जागीर ज़ब्त कर ली और इनके पिता मुहम्मद शुजाअत अली ख़ाँ को पुलिस इन्स्पेक्टरी करनी पड़ी। शौकतअली ख़ाँ का जन्म १३ सितम्बर १८७९ ई० को बदायूँ में हुआ था। उन्होंने बदायूँ से एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की। १९०१ ई० में म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद से उन्होंने बी० ए० पास किया। कविता की ओर बचपन से ही रुचि थी। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने उस ज़माने के सर्वश्रेष्ठ कवि 'दाग़' के पास संशोधनार्थ अपनी कुछ ग़ज़लें भेजीं। इनके पिता को कविता से चिढ़ थी। उन्हें मालूम हुआ तो इनकी ख़ूब पिटाई की गयी। फलतः 'दाग़' की शागिर्दी ख़त्म हो गयी। पिता ने ही ज़ोर देकर इन्हें वकालत पढ़ने के लिए विवश किया। इनकी स्वाभाविक रुचि वकालत की ओर नहीं थी, इसीलिए दो दो कालिजों—म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद और अलीगढ़ के मुस्लिम कालेज—में उन्होंने वकालत का दो वर्ष का कोर्स सात वर्ष में पूरा किया और १९०८ ई० में एल-एल० बी० की परीक्षा पास की। इस अरसे में इनका कविता का 'मरज़' भी क़ायम रहा। शायद इसी कारण परीक्षाओं में असफल होते रहे। घरवालों का विरोध बहुत बढ़ा तो १९०६ ई० में कविता करना बिलकुल छोड़ दिया और तनमन से अपने पेशे की तय्यारी में लग गये। कुछ दिनों बदायूँ और बरेली में प्रैक्टिस

करने के बाद लखनऊ आ गये और १९२३ ई० तक यहाँ वकालत की। लेकिन मालूम होता है कि तकदीर ने ही उन्हें वकालत के लायक नहीं बनाया था। इसके बाद वे आगरे चले गये, जहाँ प्रेक्टिस के साथ ही उन्होंने एक अन्य साहित्य-कार 'मानी' के साथ मिलकर एक साहित्यिक पत्रिका 'तसनीम' निकालने का आयोजन किया, किन्तु 'फ़ानी' की आगरे की वकालत भी असफल रही और 'तसनीम' भी शीघ्र ही बन्द हो गयी।

अन्त में १९३२ ई० में हैदराबाद के दीवान महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' ने उन्हें हैदराबाद बुला लिया। वहाँ भी उन्हें वहाँ की प्रान्तीय भावना के कारण बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। बड़ी मुश्किल से उन्हें वहाँ के एक हाई स्कूल की हेडमास्टरी नसीब हुई। यद्यपि उनकी ख्याति को देखते हुए यह नौकरी कुछ भी न थी, लेकिन मजबूरी की मार बुरी होती है। 'फानी' को यह अपमान-जनक नौकरी भी करनी पड़ी। इस पर भी दुर्भाग्य ने उनका पीछा न छोड़ा। मरने के कुछ दिनों पूर्व उन्हें इस नौकरी से भी अलग कर दिया गया था। अन्त मे २६ अगस्त १९४० ई० को 'फ़ानी' ने इस निष्ठुर ससार से विदा ली और भगवान् के आश्रय मे चले गये।

'फानी' ने पहली गजल १८९० ई० में लिखी थी। बीस वर्ष की अवस्था तक दीवान पूरा हो गया था। १९०६ ई० तक दूसरा दीवान भी हो गया था। लेकिन यह दोनो दीवान खो गये। इसके बाद १९१७ ई० तक उन्होंने कविता करना छोड दिया था। फिर लिखना शुरू किया तो पहला दीवान तीन-चार वर्ष में पूरा हो गया, और बदायूँ से छपा। दूसरा दीवान 'बाकियाते-फ़ानी' १९२६ ई० मे और अंतिम सग्रह 'विजदानियात' १९४० ई० में छपा। तीनो उपलब्ध दीवानो का एक कुल्लियात भी छप गया है और बाजार में उपलब्ध है।

'फानी' को यासियात का इमाम यानी निराशावाद का कवि कहा गया है। दरअस्ल देखिए तो 'फानी' निराशावादी जरूर हैं, किन्तु उनकी निराशा साधारण निराशा नही है। कुछ आलोचको ने 'फ़ानी' के जीवन की आर्थिक असफलताओ और पारिवारिक दुखो (लखनऊ में ही उनकी पत्नी और पुत्री का देहान्त हो गया था) में उनके निराशावाद के कारण ढूंढने की चेष्टा की है। स्पष्टत ही इन असफलताओ और दुखो का 'फ़ानी' की निराशा से कोई सम्बन्ध नही है।

सांसारिक कष्ट अगर किसी में निराशा पैदा करते हैं तो उसके साथ ही कटुता भी पैदा कर देते हैं (जैसा 'यगाना' चगेज़ी के साथ हुआ)। लेकिन 'फ़ानी' में इस कटुता के दर्शन कहीं नहीं होते। उनमें कोमलता अन्त तक रहती है। दरअस्ल 'फ़ानी' की निराशा का आधार वह सूफ़ीवादी परम्परा है, जो संसार को बिल्कुल असार ही नहीं, अस्तित्वहीन समझने की भी प्रेरणा देती है। इसी प्रेरणा ने 'फ़ानी' की निराशाप्रद मानसिक पृष्ठभूमि में (जो उनके बचपन से उनके साथ लगी हुई थी) आकर घोर निराशा का रूप ले लिया, साथ ही अपनी कोमलता भी नहीं खोयी।

'फ़ानी' के प्रथम दो दीवान नष्ट हो गये हैं, इसलिए उनकी चेतना के विकास की छानबीन नहीं की जा सकती। उपलब्ध रचनाएँ उनकी मानसिक परिपक्वता के समय की हैं और उनमें हर जगह हमवारी है। 'फ़ानी' का प्रियतम सूफ़ियों का परमेश्वर ही है, इस बात का उन्होंने अपनी ग़ज़लों में हर जगह संकेत दिया है। किन्तु उस प्रियतम की कृपा उनपर इसी रूप में हुई है कि उन्हें अथाह दुःख दे दिया है, यहाँ तक कि उन्हें जीवन ही भार नहीं लगने लगा है, मौत भी बेकार-सी चीज़ लगने लगी है।

भाषा और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में 'फ़ानी' की रचनाएँ उर्दू की श्रेष्ठतम रचनाओं में रखी जा सकती हैं। कभी-कभी वे ज़रूर अत्यधिक फ़ारसी शब्द और शब्द-विन्यास ले आये हैं, वरना अधिकतर उनकी कविताओं में कोमलता, सरलता और प्रवाह अपने अत्यन्त ललित रूप में देखने को मिलते हैं। कभी-कभी वे अनुभूति की तीव्रता में 'ग़ालिब' की सी उलझी भाषा भी बोलने लगते हैं, किन्तु बहुत कम।

निम्नलिखित उदाहरणों से 'फ़ानी' के रंग का पता चल सकता है—

ग़म के टहोके कुछ हों बला से, आके जगा तो जाते हैं
हम हैं मगर वह नींद के माते जागते ही सो जाते हैं

ज़ब्त अपना शुआर था, न रहा
दिल पे कुछ इख़्तियार था, न रहा

पेश किया है, वह अन्य किसी शायर को नसीब नही हुआ, बावजूद इसके कि सारे
उर्दू शायर कभी न कभी सूफ़ीवाद का दार्शनिक आधार लेते दिखाई देते है।
'असगर' ने सूफ़ीवाद की व्याख्या नही की है, बल्कि अपने शेरों में उस आनन्दमय
स्थिति का चित्र खीचा है जो साधना की कई मंजिलो से गुज़रने के बाद साधक
को प्राप्त होती है। यह कहना तो शब्दो का अपव्यय होगा कि 'असगर' की
गजलों में हर जगह पवित्रता के दर्शन होते है, लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि
आध्यात्मिकता के इस स्तर पर भी प्रेम की तीव्रता में कोई कमी नही दिखाई
देती; बल्कि अक्सर हालतो मे यह आध्यात्मिक प्रेम ठोस भौतिक प्रेम से वही
अधिक सजीव और तड़पने वाला दिखाई देता है। 'असगर' के किसी शेर में
शिथिलता नाम के लिए भी नही दिखाई देती।

आध्यात्मिक उत्थान के एक विशेष स्तर पर सांसारिक अनुभूतियाँ समाप्त
हो जाती है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिसका एक पहलू नितान्त दुख
की अनुभूति है और दूसरा नितान्त और निरपेक्ष आनन्द की। 'फ़ानी' ने एक
पक्ष के दर्शन कराये है तो 'असगर' ने आध्यात्मिक प्रेम की चिर आनन्दमयी
स्थिति के दर्शन कराये है। दुख और करुणा सहज ही दूसरे पर भी प्रभाव डालती
है और दुख के स्वर उठाकर किसी को द्रवित कर देना फिर भी अपेक्षाकृत सरल
होता है, किन्तु आनन्द की बातें करके सुनने वालों के मन में आनन्द और मस्ती
की हिलोर पैदा कर देना मुश्किल काम है। 'असगर' को इस कठिन कार्य में
त प्रतिशत सफलता मिली है, इसका सबूत उनका हर शेर देता है।

'असगर' की रचनाओं में फ़ारसीपन बहुत है। इसका कारण भी स्पष्ट
। उन्हें दुनिया वालो की तो चिन्ता थी नही और वे लोकप्रियता की परवा न
ते थे। इसलिए उन्होने अपने शेरों को बोधगम्य बनाने पर कभी ध्यान न
या। अपनी अनुभूति के प्रकाशन के लिए उन्हें सबसे आसानी फ़ारसीमिश्र
में हुई और इसका उन्होने प्रयोग किया। वैसे भी जनसाधारण उनके शेरो
तह तक नही पहुँच सकते, उनका पूरा आनन्द लेने के लिए परिष्कृत चेतना
क्षित है। फिर भी यह बात उल्लेखनीय है कि उनके शेरों में चुस्ती, प्रवाह
गीतात्मकता गजब की है और शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से वे श्रेष्ठ कवि
ते हैं।

'असग़र' के कुछ शेर उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

फिर मैं नज़र आया न तमाशा नज़र आया
जब तू नज़र आया मुझे तनहा नज़र आया
उट्ठे अजब अन्दाज़ से वह जोशे-ग़ज़ब में
चढ़ता हुआ इक हुस्न का दरिया नज़र आया
किस दर्जा तेरा हुस्न भी आशोबे-जहाँ है
जिस ज़र्रे को देखा वो तड़पता नज़र आया

कोई महमिल-नशीं क्यों शाद या नाशाद होता है
ग़ुबारे-क़ैस ख़ुद उठता है ख़ुद बरबाद होता है
यहाँ मस्तों के सर इल्ज़ामे-हस्ती ही नहीं 'असग़र'
फिर इसके बाद हर इल्ज़ाम बे-बुनियाद होता है

अली सिकन्दर 'जिगर' मुरादाबादी—'जिगर' मुरादाबादी से अधिक लोक-
य उर्दू शायर इस शताब्दी में कोई नहीं हुआ। उनके विरोधी भी उनकी
कप्रियता को स्वीकार करने के लिए मजबूर हैं। मुशायरों में 'जिगर' के
रीक होने का नाम ही सुनकर हज़ारों की भीड़ लग जाती है। नौजवानों
ो तो उनके शेर पागल बना देते हैं।

'जिगर' साहब का जन्म १८९० ई० में मुरादाबाद में ऐसे ख़ानदान में हुआ
जिसमें पठन-पाठन की पुरानी परम्परा रही है। उनके पूर्वज मौलवी अब्दुल
मी बादशाह शाहजहाँ के शिक्षक थे। बादशाह किसी कारण से उनसे नाराज़
ो गये और मौलवी समी मुरादाबाद जा बसे। इस ख़ानदान में कई अच्छे
ायर हुए हैं। 'जिगर' साहब के पिता मौलवी अली नज़र साहब 'नज़र' और
नामह हाफ़िज़ मुहम्मद नूर साहब 'नूर' भी अच्छे शायर थे। 'नज़र' साहब
ाजा 'वज़ीर' के शागिर्द थे, जो कि शेख इमामबख्श 'नासिख़' के शिष्य थे।
ज़र' साहब ने अपनी रचनाओं का दीवान भी छोड़ा है।

इनका घराना पुराने ढंग का था, जहाँ अंग्रेज़ी शिक्षा को ज़रूरी नहीं समझा
जाता था। 'जिगर' की स्कूली शिक्षा तो हुई ही नहीं। पुराने ढंग की शिक्षा भी

उन्होंने भली प्रकार ग्रहण नहीं की। वे अरबी नहीं जानते। फारसी में अच्छी गति है, कुछ गजलें भी फ़ारसी में कही हैं, लेकिन फारसी का भी उनका अध्ययन किसी प्रकार विद्वत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। तर्कशास्त्र और दर्शन का उन्होंने अध्ययन किया ही नहीं।

'जिगर' ने शायरी बचपन से ही शुरू कर दी थी। तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था से ही शेर कहने लगे थे। पहले पिता को ही गजलें दिखाते थे, फिर मिर्जा दाग से दो-तीन गजलों पर डाक द्वारा संशोधन कराया। 'दाग' के मरने पर वे लखनऊ के अमीरुल्ला 'तसलीम' के शागिर्द हो गये। 'तसलीम' मौलाना हसरत मोहानी के भी काव्य-गुरु थे और 'मोमिन' शैली के अनुसार भाषा की रवानी, चुस्ती और प्रभावोत्पादकता के कायल थे। चार-पाँच वर्षों के बाद 'तसलीम' का भी देहावसान हो गया। कुछ वर्षों तक 'जिगर' उसी पुरानी लीक पर चलते रहे, फिर 'असगर' गोंडवी के सम्पर्क में आने पर उनकी चेतना की दिशा ही बदल गयी और वे भी सूफीवाद के समर्पणवादी आनन्दमय मार्ग पर चलने लगे। 'असगर' मित्र की हैसियत से 'जिगर' को कविता में ही नहीं, अन्य बातो में भी सलाह दिया करते थे। 'जिगर' उनसे इतने प्रभावित थे कि उनकी इच्छा देखकर अपनी पत्नी को तलाक दे दिया, जिससे कि वे उनसे विवाह कर सके। 'असगर' के मरने पर 'जिगर' ने फिर उस महिला से विवाह कर लिया। 'असगर' के प्रति 'जिगर' की भक्ति 'जिगर' की रचनाओं में हर जगह दिखाई देती है।

'जिगर' जितने अच्छे शायर हैं, उससे ज्यादा अच्छे आदमी हैं। बहुत हँस-मुख, बड़े मिलनसार, जरूरतमन्दो को अपना सब कुछ दे डालने वाले, नारी-वर्ग का सम्मान करनेवाले (इस बारे मे 'फानी' को छोडकर शायद ही कोई अन्य कवि 'जिगर' से बढा हुआ हो) और बच्चों को प्यार करने वाले। अपनी आर्थिक अवस्था की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। कुछ दिनों तक उन्हें भोपाल की रियासत से कुछ रुपया मिलता था, अब वह भी बन्द हो गया है। उनकी सारी आमदनी मुशायरो और पुस्तको से होती है, उसी मे बादशाह की तरह रहते हैं। पहले भौतिक सौन्दर्य के दीवाने थे, फिर आध्यात्मिकता में डूब गये। पहले अधाधुध शराब पीते थे, फिर एकदम से शराब छोड़ दी और धुआँधार

सिग्रेट पीने लगे। अब धूमपान भी बिलकुल छोड़ दिया है, सिर्फ़ बेतहाशा ताश खेलने लगे हैं। इस शौक को भी न जाने कब छोड़ बैठें, कुछ कहा नहीं जा सकता। संक्षेप में 'जिगर' साहब बड़े दिलचस्प और प्यारे इन्सान हैं।

'जिगर' की चेतना के तीन युग स्पष्टतः उनकी कविता के क्रमिक विकास में देखने को मिल जाते हैं। उनकी प्रारम्भिक शैली में परिमार्जन तो खूब है किन्तु चेतना का स्तर वही भौतिकवादी साधारण प्रेम का है जिसमें प्रभाव तो होता है, किन्तु मन में मस्ती की उमंग नहीं उठती। उनपर 'दाग़' और 'तसलीम' का पूरा प्रभाव था, यह उनके पहले दीवान 'दाग़े-जिगर' को देखने से साफ़ मालूम होता है। हाँ, यह अन्तर स्पष्ट है कि 'जिगर' में उस काल की कविता में भी पुराने कवियों की भाँति उच्छृंखलता नहीं दिखाई देती। उनकी भौतिकवादी मस्ती में भी मर्यादा का रख-रखाव है।

शायद इसी रख-रखाव की प्रवृत्ति ने बाद में उन्हें 'असग़र' की ओर आकृष्ट कर दिया और वे पूर्णतः असग़र के रंग में रँग गये। उन्होंने अपनी चेतना में वही आध्यात्मिक आनन्दवाद का समावेश कर लिया, जो 'असग़र' की विशेषता है। 'जिगर' की इस काल की कविता 'असग़र' की कविता का पूर्णतः प्रतिबिम्ब मालूम होती है और अगर 'जिगर' इसी तक सीमित रह जाते तो उनकी कोई विशेष देन न समझी जाती। किन्तु तीसरे दौर में वे आगे बढ़े और उनकी कविता में भावनापूर्ण समर्पण और एक नया बाँकपन पैदा हो गया। साथ ही वे ऐसी कविता करने लगे, जिसका क्षेत्र आध्यात्मिक और भौतिक दोनों हो। यही रंग उनके चौथे काल में परिपक्व हो गया और इसी ने 'जिगर' को 'जिगर' बना दिया। 'जिगर' की कविता के इस युग में उनकी तड़प और मस्ती बढ़ गयी और उसके आध्यात्मिक और भौतिक दोनों स्तरों पर लागू होने के कारण उनकी लोकप्रियता भी बढ़ गयी। साथ ही इस [illegible] के [illegible] के फलस्वरूप 'जिगर' में सामाजिक चेतना का भी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु यह क्षेत्र उनके बस का नहीं है। [illegible] यही है कि उन्होंने अपनी सामाजिक चेतना को अधिक मुखरित नहीं किया, वहीं भी उनकी [illegible] [illegible] थी।

भाषा के मामले में 'जिगर' काफी सफल हैं। उनकी भाषा अधिक क्लिष्ट है और उसमें गीतात्मकता चाहे 'असगर' से कम हो, किन्तु बहाव गजब हैं। उनकी कविता के उदाहरण ये हैं—

हजारों कुरबतों पर यूं मेरा महजूर हो जाना
जहां से चाहना उनका वहीं से दूर हो जाना
मुहब्बत क्या है ? तासीरे मुहब्बत किसको कहते हैं ?
तेरा मजबूर कर देना मेरा मजबूर हो जाना

नजर मिला के मेरे पास आके लूट लिया
नजर हटी थी कि फिर मुस्कुरा के लूट लिया
बड़े वो आये दिलो-जां के लूटने वाले
नजर से छेड़ दिया गुदगुदा के लूट लिया

इक लफ़्ज़े-मुहब्बत का अदना ये फ़साना है
सिमटे तो दिले आशिक फैले तो जमाना है
यह इश्क नहीं आसां इतना तो समझ लेना
इक आग का दरिया है और डूब के जाना है

: १२ :

आधुनिक उर्दू गद्य

बीसवीं शताब्दी का उर्दू गद्य प्रौढ़ता के उस स्तर तक पहुँच चुका है जिस पर 'दाग' और 'अमीर' के समय की उर्दू काव्य की अभिव्यंजना शक्ति पहुँच चुकी थी। मिर्ज़ा, सर और मिर्ज़ा हादी रुसवा का पनपाया गड़ाया यह पौधा इस समय पुष्पों से लदा हुआ है। इस शताब्दी में उर्दू गद्य तथा साहित्य, साहित्यालोचना तथा विभिन्न विषयों के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है। उसमें ऐसे विस्तार की भी गुंजाइश पैदा हो गयी है जो पाठक में ऊबने का भाव पैदा न करे और सूत्र रूप में बात कहने की भी वह अभिव्यंजना शक्ति आ चुकी है कि गागर में सागर भरने की भाँति जटिल से जटिल समस्याओं को या गिने-चुने शब्दों में इस प्रकार सामने रख दिया जाय कि समझने में मानसिक व्यायाम न करना पड़े। भारी भरकम और अपेक्षाकृत बोझिल अरबी-फारसी शब्दावली और उलझे हुए वाक्य-विन्यासों की बजाय गद्य लेखकों का आग्रह सीधी-सादी, प्रवाह युक्त और मधुर, किन्तु पूर्णतः अभिव्यंजक भाषा के प्रयोग का है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भाषा के सुधार की संभावनाएं समाप्त हो गयी हैं (कभी भी नहीं होतीं), किन्तु यह आवश्यक है कि उर्दू गद्य जिस स्तर पर पहुँच चुका है, उसमें कोई गंभीर अभाव बाकी नहीं रह गया है।

इस शताब्दी ने उर्दू में चोटी के कहानीकार, निबंध लेखक और आलोचक पैदा किये, जो अपने प्रत्येक लेखन में, यहाँ तक कि आपसी पत्रों में भी साहित्य लिखते हैं। इनमें से प्रमुख नामों का उल्लेख आगे किया जाता है।

प्रेमचंद—मुंशी प्रेमचन्द से हिन्दी संसार अच्छी तरह परिचित है। उनकी रचनाएँ प्रत्येक शिक्षित हिन्दी-भाषी तो पढ़ ही चुका है, साथ ही अंग्रेज़ी, रूसी आदि विदेशी भाषाओं में भी उनके उपन्यासों के काफी अनुवाद हो चुके हैं। उनकी रचनाओं ने विदेशों में भी लोक-प्रियता प्राप्त करके भारत का मस्तक

ऊँचा किया है। इस अवसर पर केवल इतना बता देना काफी है कि मुंशी धनपत राय (प्रेमचन्द) ने आरंभ में कई वर्षों तक केवल उर्दू में ही लिखा और उनकी प्रथम कृतियाँ पहले उर्दू में ही लिखी गयीं और बाद में उन्होंने उनका हिन्दी रूपान्तर किया। बाद के जो उपन्यास और कहानियाँ उन्होंने मूल रूप में हिन्दी में लिखीं, उन्हें भी रूपान्तर करके उर्दू में दे दिया। इस प्रकार उनकी लगभग सारी रचनाएँ उर्दू में भी उपलब्ध हैं और उर्दू संसार उन्हें अपने साहित्य की प्रथम पंक्ति में स्थान देता है। प्रेमचन्द के ही पदचिह्नों पर—इस मामले में, अनुसरण करने वाले पं० सुदर्शन भी इसी प्रकार उर्दू और हिन्दी दोनों क्षेत्रों में समान रूप से मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल के स्वनामधन्य बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी उर्दू के भी जानेमाने लेखक और पत्रकार थे। प्रसन्नता की बात है कि गुप्तजी, प्रेमचन्द और सुदर्शन की उर्दू-हिन्दी के मेल-मिलाप की यह परम्परा इस शताब्दी के छठे दशक में तेजी से आगे बढ़ रही है।

ख्वाजा हसन निजामी—ख्वाजा साहब के बारे में एक जमाने में हिन्दुओं में कुछ गलतफ़हमी पैदा हो गयी थी, लेकिन उनके जीवनवृत्त और उनकी रचनाओं को देखने से मालूम होता है कि उन्होंने सूफी संतों की वही परम्परा निभायी, जिसने उर्दू कविता को किसी विशेष सम्प्रदाय तक सीमित नहीं रखा। ख्वाजा साहब १८७३ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। उनके पिता आर्थिक दृष्टि से बहुत निर्धन थे, किन्तु वंश परम्परा प्रख्यात संतों से मिलती थी। वे दिल्ली में निजामुद्दीन औलिया की दरगाह में रहते थे और ख्वाजा साहब का बचपन भी वहीं पर बीता। किन्तु इन्हें आरंभ से ही लिखने-लिखाने का शौक था। आरंभ में पुस्तकों की गठरी लादे हुए उनकी फेरी लगाते थे। फिर स्वयं पुस्तक-प्रकाशन करने लगे। इनकी मेहनत और लगन से आर्थिक दशा बहुत अच्छी हो गयी। इनकी वंशानुगत आध्यात्मिक प्रतिष्ठा के साथ इनकी विद्वत्ता का भी सब लोहा मानते थे और देश के बड़े-बड़े नवाब और जागीरदार, यहाँ तक कि हैदराबाद के निजाम भी उनकी चरण-रज लेने में सौभाग्य समझते थे। ख्वाजा साहब की रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है, जिनमें इस्लाम और हिन्दू धर्म सम्बन्धी पुस्तकों से लेकर सारे राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर—यहाँ तक कि 'मुफलिसी का मुजर्रब इलाज' और 'पड़ोस के सत्रह पाजी' तक पुस्तकें

लिखी हैं। उनका एक पत्र 'मुनादी' प्रकाशित होता था, जिसमें केवल वे ही लिखते थे और गंभीरतम विषयों से लेकर हँसी-मजाक तक सब कुछ लिखते थे। हाल में ही १९५९ ई० में उनका देहान्त हुआ है। अपने अन्तिम समय तक उन्होंने लेखन-कार्य जारी रखा।

ख्वाजा साहब की विशेषता उनका बहुलेखन तो है ही, साथ ही उनकी विशेष लेखन शैली भी है। वे अत्यन्त सरल, किन्तु बहुत ही आकर्षक भाषा का प्रयोग करते हैं। हल्के-फुल्के विषयों को उठाते समय उनकी शैली में चुल-बुलापन आ जाता है और धार्मिक तथा सामाजिक विषयों में वे भावात्मक आवेग में आ जाते हैं। सादगी और सरलता का दामन कभी नहीं छूटने पाता, किन्तु छोटे-छोटे वाक्यों, शब्दों के उचित प्रयोग और मुहावरों के जोर से लेखन में ऐसा आकर्षण पैदा कर देते हैं कि पाठक को प्रत्येक स्थिति में अपने साथ बहाये लिये चलते हैं। उनकी भाषा और शैली का नमूना निम्नलिखित उद्धरण से मिलेगा, जो उनके द्वारा लिखित 'बहादुर शाह की बेटी' से लिया गया है और जिसमें बहादुर शाह द्वितीय की पुत्री कुलसूम ज़मानी बेगम की कहानी उन्हीं के शब्दों में कही गयी है।

"आखिर लाल किले से हमेशा के लिए जुदा होकर कोराली गाँव में पहुँचे और वहाँ अपने रथवान के मकान पर कयाम किया। बाजरे की रोटी और छाछ खाने को मयस्सर आयी और उस वक्त भूख में यह चीजें बिरियानी और मुतंजन से ज़ियादा मज़ेदार मालूम हुईं। एक दिन रात तो अम्न से बसर हुआ, दूसरे दिन गिर्दो-नवाह के जाट गूजर जमा होकर कोराली को लूटने चढ़ आये। सैकड़ों औरतें भी इन लुटेरों के साथ थीं जो चुड़ैलों की तरह हमको चिमट गयीं। तमाम ज़ेवर और कपड़े उन कमबख्तों ने उतार लिये। जिस वक्त यह गंदी-दुर्गी औरतें अपने मोटे मैले हाथों से हमारे गले को नोचती थीं तो उनके लहँगों से ऐसी बू आती थी कि दम घुटने लगता था।"

राशिदुल खैरी—मौलाना राशिदुल खैरी इस शताब्दी के आरम्भ के एक प्रख्यात कथाकार थे। उन्हें 'मुसव्विरे-ग़म' यानी दुःख का चितेरा कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में स्त्रियों की दुर्दशा का

मौलाना की रचनाओं की संख्या तीस से अधिक है, जिसमें 'गमरना का चांद', 'उम्मे-ज़रखला', 'सुब्हेज़िन्दगी', 'शामे-ज़िन्दगी', 'शबे-ज़िन्दगी', 'गुराबे-मग़रिब', 'माहे-अजम', 'महबूब-ए-ख़ुदावन्द' आदि उल्लेखनीय हैं। मौलाना की लेखन-शैली का अन्दाज़ा उनके एक लेख के निम्नलिखित उद्धरण से हो सकता है—

"माना कि बाज़ जगह बीवियों की कद्र हो रही है जो होनी चाहिए मगर इससे बहुत ज़ियादा वह मिट्टी पलीद हो रही है जो न होनी चाहिए। मियाँ, सास, ससुर, ननद, ननद के बच्चे, देवर, जेठ, उनकी औलाद, गरज़ इन सबको रज़ामन्द रखना उसका फ़र्ज़ है। कोसना, फ़जीहतियाँ, तसनो-तन्नी उसका इनाम। तलाक़ का डरावा, दूसरे निकाह की धमकी उसका सिला। जिन के बाप-दादा ने कभी ख़्वाब में भी मेहनत न की थी, दिन भर पापड़ बेलें। एक का आगा तागा, एक की लल्लो पत्तो, गरज़ ज़िन्दगी क्या हुई वबाल हो गयी। पकाओ रीधो, सियो पिरोओ, झाड़ो बुहारो, लीपो पोतो, गरज़ घुलकर ख़ाक और जलकर कोयला हो जाओ मगर फिर भी किसी के भावे नहीं। आने जाने वाले फूहड़ बतायें, मिलने जुलने वाले कीड़े डालें। ज़बाँ-दराज़ वह, बाम-पोग्नी वह, जल-जोगनी वह, बेढंगी वह, गरज़ कोई ऐसा ऐब नहीं जो एमालनामे में मौजूद न हो। नाक़िसुल-अक़्ल उसका ख़िताब, बेवक़ूफ़ उसका लक़ब। मुख़्तसर यह कि कुत्ते की ज़िन्दगी उससे बेहतर है, जिसको मौत की कभी तमन्ना नहीं होती।"

नियाज़ फ़तेहपुरी—नियाज़ साहब भी उन गिने-चुने विद्वानों में हैं, जिन्होंने लेखन और पत्रकारिता दोनों में अपने जौहर दिखाये हैं। वे भी मौलाना राशिदुल ख़ैरी की तरह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पैदा हुए थे। फ़तेहपुर, जहाँ वे पैदा हुए थे, एक कस्बा ही है और उस समय कस्बों और देहात के शरीफ़ मुसलमान घरानों में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार न हुआ था। चुनांचे नियाज़ साहब की प्रारम्भिक शिक्षा भी घर पर ही हुई और उन्होंने अरबी-फ़ारसी अपने पिता से पढ़ी, जो फ़ारसी और उर्दू के विद्वान् थे। उन्होंने नियाज़ साहब की ज्ञानार्जन की रुचि को बहुत प्रोत्साहित किया। बाद में नियाज़ साहब ने स्वयं ही मेहनत करके कुछ समय में अंग्रेज़ी सीख ली और इसी प्रकार दो-तीन साल ने मेहनत करके तुर्की का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। [illegible]

नियाज़ की भाषा और शैली उनकी विद्वत्ता के अनुरूप ही है। उनमें सरलता का आग्रह नहीं है, बल्कि ओज और प्रवाह बहुत अधिक दिखाई देता है, जो कि उनके दिमाग की गहराई का पता देता है।

मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद'—मौलाना आज़ाद से कौन परिचित नहीं है? संक्षेप में उनका जीवन-वृत्त यह है—सितम्बर १८८८ ई० में मक्का में जन्म, सात-आठ वर्ष की अवस्था में पिता के साथ, जो सूफियों के एक प्रसिद्ध वंश के रत्न थे, भारत को वापसी, उर्दू की कलकत्ते में शिक्षा, अरबी-फारसी और तुर्की की उच्च शिक्षा अपने ही अध्यवसाय से प्राप्त की, बचपन में पहले उर्दू और फिर फारसी कविता की, बचपन से ही कई पत्रों का प्रकाशन, जो अपने ऊँचे और प्रेरणादायक लेखों के कारण तुरन्त ही देश के श्रेष्ठ पत्रों में गिने जाने लगे। १९१२ में राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेश, महायुद्ध के समय कांग्रेस के अध्यक्ष, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अपने अंतकाल (२२ फरवरी १९५८ ई०) तक भारत के शिक्षा-मन्त्री।

मौलाना ने ललित साहित्य के नाते लगभग कुछ नहीं लिखा। बचपन में जो कविताएँ की थीं, उनके बारे में बाद में हँस कर कहा करते थे, "हाँ मेरे भाई, कुछ दिनों मुझे भी यह जुनून था।" पुस्तकों में अधिकतर केवल धर्म सम्बन्धी हैं; केवल 'गुबारे-ख़ातिर' साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें उनके विभिन्न 'इम्प्रेशन' ही हैं। इसे भी उन्होंने अहमद नगर किले की लम्बी नज़रबन्दी (१९४२–४५) में मजबूरी की हालत में लिखा, क्योंकि और कुछ लिखने को ही नहीं था। उर्दू अदब को उनकी अमर देन उनके अभिभाषण तथा उनके अपने पत्रों में लिखे हुए लेख हैं, जो यद्यपि राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर ही लिखे गये हैं, किन्तु उनकी एक-एक पंक्ति भाषा और अभिव्यक्ति-शैली के लिहाज़ से स्थायी साहित्यिक मूल्य रखती है। मौलाना का पत्रकारिता का जीवन बहुत लम्बा और महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने बचपन में ही 'नैरंगे-नज़र' नामक एक पत्रिका जारी की, जो केवल आठ महीने चल सकी। इसमें कविताएँ ही होती थीं। साथ ही अन्य पत्रों, 'अलमिस्बाह', 'तुहफ़ए-मुहम्मदिया', 'ख़दंगे नज़र', 'अहसानुल-अख़बार', 'मख़ज़न', 'अल निदवा', 'वकील' आदि

ं उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। 'अलनिदवा', 'मुदर्गे-नज़र' और 'वकील'
ः गद्य भाग का उन्होंने कुछ दिनों सम्पादन भी किया। उन्होंने 'लिस्सान
स्सिदक़' जारी किया, जिसे १९०४ में इराक जाने पर बन्द कर दिया।
१९१२ में उन्होंने अपने राजनीतिक और सामाजिक विचारों के प्रकाशन के लिए
अलहिलाल' जारी किया, जिसमें उन्होंने मुसलमानों को निडर होकर हिन्दुओं
र भरोसा करने और ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने का आह्वान किया।
१९१५ में वे बंगाल से निष्कासित कर दिये गये और 'अलहिलाल' बन्द हो गया।
ब उन्होंने 'अलबलाग' जारी किया, जिसका उद्देश्य राजनीतिक न होकर दार्श-
निक और धार्मिक था। इस पत्र को भी कुछ वर्षों के बाद उन्हें बन्द कर देना
पड़ा और १९२१ ई० में उन्होंने 'पैगाम' नामक पत्र निकाला, लेकिन इसका
वे सम्पादन ही अधिक करते थे, कभी-कभी ही लेख लिखते थे। १९२७ ई०
में 'अलहिलाल' दुबारा जारी किया गया, लेकिन सरकार ने उसे अधिक चलने
न दिया।

मौलाना की शैली में ओज, प्रवाह, और मर्मस्पर्शी होने की विशेषताएँ
तो अत्यधिक थीं—और इन्हीं विशेषताओं के आधार पर उन्हें साहित्यिक
मान्यता मिली—किन्तु उनमें सरलता का तत्त्व लगभग शून्य था। उनके
लेखों में अरबी-फ़ारसी के शब्दों और वाक्य-विन्यासों की भरमार रहती थी
और उनका रसास्वादन करने के लिए थोड़ी-बहुत अरबी-फ़ारसी का ज्ञान होना
अनिवार्य था। बाद में उन्होंने ओज को कम और प्रवाह को अधिक कर दिया
और अरबी-फारसी वाक्य-विन्यासों को भी बहुत कम कर दिया। उनके गद्य
में उर्दू और फारसी के शेरों के उद्धरण बहुत आते हैं, बल्कि कहीं-कहीं बोझिल
तक बन जाते हैं। प्रत्येक अवसर के लिए उपयुक्त भाषा वे लिख सकते
थे। उन्होंने अति दुरूह और अति सरल दोनों प्रकार की भाषाएँ विभिन्न अव
सरों पर अपने-अपने औचित्य के साथ लिखी हैं। हम उनकी दोनों प्रकार की
भाषा-शैली का एक-एक नमूना दे रहे हैं।

"रअमसेस को इन अज़ीमुश्शान कामयाबियों ने निहायत मगरूर-
मुतकब्बिर बना दिया था। जो सलातीन असीर होकर उसके साथ आये
थे उनसे निहायत सख्त तहक़ीर से पेश आने लगा और सुबो-शाम निहा

फ़िक्रो-ग़म-ओ-नजही ओ-नुकसान-ओ-नाउम्मीदी-ए-रुसवाई उसका कोई काम न रहा। आख़िर वर्ग्सियत से मुतज़्ज़ा होकर वह एक और आलम का मजबूर अपने को समझने लगा। पर, ख़ुदा का कानून जिसमें कभी तगय्युर नहीं होता, जारी हुआ और निहायत इत्मीनान-ओ-आसूदगी से मार खुद अपने हाथ से खुदकुशी करके दुनिया से रुख़सत हो गया।
(आसारे-अतीका—अब्दुल्हलीम, सितम्बर १९१३)

अपने गाँव दरियाबाद (जिला बाराबंकी) में आ गये और अभी त
लिखने-पढ़ने का काम करते रहते हैं।

मौलाना पर आरंभ में पश्चिमी दर्शन का अत्यधिक प्रभाव था
धर्म की बजाय बौद्धिकता के पक्षपाती अधिक थे। हैदराबाद के आवा
में इन्होंने एक अंग्रेजी पुस्तक 'साइकॉलाजी आफ लीडरशिप' लिखी
लंदन के प्रकाशक फिशर एण्ड अनविन ने प्रकाशित की और अंजुमने त
ए-उर्दू ने इसका उर्दू अनुवाद 'फ़लसफ़ा-ए-इजतमा' के नाम से प्रकाशित कि
इस पर इस्लामी धर्माचार्यों ने इन्हें काफिर घोषित किया और हैदराब
कई पत्रों ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। किन्तु उस समय के प्रख्यात
'अकबर' इलाहाबादी ने इन्हें केवल यही मशविरा दिया कि कुरान पढ़ो,
बार पढ़ो और बार-बार समझो। मौलाना मुहम्मद अली से भी इनका
बारे में पत्र-व्यवहार हुआ। बाद में जब मौलाना अब्दुल माजिद धर्म-निरपे
छोड़कर पूर्णतः धर्म के पक्षपाती हो गये, तो उन्होंने इस पुस्तक को, जि
बदौलत वे प्रसिद्ध हुए थे, अपनी रचनाओं की सूची में से निकाल दिया।
के पक्ष में आने के समय से ही वे राष्ट्रीय आन्दोलन में आये और खिलाफत आ
लन में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। खद्दर पहनना उन्होंने अभी तक नहीं छो
है। १९२५ ई० से मौलाना ने एक धार्मिक साप्ताहिक पत्र 'सच' निका
शुरू किया। १९३२ ई० में इन्होंने कुरान का व्याख्या सहित अंग्रेजी अनु
आरंभ किया, इसलिए 'सच' को अस्थायी रूप से बन्द कर दिया। १९३४
में यह पत्र 'सिद्क' के नाम से लखनऊ से निकलना शुरू हुआ और १९५०
तक निकलता रहा, फिर कुछ कारणों से बन्द हो गया। सितम्बर १९५०
यह पत्र 'सिद्के-जदीद' के नाम से फिर निकलना शुरू हुआ है। मौलाना
सबसे बड़ा कारनामा कुरान-शरीफ का सव्याख्या अंग्रेजी अनुवाद है। द
ग्यारह वर्ष की मेहनत के बाद इसे सात जिल्दों में पूरा किया गया है, जिनमें
कुछ लाहौर की ताज कम्पनी प्रकाशित कर चुकी है, कुछ करने वाली है

शिकायत पर हैदराबाद से इस तरह निकाले गये कि पेंशन भी बन्द हो गयी। अब यह पंजाब आये। इनके पिता ने 'ज़मींदार' निकाला था। उसे यह वज़ीराबाद से लाहौर ले आये। यह बल्कान युद्ध के कुछ ही पहले की बात है। इसके बाद मौलाना की सारी तूफानी सरगर्मियाँ 'ज़मींदार' के ही द्वारा होती रहीं। उनकी उग्र नीति के फलस्वरूप इस पत्र से बार-बार ज़मानतें माँगी गयी और वह बार-बार बन्द होकर निकला। खुद मौलाना खिलाफत आन्दोलन और उग्रवादी पत्रकारी के कारण बार-बार जेल जाते रहे। १९३६ ई० तक कुल मिलाकर बारह वर्ष इन्होंने जेल के अन्दर काटे। लेकिन फिर भी इनके उग्र विचारों में कोई अन्तर नहीं आया। ब्रिटिश नीति की इन्होंने धज्जियाँ उड़ा दीं।

लेकिन मौलाना की किसी से अंत तक नहीं पटी। उन्होंने कांग्रेस और खिलाफत आन्दोलन दोनों में भाग लिया, लेकिन जल्द ही उनसे अलग हो गये। फिर मजलिसे अहरार का संगठन किया, किन्तु शहीदगंज की मसजिद के मामले पर उसके भी विरोधी हो गये। फिर इत्तिहादे-मिल्लत नामी संस्था को जन्म दिया, किन्तु उनसे भी अलग हो गये। अंत में मुस्लिम लीग में शामिल हो गये, किन्तु उसमें भी हसरत मौहानी की तरह विरोधी दल में ही रहे। उनकी काव्य-प्रतिभा एक-एक करके अलीबन्धु, गांधी जी, जिन्ना साहब, डाक्टर इकबाल आदि की प्रशंसा के पुल भी बाँधती रही और जब उन्हें इन लोगों पर क्रोध आया तो एक-एक करके सभी को खरी-खोटी सुना डाली। इकबाल से नाराज़ हुए तो कहा—

> माँग कर अहबाब से रजअत-पसंदी की कुदाल
> क़ब्र आज़ादी की खोदी किसने? सर इकबाल ने
> काट ली पंजाब की नाक आप अपने हाथ से
> आबरू मिल्लत की खो दी किसने? सर इकबाल ने

इकबाल की इस निन्दा का अवसर वह था, जब इकबाल साइमन कमीशन बहिष्कार के विरोधी हो गये थे।

ज़फर अली खाँ जब महात्मा गांधी से खुश थे तो उन्होंने लिखा था—

परवर्दगार ने, कि वो है मजिलत-शनास,
गांधी को भी ये मरतबा पहचान कर दिया

और जब गांधी जी से बिगड़े तो फरमाने लगे—

भारत में बलाएँ दो ही तो हैं, इक सावरकर इक गांधी है
इक झूठ का चलता झक्कड़ है इक मक्र की उठती आँधी है

मौलाना जफर अली खाँ में काव्य-प्रतिभा भी थी और गद्य-लेखन भी कमाल का करते थे, किन्तु राजनीति और अपनी अस्थिर मनोवृत्ति के कारण अपनी प्रतिभा को किसी साहित्यिक मन्य के सर्जन की ओर न लगा सके। शेर उन्होंने दस-बारह हजार लिखे होंगे। उनके तीन काव्य-संग्रह 'बहारिस्तान', 'निगारिस्तान' और 'चमनिस्तान' हैं। काव्य में उनकी विशेषता नातिया (मुहम्मद साहब की प्रशस्ति) कलाम है। गद्य में केवल जमींदार' की फाइलें हैं।

मजनूँ गोरखपुरी—वर्तमान युग के गद्य-लेखकों और आलोचकों में मजनूँ गोरखपुरी का स्थान काफी ऊँचा है। वे इस समय गोरखपुर के सेंट एण्ड्रयूज कालेज में प्रोफेसर हैं। 'मजनूँ' का नाम अहमद सिद्दीक है। उनका जन्म १९०४ ई० में गोरखपुर में हुआ। उनके पिता की जीविका का साधन व्यापार था। मजनूँ ने गोरखपुर से इन्ट्रेन्स पास करके १९२४ ई० में इलाहाबाद के क्रिश्चियन कालेज में प्रवेश किया, किन्तु कुछ ही दिनों बाद बीमार हो गये और फिर गोरखपुर चले गये और वहाँ 'ऐवाने इशाअत' नामक एक प्रकाशन संस्थान खोला। साथ ही वे अपनी शिक्षा भी जारी रखे हुए थे। उन्होंने एम० ए० करके अध्यापन-कार्य आरंभ कर दिया।

मजनूँ की चेतना बुनियादी तौर पर व्यक्तिवादी है और वे इकबाल के बहुत बड़े प्रशंसक हैं। उनकी इकबाल पर लिखी हुई आलोचना-पुस्तक बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। फिर भी उनकी निगाहें समाज के दुःख-दर्द और जीवन-संघर्ष को पूरी तरह देखती हैं। भावनाओं के चित्रण में उन्हें टामस हार्डी ने बहुत प्रभावित किया है। उनकी कहानियाँ साधारणतः दुखान्तक होती हैं, यद्यपि उनका व्यक्तिवाद अपने दुःख में भी सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता की ओर इंगित करता है। कहानियों के दो संग्रह 'ख्वाबो-ख्याल' और 'समन पोश' प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त उनके उपन्यास 'जैदी का हश्र', 'सोगवारे-

शबाब' और 'मरियम मजदलीन' काफी प्रसिद्ध हैं। शोपेनहार के दर्शन प
उनकी पुस्तिका और 'तारीखे-जमालियात' के नाम से एक अन्य आलोचन
पुस्तिका भी उल्लेखनीय है। उनके आलोचनात्मक निबंधों के कई संग्रह हैं
इनके अतिरिक्त मजनूँ ने ऑस्कर वाइल्ड के नाटक 'सालोम' का उसी नाम से
टॉल्सटॉय के 'द फ़र्स्ट डिस्टिलर' नामक नाटक का 'अबुलखम्र' के नाम से
और बायरन के संगीत-नाटक 'काइन' का 'काबील' के नाम से अनुवाद किय
है। जार्ज बर्नार्ड शॉ के प्रसिद्ध नाटक 'बैक टु मेथ्यू सेला' के आधार प
उन्होंने 'आगाज़े-हस्ती' नामक नाटक लिखा है।

मजनूँ के व्यक्तित्व में ऊपर से देखने में कुछ बातें अजीब लग सकती हैं। उदाहरणत वे बुनियादी तौर पर बुद्धिवादी हैं, किन्तु उनकी उपचेतना उन्हें सदैव भावनात्मकता की ओर ले जाती है, जिसका सबूत उनकी लिखी हुई कहानियाँ और उपन्यास हैं। वे एक ओर तो 'मीर' की वेदना के कायल हैं और 'सौदा' से विशेषत. प्रभावित नहीं हैं; दूसरी ओर वे दिल्ली की भावनात्मक काव्य-शैली की बजाय लखनवी यथार्थवादी कविता अधिक पसंद करते और कहते हैं, "दबिस्ताने-दिल्ली की शायरी यकसर जज़बाती है और गोश्त के ऐसे लोथडे के मानिन्द है जिसमें हड्डी न हो।" साथ ही 'जोश' मलीहाबादी का काव्य भी उन्हें बहुत पसन्द नहीं है। शायद उनकी दृष्टि से उसमें हड्डी ही हड्डी है, गोश्त बिलकुल नहीं।

किन्तु वास्तव में यह परस्पर विरोध केवल ऊपरी दृष्टि से देखने पर मालूम होता है। वस्तुत मजनूँ की चेतना में बुद्धि और भावना का इतना अनोखा समन्वय है, जो उनकी सृजनात्मक और आलोचनात्मक, दोनों प्रकार की कृतियों को एक अत्यन्त स्वस्थ और संतुलित दृष्टिकोण दे देता है। उनकी नजर पैनी है और उनकी पैठ गहरी। कभी-कभी वे परम्परा से अलग बातें करते हैं, किन्तु उनका आधार इतना दृढ़ होता है कि उनमें नयी परम्परा को जन्म देने की भी क्षमता होती है। मजनूँ ने पद्य के क्षेत्र में बहुत ही कम लिखा है, यद्यपि उनमें काव्य-प्रतिभा भी उच्चकोटि की थी। आलोचना के क्षेत्र में उनकी इसी काव्य-प्रतिभा ने उनकी कृतियों को अमरत्व प्रदान किया है।

बुराइयों का वह रूप दिखाई दे जाता है जो साधारणतः हमारी दृष्टि से ओझल रहता है। लेकिन ये बुराइयाँ कुछ इस ढंग से सामने आती हैं कि पाठकों में क्षोभ के भाव जागृत होने की बजाय हँसी आती है और ही व्यंग्य का पुट रहना चाहता है, उसका प्रभाव और गहरा होता है। [illegible] की गद्य में वही स्थान है, जो 'अकबर' इलाहाबादी का पद्य में है। उदाहरण के लिए [illegible] का जुगराफिया' नामक निबंध में लाहौर के यातायात के साधनों के बारे में लिखते हैं—"जो सय्याह लाहौर तशरीफ लाने का इरादा रखते हों उन्हें प[illegible] के जराये-आमदो-रफ्त के मुतअल्लिक चन्द बातें ज़ेहननशीन कर लेनी चाहि[ए] ताकि वह यहाँ की सियाहत से कमाहक़्क़हू असर-पज़ीर हो सकें। [illegible] सड़क बल खाती हुई लाहौर के बाज़ारों से गुज़रती है तारीखी एतबार से अह[म] है। यह वही सड़क है जिसे शेरशाह सूरी ने बनाया था। यह आसार क़दीम[ा] में शुमार होती है और बेहद एहतराम की नज़रों से देखी जाती है चुनांचे इस[में] किसी किस्म का रद्दो-बदल नहीं किया जाता। वह क़दीम तारीखी गढ़े औ[र] ख़न्दकें ज्यूं की त्यूं मौजूद हैं जिन्होंने कई सल्तनतों के तख्ते उलट दिये थे[।] आज कल भी कई लोगों के तख्ते यहाँ उलटते हैं और अज़मते-रफ्ता की या[द] दिलाकर इन्सानों को इबरत सिखाते हैं। बाज़ लोग ज्यादा इबरत पकड़ने के लिए इन तख्तों के नीचे दो एक पहिए भी लगा देते हैं और सामने दो [illegible] लगाकर उनमें एक घोड़ा टाँक देते हैं। इस्तलाह में इसको ताँगा कहते हैं[।] शौकीन लोग इस तख्ते पर मोमजामा मढ़ देते हैं ताकि [illegible] हों और बहुत ज्यादा इबरत पकड़ी जाय।

फरहतुल्ला बेग—यह दिल्ली के रहने वाले थे और इन्होंने अपने [illegible] मौलवी नज़ीर अहमद तथा प्रसिद्ध आलोचक मौलवी वहीदुद्दीन 'सलीम' का हास्यात्मक परिचय लिख कर हास्य-लेखन में अपना स्थान बना लिया है। तारीफ़ की बात यह है कि इन्होंने उन दोनों सज्जनों का हास्य-चित्र तो खींच [दिया] है लेकिन उनके प्रति सम्मान में कोई कमी नहीं आने दी है। 'सलीम' ने [illegible] शुरू ही इनसे कहा था कि तुमने अपने गुरु का उनका हास्य-चित्र देकर अमर कर दिया। इन्होंने भी शोखी में कह दिया कि आप फिक्र न कीजिए मैं आपका [illegible] भी आप पर भी लिख दूँगा। संयोग से 'सलीम' साहब इसके एक वर्ष बाद मर[…]

गये और फ़रहतुल्ला बेग को अपना वादा पूरा करना पडा। उनकी शैली में खुलकर हँसने का मौका नही मिलता, पढनेवाला सिर्फ़ मुस्कुरा सकता है। फिर भी उसका मूड हँसी-खुशी का हो जाता है और यह मूड काफी देर तक रहता है। कभी-कभी वे हलका व्यग्य भी कर देते है, किन्तु उसका आनन्द समझने वाला ही उठा सकता है। उनकी भाषा ठेठ दिल्ली की टकसाली ज़बान है और वे बहुधा ऐसे शब्द और मुहावरे भी ले आते है, जो दिल्ली के अलावा और कही नही बोले जाते। फिर भी भाषा के सतुलन में इससे कोई अन्तर नही आता, बल्कि कथनोपकथन का आनन्द बढ जाता है। उनके 'नज़ीर अहमद का हुलिया' का एक पैरा देखिए—

"एक रोज़ मौलवी साहब अरबी पढा रहे थे कि एक शेर ऐसा आया जिसमे किताब छोड़कर हँसते-हँसते लोट गये। पूछा गया तो कहा, 'भई, हम बहुत गरीब थे। न खाने को रोटी न पहनने को कपड़ा। मसजिद में पड़ता था और मुहल्ले भर की रोटियाँ जमा करता। डिप्टी अब्दुल हामिद के मकान में जैसे ही कदम रखा वैसे ही उनकी लडकी टाँग लेती। जब तक मुझसे सेर दो सेर मसाला न पिसवा लेती न घर से निकलने देती न रोटी का टुकडा देती। खुदा जाने कहाँ से मुहल्ले भर का मसाला उठा लाती। पीसते-पीसते हाथो मे घट्टे पड गये थे। जहाँ मैंने हाथ रोका और उसने बट्टा उँगलियो पर मारा यह लडकी कौन थी? म्याँ, यह लड़की वह थी जो बाद में हमारी बेगम साहबा हुई।"

अज़ीम बेग चगताई—अज़ीम बेग चगताई की हास्य कथाएँ और हास्य उपन्यास 'शरीर बीवी' और 'कोलतार' हिन्दी में भी अनूदित हो गये हैं। यह हैदराबाद में वकील थे। कहानी-लेखिका अस्मत चगताई के यह बड़े भाई थे। अजीम बेग चगताई का आर्ट यह है कि यह शब्दो और वाक्यविन्यासों से हास्य पैदा नही करते, बल्कि कथानक ही इस तरह बनाते हैं और उसे इस भाँति से साथ कह देते हैं कि हँसी नही रुकती। इसके अलावा वे छोटी-छोटी चीज़ों—चुहियों, झींगुर, चीटे, कुत्ते—आदि का वर्णन इस पहलू से करते हैं कि यह नगण्य महत्त्व के जीव-जन्तु भी हास्य की परिस्थिति पैदा कर देते हैं। अन्य हास्यकारों से मिर्ज़ा अज़ीम बेग में एक बडा और महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि उनमें न तो

किसी तरह राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक व्यंग्य रहता है जिससे किसी व[...]
भावनाओं को ठेस लगे, न किसी व्यक्ति विशेष पर छींटाकशी होती है। उनका
हास्य शुद्ध हास्य का नमूना है जो हमें कुछ सिखाने का दावा नहीं करता बल्कि
जीवन में हँसी-खुशी का वातावरण पैदा करता है। उनका हास्य तेज होता है—
आप बगैर हँसे रह नहीं सकते—लेकिन इस तेजी के लिए उन्हें सज्जाद हुसैन
के हाजी बगलोल या 'सरशार' के खोजी की सृष्टि नहीं करनी पड़ती। जीवन
के साधारण निरीक्षण से ही उन्हें अपने चरित्र मिल जाते हैं और घटनाएँ भी
साधारण जीवन की होती हैं किन्तु वे कलापूर्वक घटनाओं को एक दूसरे से जोड़ते
इस तरह हैं कि हास्य के वातावरण की सृष्टि हो जाती है।

शौकत थानवी—शौकत थानवी भी हिन्दी अनुवादों में काफी आ चुके हैं।
आजकल वे पाकिस्तान में हैं। बीस पच्चीस वर्ष पूर्व उनकी 'स्वदेशी रेल' ने
काफी प्रसिद्धि पा ली थी। पहले वे लखनऊ से 'सरपंच' नामक हास्य पत्र
निकाला करते थे। उनकी भी कई पुस्तकें छप चुकी हैं। शौकत थानवी हास्य
रस की कहानियाँ नहीं लिखते, बल्कि अधिकतर लेखों के ही क्षेत्र में रहते हैं।
वे फरहत की भाँति शुद्ध हास्य भी पैदा करते हैं और व्यंग्यात्मक लेख भी
लिखा करते हैं। शौकत थानवी का क्षेत्र हास्य तक ही सीमित नहीं है। वे
कवि भी हैं और नाटककार भी। नाटकों के क्षेत्र में वे मुख्यतः रेडियो-नाटक
लिखा करते हैं।

इम्तियाज अली 'ताज'—ताज के चचा छक्कन उर्दू संसार के इतने ही
सर्वप्रिय चरित्र हैं, जितने पण्डित रतननाथ सरशार के खोजी। उन्होंने एक
खाते-पीते परिवार के सम्मानित मुख्याधीश और स्वभाव से झक्की चरित्र के
रूप में चचा छक्कन को सबका प्यारा बना दिया है। चचा छक्कन का इरादा
हमेशा अच्छी से अच्छी बात करने का होता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके नेक
इरादों की परिणति इसी बात में होती है कि लोग उन्हें और झक्की समझने लगते
हैं। ताज की भाषा बहुत शोख और चलती हुई होती है, यद्यपि कुछ फारसी-
युक्त होती है। फिर भी उसमें प्रवाह बहुत होता है और हास्यकार के रूप में
'ताज' को अत्यन्त सफल बना देता है।

मुल्ला रमूजी—मुल्ला रमूजी अपनी 'गुलाबी' उर्दू पर काफी प्रसिद्ध

हुए थे। उर्दू के वाक्यों में शब्दों को उलट-पलट कर रख देने में ही गुलाबी उर्दू की सृष्टि की गयी थी। इसमें संदेह नहीं कि कुछ देर तक इस तरह की बनी हुई भाषा को पढ़ने में आनन्द आता है और अच्छी खासी हँसी आती है, किन्तु एक भाषा शैली मात्र ही हास्य का आधार नहीं हो सकती। गुलाबी उर्दू के दो-चार पैराग्राफ पढ़ने के बाद ही उससे जी ऊबने लगता है। जिस भाषा को किसी विशेष चरित्र के मुँह से कभी-कभी कहलवा कर हमेशा के लिए ताज़गी पैदा की जा सकती थी, उसी के शत-प्रतिशत व्यवहार से उलझन पैदा होती है और हास्यकार के रूप में वे विशेष सफल नहीं रहते।

रशीद अहमद सिद्दीकी—यह अभी हाल ही तक अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर थे। आलोचना क्षेत्र में प्रमुख स्थान बनाने के साथ ही वे अपने हास्यात्मक निबंधों से भी प्रसिद्ध हुए हैं, किन्तु उनके हास्य और व्यंग-संकेत बहुत ही हलके और कोमल होते हैं और सर्वसाधारण के लिए हास्य की कोटि में नहीं आते।

ण से कार्य कर रहा था। बाद में सुभाष बोस और मानवेन्द्र नाथ राय ने
ी अपने अनुयायियों में समाजवादी चेतना को प्रोत्साहित किया। संक्षेप में
स शताब्दी का चौथा दशक जागरूक राष्ट्रवादियों के समाजवाद की ओर
न्मुख होने का था।

इस नयी चेतना का साहित्य पर प्रभाव पड़ना भी अवश्यंभावी था।
यी पीढ़ी के कवि और कथाकार इस सामाजिक क्रांति के सुस्पष्ट दर्शन से
त्यधिक प्रभावित हुए। तत्कालीन छात्र आन्दोलनों ने भी इस काम में बड़ी
हायता की और हर जगह प्रतिभावान् नवयुवक लेखक पूंजीवाद के विरोध,
ामाजिक समानता और सामूहिक औद्योगिक प्रयत्न के पक्ष में आवाज उठाने
गे। इनमें कुछ की राजनीतिक चेतना परिपक्व थी और कुछ समाजवाद
ी समानतावादी नीति के प्रति केवल भावनात्मक रूप से आकृष्ट हुए थे।
किन्तु साहित्य के क्षेत्र में केवल भावनात्मक आकर्षण भी यथेष्ट था। इस-
लिए शीघ्र ही यह लोग एक ही मोर्चे पर जम गये और १९३६ में 'प्रगतिशील
लेखक संघ' का जन्म हुआ।

प्रगतिवादी आन्दोलन वैसे तो भारत की प्रत्येक भाषा के क्षेत्र में लगभग
एक ही समय आरंभ हुआ और द्वितीय महायुद्ध के बाद तक प्रायः सबमें समान
रूप से चलता रहा, किन्तु उर्दू में उसके बाद भी इसका ज़ोर बना रहा, बल्कि
इतना बढ़ गया कि शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशक में उर्दू में यह प्रवृत्ति
सर्वोपरि हो गयी। यह ठीक है कि अपनी आरंभिक नारेबाजी को छोड़कर
अब यह प्रवृत्ति गंभीर चेतना का रूप धारण कर चुकी है। इसके प्रमुख प्रव-
र्तकों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

'जोश' मलीहाबादी—'जोश' मलीहाबादी ने कुछ अर्थों में इकबाल की
परम्परा को सँभाला है। उनकी कविता में शक्ति-प्रदर्शन की बिजलियाँ
छूटती दिखाई देती हैं। निर्भयता और अक्खड़पन उनके एक-एक शब्द में
व्याप्त है और इसी खरेपन ने उन्हें इस शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशक का
अत्यन्त लोकप्रिय कवि बना दिया था। उस समय लोकप्रियता की दृष्टि से
'जिगर' मुरादाबादी के बाद 'जोश' का ही नम्बर था।

शब्बीर हसन ख़ाँ 'जोश' १८९४ ई० में मलीहाबाद (ज़िला लखनऊ)

वे एक जागीरदार वंश में पैदा हुए। उनके प्रपितामह फ़कीर मुहम्मद खाँ 'गोया' अमीरुद्दौला की सेना में रिसालदार थे और साहित्य क्षेत्र के भी महारथी। उन्होंने ग़ज़लों का एक दीवान और गद्य की प्रख्यात पुस्तक 'बुस्तान-हिकमत' लिखी थी। जोश के पितामह मुहम्मद अहमद खाँ 'अहमद' और बशीर अहमद खाँ 'बशीर' भी शायर थे। इस प्रकार उन्हें साहित्य-सेवा की वंश परम्परा भी मिली। स्वयं कहते हैं कि बचपन में उन पर जागीरदाराना शान का बड़ा प्रभाव पड़ा था और क्रोध और ज़िद उनकी घुट्टी में पड़ गया था (जो अब तक मौजूद है)। उनकी औपचारिक शिक्षा अधिक नहीं हुई। बचपन में ही भावुकता के संसार में रहने लगे और इसी क्षेत्र में उत्तरोत्तर उच्च शिखरों पर चढ़ते गये। जवानी के शुरू में वे अत्यन्त धर्मप्राण हो गये थे। नमाज़ रोज़े की सख्ती से पाबंदी करते थे दाढ़ी रख ली थी और मांस खाना भी छोड़ दिया था। किन्तु यकायक विचारों में ऐसा परिवर्तन हुआ कि धर्म का बाह्य आवरण भी अपने ऊपर नहीं रहने दिया जीवन का पूर्णतः भौतिक स्तर पर भोगने लगे, सुरा और सुन्दरियों का खुलकर उपभोग करने लगे। कहा जाता है कि उन्होंने अठारह बार प्रेम-व्यापार किया जिनमें एक को छोड़कर अन्य सभी में वे सफल रहे। जहाँ तक सुरापान का सम्बन्ध है उनका यह शौक़ अब तक पूरे ज़ोर से जारी है।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान में उन्होंने 'ईस्ट इंडिया कम्पनी के फ़र्ज़न्दों के नाम', 'वफ़ादाराने-अज़ली का पयाम शहंशाहे हिन्दोस्तां के नाम', 'शिकस्ते ज़िन्दाँ का ख्वाब' ऐसी गरजती-गूँजती ब्रिटिश विरोधी नज़्में लिखीं और वे प्रगतिशील कवियों में प्रमुख हो गये। प्रगतिशीलों ने उन्हें अपना शायर मान लिया और वे बहुत दिनों तक कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के अनुसार कविता में संदेश देते रहे। किन्तु दरअस्ल वे बौद्धिक रूप से मार्क्स के दर्शन से कभी प्रभावित न हुए। उन्हें प्रभावित करने वाला तो केवल नीत्शे का व्यक्तिवादी और धर्म विरोधी दर्शन तथा उमर ख़य्याम और हाफ़िज़ के दर्शन का कुछ अंश (भोगवाद) था। उनकी कविता में विचार तत्व गहरा नहीं है किन्तु [illegible] अभिव्यंजना में उनकी टक्कर का शायद और कोई नहीं है। युद्ध काल में उन्होंने अपनी नज़्मों के कारण कारावास भोगा, फिर बम्बई चले गये, जहाँ फ़िल्मों के

मज़हबी इख़्लाक़ के जज़्बे को ठुकराता है जो
आदमी को आदमी का गोश्त खिलवाता है जो
फ़र्ज़ भी कर लूँ कि हिन्दू हिन्द की रुसवाई है
लेकिन इसको क्या करूँ फिर भी वो मेरा भाई है
बाज़ आया मैं तो ऐसे मज़हबी ताऊन से
भाइयों का हाथ तर हो भाइयों के ख़ून से
तेरे लब पर है इराक़-ओ-शाम-ओ-मिस्र-ओ-रूम-ओ-चीं
लेकिन अपने ही वतन के नाम से वाक़िफ़ नहीं
सब से पहले मर्द बन हिन्दोस्ताँ के वास्ते
हिन्द जाग उट्ठे तो फिर सारे जहाँ के वास्ते

'अख़्तर' शीरानी—'अख़्तर' शीरानी को बीसवीं शताब्दी का सबसे प्रमुख रोमानवादी शायर कहा जा सकता है। इनका नाम मुहम्मद दाऊद ख़ाँ था और यह ४ मई, १९०५ ई० को टोंक रियासत में पैदा हुए थे। १९२० ई० में इनके पिता इन्हें लाहौर ले आये और औपचारिक शिक्षा दिलाना आरंभ किया, किन्तु इनका ध्यान पूर्णतः कविता में ही लगा था और यह पढ़ नहीं सके, सिर्फ़ किसी तरह 'मुंशी फ़ाज़िल' की परीक्षा पास कर ली। इसके बाद इन्होंने क्रमशः

'हुमायूँ', 'इन्तखाब', 'खयाबिस्तान' [illegible] का सम्पादन किया। ९ सितम्बर, १९४८ ई० को [illegible] उनका देहावसान हो गया। गद्य में उनकी पुस्तक [illegible] और 'धड़कते दिल' है। मुख्यतः यह कवि थे और इनकी आठ काव्य रचनाएँ—'[illegible] के गीत', 'नग्मए-हरम', 'सुब्ह-बहार', 'अख्तरिस्तान', 'लाला-तूर', 'तयूरे-आवारा', 'शहनाज़' और 'शहरोद'—प्रकाशित हो चुके हैं।

अख्तर की शायरी में हम रोमांसवाद का वास्तविक, किन्तु अत्यन्त निखरा हुआ रूप दिखाई देता है। उनकी भाषा बड़ी मीठी है और अनुभूतियाँ वास्तविक। उनका प्रेम सौ फीसदी भौतिक है। उसे किसी तरह भी कोई और रूप नहीं दिया जा सकता। हद यह है कि उन्होंने अपनी कविताओं में सल्मा रेहाना, शीरी आदि अपनी प्रेयसियों के नामों का भी उल्लेख कर दिया है। फिर भी उनकी रोमांसवादी कविताएँ हल्की नहीं कही जा सकतीं। उनमें समर्पणवादी प्रेम की तड़प है। वे जाम की भाँति केवल सौन्दर्य की अनुभूति का आनन्द लेना ही नहीं जानते उसमें तड़पना भी जानते हैं। उन्हें संयोग से अधिक वियोग का अनुभव है और इसी से उनकी कविता में एक मधुर-मधुर सी टीस बनी रहती है। कविता का नमूना निम्नलिखित है—

ऐ इश्क़ न छेड़ आ आ के हमें हम भूले हुओं को याद न कर
पहले ही बहुत नाशाद हैं हम तू और हमें नाशाद न कर
किस्मत का सितम ही कम तो नहीं यह ताजा सितम ईजाद न कर

यूँ ज़ुल्म न कर बेदाद न कर
ऐ इश्क़ ! हमें बरबाद न कर

यह रोग लगा है जब से हमें रंजीदा हूँ मैं बीमार है वह
हर वक्त तपिश हर वक्त खलिश बेख्वाब हूँ मैं बेदार है वह
जीने से इधर बेज़ार हूँ मैं मरने पे उधर तय्यार है वह

और ज़ब्त कहे फरयाद न कर
ऐ इश्क़ ! हमें बरबाद न कर

ही नहीं पैदा होती, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए नये रास्ते खुल जाते हैं। आधुनिक कवियों में शायद 'फ़ैज़' ने ही उर्दू को सबसे अधिक अभिव्यंजना शक्ति प्रदान की है। उदाहरण के लिए उनकी एक छोटी नज़्म 'तनहाई' आगे दी जा रही है--

> फिर कोई आया, दिले - ज़ार ! नहीं, कोई नहीं
> राह रौ होगा, कहीं और चला जायेगा
> ढल चुकी रात, बिखरने लगा तारों का गुबार
> लड़खड़ाने लगे ऐवानों में ख्वाबीदा चिराग़
> सो गयी रास्ता तक तक के हर इक राह गुज़ार
> अजनबी ख़ाक ने धुंधला दिये क़दमों के सुराग़
> गुल करो शमएँ, बढ़ा दो मै-ओ-मीना-ओ-अयाग़
> अपने बेख्वाब किवाड़ों को मुक़फ़्फ़ल कर लो
> अब यहाँ कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा

असरारुल हक़ 'मजाज़'—'मजाज़' को कुछ आलोचक उर्दू का कीट्स कहते हैं। वास्तव में रोमांस के साथ जितनी तड़प 'मजाज़' ने पैदा की, उतनी शायद ही किसी के नसीब में आयी हो। मजाज़ २ फरवरी १९०९ ई० को लखनऊ के समीप कस्बा रुदौली में पैदा हुए थे। उन्होंने लखनऊ के अमीनाबाद हाई स्कूल से हाई स्कूल की परीक्षा पास की। इन्टर में आगरा के सेन्ट जान्स कालेज में प्रविष्ट हुए, किन्तु वहाँ से इन्टर न कर सके। हाँ, उस समय उनकी कविता शुरू हो गयी थी और सहपाठी की हैसियत से मुईन अहसन 'जज़्बी' (जो उस समय 'मलाल' तखल्लुस करते थे—'मजाज़' उन दिनों 'शहीद' तखल्लुस करते थे) और प्रमुख कवियों में 'फ़ानी' का उन्हें साथ मिला। इन्टर में फेल होने पर वे अलीगढ़ आ गये और यहाँ अपने कवित्व की धूम मचा दी। १९३६ ई० में उन्होंने बी० ए० किया और उसी समय रेडियो की पत्रिका 'आवाज़' के सम्पादक होकर दिल्ली चले गये। किन्तु दिल्ली में एक प्रेम के असफल होने पर उन्होंने बेतहाशा शराब आरम्भ कर दिया और एक साल में ही नौकरी छोड़कर लखनऊ आ गये। १९४० में उन पर

नर्वस ब्रेक डाउन का दौरा पड़ा, लेकिन फिर इलाज से ठीक हो गये। इसके बाद वे कुछ दिनों बम्बई इन्फ़ार्मेशन में काम करते रहे। फिर लखनऊ आकर सरदार जाफ़री और सिब्ते-हसन के साथ 'नया अदब' नामक प्रगतिशील मासिक पत्र का सम्पादन किया। फिर दिल्ली की हार्डिंग लाइब्रेरी में असिस्टेन्ट लाइब्रेरियन हो गये। किन्तु १९४५ ई० में उनपर उन्माद का दूसरा दौरा पड़ा। इसके बाद 'मजाज़' सँभल ही न सके। शराब उनके लिए ज़हर का काम करती थी, लेकिन वे पीते ही गये। अन्त में ६ दिसम्बर १९५५ ई० को इसी के कारण उनके मस्तिष्क की रग फट गयी और वे असमय ही—पूरे ४७ के भी नहीं हो पाये थे—काल-कवलित हो गये।

'मजाज़' का कवि जीवन वास्तव में बहुत कम दिन रहा। १९३० ई० में उन्होंने काव्य-साधना आरंभ की थी और १९५० ई० के बाद दो ही चार नज़्में लिखीं। उनका केवल एक ही काव्य-संग्रह 'आहंग' है। इसकी भूमिका में 'फ़ैज़' ने लिखा है कि "मजाज़ इनक़लाब का ढिंढोरची नहीं, इनक़लाब का मुतरिब है, उसके नग्मे में बरसात के दिन की सी सुकूँबख़्श गुनकी है और बहार की रात की सी गर्म जोश तासीर आफ़रीनी।" दरअसल मजाज़ की कविता में बौद्धिक पहलू काफ़ी निखरा हुआ है, किन्तु रोमांस उनकी चेतना का आधार मालूम होता है। प्रेम की असफलता की कसक उनके काव्य में साफ मालूम होती है, लेकिन वे उसका आधार सामाजिक असमानता मानते हैं। उनकी प्रसिद्ध नज़्म 'आवारा' के तीन बंद उदाहरण-स्वरूप आगे दिये जाते हैं—

इक महल की आड़ से निकला वो पीला माहताब
जैसे मुल्ला का अमामा जैसे बनिये की किताब
जैसे मुफ़लिस की जवानी जैसे बेवा का शबाब
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ ऐ वहशते-दिल क्या करूँ

दिल में इक शोला भड़क उट्ठा है आख़िर क्या करूँ
मेरा पैमाना छलक उट्ठा है आख़िर क्या करूँ
ज़ख़्म सीने का महक उट्ठा है आख़िर क्या करूँ
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ ऐ वहशते-दिल क्या करूँ

प्रकाशित कर दिया। उनके दर्दीले स्वरों में वे आँसुओं से भीगे बोल निकले थे। लेकिन उनकी बौद्धिक जागरूकता भी पूर्ण थी और उन्होंने आत्मा... सम्मानपूर्वक अपना दिल का दर्द ज़माने के दर्द में बदल दिया। 'जज़्बी' का एक काव्य संग्रह 'फ़रोज़ाँ' प्रकाशित हुआ है। उसी से एक नज़्म 'मौत' के दो बन्द दिये जाते हैं—

> अपनी सोयी हुई दुनिया को जगा लूं तो चलूं
> अपने ग़मख़ाने में इक धूम मचा लूं तो चलूं
> और इक जामे-मए-तल्ख़ चढ़ा लूं तो चलूं
>
> अभी चलता हूं, ज़रा ख़ुद को संभालूं तो चलूं
>
> मेरी आँखों में अभी तक है मुहब्बत का ग़ुरूर
> मेरे होठों को अभी तक है सदाक़त का ग़ुरूर
> मेरे माथे पे अभी तक है शराफ़त का ग़ुरूर
>
> ऐसे वहमों से भी अब ख़ुद को निकालूं तो चलूं

अली सरदार जाफ़री—सरदार जाफ़री उन प्रगतिशीलों में से हैं, जिनकी राजनीतिक और सामाजिक चेतना उनकी काव्य-चेतना के आगे चलती है। फिर भी उनकी काव्य-चेतना भी पूरे उभार पर होती है और वे एक क्षण के लिए भी 'केवल प्रचारक' नहीं होते। अली सरदार का जन्म बलरामपुर (ज़िला गोंडा) में २९ नवम्बर, १९१३ ई० को हुआ था। उनका घराना मध्यवर्गीय मुसलमानों का घराना था, जिसमें 'अनीस' के मरसियों को धार्मिक सम्मान प्राप्त था। १९३३ ई० में हाई स्कूल करने के समय तक अली सरदार भी मरसिये ही लिखते रहे। फिर वे अलीगढ़ यूनीवर्सिटी पहुँचे, जहाँ उनकी भेंट 'मजाज़', 'जज़्बी', 'ख़्वाजा अहमद अब्बास', अख़्तर हुसैन रायपुरी, सिब्ते-हसन आदि प्रगतिशील युवकों से हुई और वे भी पूरी तरह उनके रंग में रँग गये। [illegible] की एक हड़ताल कराने के सिलसिले में उन्हें यूनीवर्सिटी से निकाल दिया गया और उन्होंने एंग्लो-एरेबिक कालेज दिल्ली से बी० ए० और लखनऊ यूनीवर्सिटी से एम० ए० किया। छात्र जीवन में ही वे साम्यवादी दल के

सदस्य हो गये थे और उसे छोड़ने पर पूरे तौर पर राजनीतिक कार्यकर्ता हो गये और बम्बई चले गये। पाकिस्तान बनने पर वे वहाँ जाकर भी कुछ दिनों तक साम्यवादी कार्यकर्ता के रूप में रहे थे। वे दो बार रूस भी हो आये हैं और वहाँ के प्रधानमन्त्री खुश्चेव से भी भेंट कर चुके हैं। उनका राजनीतिक और साहित्यिक जीवन सदा की भाँति साथ-साथ चल रहा है। उनके कई कविता-संग्रह—'परवाज़', 'नयी दुनिया को सलाम', 'खून की लकीर', 'अम्न का सितारा', 'एशिया जाग उठा' और 'पत्थर की दीवार'—प्रकाशित हो चुके हैं। अली सरदार की कविता में टेकनीक की पूरी प्रौढ़ता के साथ ही चेतना की भी प्रौढ़ता दिखाई देती है यद्यपि उनकी चेतना का स्तर 'फ़ैज़' जैसा ऊँचा नहीं है। वे करुणावादी नहीं हैं, किन्तु कोमलतावादी अवश्य हैं। उनका मानव के भविष्य में विश्वास अटूट है। उनकी दृष्टि सामाजिक है, किन्तु वैयक्तिक अनुभूतियों की उपेक्षा का आग्रह उनमें नहीं है। उनकी नज़्म 'पत्थर की दीवार' का आख़िरी बंद देखिए—

तीरगी के बादल से
जुगनुओं की बारिश से
रक्स में शरारे हैं
हर तरफ़ अँधेरा है
और इस अँधेरे में
हर तरफ़ शरारे हैं
कोई कह नहीं सकता
कौन सा शरारा कब
बेक़रार हो जाये
शोलाबार हो जाये
इनकलाब आ जाये

अहसान दानिश—अहसान दानिश प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में 'जोश' की तरह प्रसिद्ध हो चुके थे। उनका जन्म १९१४ ई० में मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले के क़स्बा काँधला में हुआ। उनका वंश पवित्रता के लिहाज़ से तो

बहुत ऊँचा था, लेकिन आर्थिक दृष्टि से बहुत गरीब था। उन्होंने भी १९२४ ई० मे प्राइमरी पास किया। इसके बाद नियमित शिक्षा नही हुई। अहसान ने, जिनका असली नाम अहसानुलहक है, आरभ मे जीविकोपार्जन के लिए मजदूरी का सहारा लिया। उन्होंने सड़को, खेतों आदि में काम किया और चपरासगरी और चौकीदारी भी की। साथ ही कविता भी करते रहे। अंत में ससार की निगाहे इनपर पडी और इन्होंने अपनी प्रकाशन सस्था 'मक्तबा दानिश' को अपनी स्वतन्त्र और सम्मानित आजीविका का साधन बना लिया। अहसान के काव्य-सग्रह ये हैं—'नवाए-कारगर', 'चिरागाँ', 'आतशे-खामोश', 'जादएनौ', 'जख्मो-मरहम', 'मुकामात', 'गोरिस्ताँ', 'नफीरे-फितरत'। गद्य मे इनकी पुस्तकें 'लुगातुल इस्लाह', 'दस्तूरे-उर्दू', 'ख़िज़्रे उरुज', 'रोशनियाँ' और 'तबकात' हैं। गद्य मे भी, जैसा पुस्तको के नामों से प्रकट है, अधिकतर काव्य और भाषा के नियमो सम्बन्धी लेख ही हैं। अहसान का काव्य टेकनीक के लिहाज मे बहुत ही मँजा और सुथरा होता है और भाव की दृष्टि से अत्यन्त ओजपूर्ण। हाँ, उसमे बौद्धिक पर्यवेक्षण की कमी जरूर दिखाई देती है।

अख्तरुल ईमान—अख्तरुल ईमान उन प्रगतिशील लेखकों में से हैं, जो स्पष्ट शैली की बजाय सकेतवादी शैली को अपने भाव-प्रकाश का माध्यम बनाना पसद करते हैं। इनका जन्म १२ नवम्बर १९१५ ई० को जिला बिजनौर के एक खाते-पीते घराने में हुआ था। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ही समय के बाद इनके माता-पिता मर गये और इन्होंने बचपन की आँखें दिल्ली के एक अनाथालय में खोली। दिल्ली के ऐंग्लो-एरेबिक कालेज से, जहाँ उनकी फीस माफ थी, उन्होंने बी० ए० किया। एम० ए० करने के लिए मेरठ और अलीगढ में कोशिश की, लेकिन रुपये का प्रबध न होने के कारण उन्हे यह आशा छोडनी पडी। १९४४ ई० मे वे कहानी और सवाद-लेखक की हैसियत से पूना के शालीमार पिक्चर्स मे शामिल हो गये। उस समय उसमे 'जोश' मलीहाबादी, 'सागर' निजामी, किशनचन्दर, भरत व्यास आदि उच्च कोटि के साहित्यकार जमा थे। शालीमार पिक्चर्स के टूटने पर वे बम्बई चले आये और अब तक फिल्मों में सवाद-लेखक के रूप मे काम करते हैं। कविता के क्षेत्र मे इनका सर्जन बहुत अधिक नहीं तो कम भी नहीं है, 'गिर्दाब', 'सबरंग' और 'तारीक सय्यारा' के

दायमी जिन्दगी में तुम्हारे लिए
अहदे - क़ानून की गीर और दार से
अपनी ज़ख़्मी मुहब्बत बचा लाया हूँ

अहमद नदीम क़ासिमी—अहमद नदीम क़ासिमी की कहानियों के हिन्दी रूपान्तर से हिन्दी के पाठक अब तक काफी परिचित हो चुके हैं। उन्होंने स्वयं अपना परिचय निम्नलिखित संक्षिप्त शब्दों में दिया है—

"मेरा जन्म २० नवम्बर १९१६ ई० को हुआ। मेरे गाँव का नाम अंगा है जो जिला सरगोधा की एक सुन्दर घाटी में बसा हुआ है। मेरे आदि पुरुष सूफ़ी संत थे और इस्लाम का प्रचार करते थे। इसलिए मेरे वंश के लोगों के नाम के आरंभ में 'पीर' और अंत में 'शाह' रहता है। इसीलिए आरंभ में मेरा नाम भी अहमद शाह रखा गया। बाद में इस 'शाह' ने मुझे बहुत परेशान किया और अब मुझे संतोष है कि मुझे पीरज़ादा की बजाय अहमद नदीम क़ासिमी के नाम से पुकारा जाता है।

"१९३५ ई० में मैंने किसी तरह बी० ए० किया और कई साल तक यह डिग्री और खानदानी उपाधियों का पुलिन्दा कांधों पर रखकर नौकरी की भीख मांगता फिरा। मुहर्रिरी, क्लर्की, आबकारी विभाग की नौकरी और बेकारी—मैंने क्या क्या पापड़ नहीं बेले।

" 'अदबे-लतीफ़', 'सवेरा' और 'नुक़ूश' के सम्पादन के बाद आजकल मैं लाहौर के वामपक्षी दैनिक समाचार पत्र 'इमरोज़' में सम्पादन-कार्य कर रहा हूँ। अब तक कविताओं के चार संग्रह और कहानियों के सात संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।"

अहमद नदीम की कविताओं और कहानियों की विशेषता यथार्थवाद है। पहले वे इकबाल की भाँति विश्व इस्लामवाद के आदर्श से प्रेरित मालूम होते थे। किन्तु अब मालूम होता है कि उनका विश्वास इस अयथार्थवादी दर्शन में नहीं रहा है और वे सामाजिक ढाँचे के आर्थिक परिवर्तन में विश्वास करने लगे हैं। फिर भी वे क्रान्ति का प्रचार करते कभी नहीं दिखाई देते। हाँ, जगह जगह चुटकियाँ जरूर लेते हैं। वे उपदेश नहीं देते, यथार्थ जीवन का कोई और

जीवन निर्वाह करने लगे। किन्तु दुर्भाग्य से उन्हे जवानी में मदिरापान की लत इतनी गहरी लग गयी थी कि पाकिस्तान जाकर अपने को न सँभाल सके। १९५३ ई० मे उन्हे पीलिया का रोग हुआ, किन्तु इस पर भी वे शराब न छोड़ सके और इसी कारण १९५५ ई० मे उनकी ४३ वर्ष की अल्पायु में मृत्यु हो गयी।

मन्टो 'गालिब' की तरह हर एक बात में अपने को दूसरों से अलग रखना चाहते थे। वे बीस वर्ष के भी नहीं थे, जब उन्होंने अमृतसर मे अगारो पर चलकर दिखा दिया। बम्बई के आवास-काल मे उनकी जिद थी कि हर चीज कीमती से कीमती खरीदेंगे, यहाँ तक कि अपना इलाज भी उस डाक्टर से कराते थे जो सबसे अधिक फीस—६४ रुपये—लेता था। एक बार नौकर बीमार हुआ तो उसका इलाज भी इसी डाक्टर से कराया। शायद दूसरों से अपने को अलग दिखाने की इसी प्रवृत्ति ने उन्हे साहित्य-सर्जन में नितात यथार्थवाद की राह पर डाल दिया। यह ध्यान देने की बात है कि जिस समय मन्टो ने लिखना शुरू किया, उस समय उर्दू का कथा-साहित्य आदर्शवाद से आगे न बढ़ा था। यह आदर्शवाद भी क्रातिकारी किस्म का न था, बल्कि नजीर अहमद और राशिदुल ख़ैरी की परम्परा मे वैयक्तिक व्यवहार के सुधार की ओर प्रयत्नशील था। प्रेमचन्द आदि के प्रभाव से उसमे सामाजिक चेतना के अकुर भी फूट रहे थे। लेकिन मन्टो ने इससे आगे की मजिल—सामाजिक क्राति की दृष्टि—को एकदम से फलाग कर तत्कालीन यूरोपीय साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की, जो फ्रायड के मनोविज्ञान और लैंगिक मनोविकारों के अध्ययन पर आश्रित था। इस प्रकार के साहित्य का यूरोप तक मे गालियो द्वारा स्वागत हो रहा था, फिर पुराण-पथी भारत में तो कहना ही क्या था! आलोचको ने मन्टो के 'नग्नवाद' को खूब कोसा। लेकिन मन्टो ने किसी की परवा न की और बराबर समाज के यौन मनोविकारों के सड़ते हुए घाव खोलकर दिखाते रहे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनकी प्रसिद्ध कहानियों 'काली शलवार', 'बू', 'धुआँ', 'ठडा गोश्त' आदि मे तत्कालीन यूरोपीय लेखकों की भाँति किसी क्षणिक अनुभूति का विस्तृत वर्णन नही, बल्कि गठी हुई और शृखलाबद्ध अनुभूतियों के पूरे चित्र मौजूद हैं, जो किसी गहरे सामाजिक अभाव की ओर इगित करते हैं और उसे पूरा करने

ख्वाजा अहमद अब्बास की लगभग एक दर्जन पुस्तकें उर्दू और अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके कहानी-संग्रहों में 'एक लड़की', 'जाफरान के फूल', 'पाँव में फूल', 'अंधेरा उजाला', 'कहते हैं जिसको इश्क' आदि हैं। नाटकों में 'जुबेदा', 'यह अमृत है', 'चौदह गोलियाँ' आदि प्रसिद्ध हैं। १९३८ ई० के संसार-भ्रमण का अंग्रेजी में पुस्तकाकार वर्णन किया है। इसका उर्दू अनुवाद 'मुसाफिर की डायरी' के नाम से हो चुका है। उनकी अंग्रेजी पुस्तकों की संख्या भी काफ़ी है, किन्तु उनका उल्लेख इस अवसर पर अनावश्यक है।

ख्वाजा अहमद अब्बास बुनियादी तौर पर पत्रकार हैं। पत्रकारिता का तकाजा है कि लेखन में आकर्षण तो हो, लेकिन हर बात जाँच-तोल कर इस प्रकार कही गयी हो कि कहीं से उसमें गलती का पहलू न निकल सके। ख्वाजा साहब के सर्जित साहित्य में भी यही बात दिखाई देती है। उनकी कहानियों में बौद्धिक जागरूकता उनके भावनात्मक आवेश को दबाती-सी दिखाई देती है। साथ ही साथ उनकी कहानियों में व्याख्या और आलोचना का अंश भी काफ़ी रहता है। फिर भी बात का खरापन, विषयों का बाहुल्य और वर्णन की सजीवता ख्वाजा साहब के साहित्य को एक निज का रंग प्रदान कर देती है।

राजेन्द्रसिंह बेदी—वर्तमान उर्दू कथाकारों में किशनचन्दर के बाद अगर किसी की कहानियाँ पसंद की गयी हैं तो वे राजेन्द्रसिंह बेदी हैं। बेदी का जन्म १ सितम्बर १९१५ ई० को लाहौर छावनी में हुआ था। बाल्यकाल का प्रथम भाग गाँव में और शेष लाहौर में गुजरा। शिक्षा एफ़० ए० तक हुई। पहले जीविकोपार्जन के लिए डाकखाने में नौकरी की। १९४० ई० में उन्होंने किशनचन्दर के कहने पर यह नौकरी छोड दी और आल इंडिया रेडियो में नौकरी कर ली। फिर उनका तबादला दिल्ली हुआ, जहाँ उन्होंने रेडियो छोड़ कर पब्लिक रिलेशंस आफ़िस में नौकरी कर ली। युद्ध समाप्त होने पर उन्होंने लाहौर की माहेश्वरी फिल्म में नौकरी की और 'कहाँ गये' फिल्म के संवाद लिखे। इसके बाद उन्होंने निस्बत रोड लाहौर पर 'संगम पब्लिशर्स' नामक प्रकाशन [illegible] -विभाजन के कुछ दिनों बाद उन्होंने रेडियो कश्मीर [illegible] की, लेकिन कुछ ही महीने की नौकरी के बाद [illegible] और फिल्मों की कहानियाँ और सम्वाद लिखने

का काम शुरू किया और अब तक यही काम कर रहे हैं। राजेन्द्रसिंह बेदी के तीन कहानी-संग्रह 'दाना-ओ-दाम', 'ग्रहन' और 'कोख जली' तथा एकांकी संग्रह 'सात खेल' प्रकाशित हो चुके हैं।

राजेन्द्रसिंह बेदी की कहानियों की कला में बुद्धि और भावना का वही मनमोहक सामञ्जस्य दिखाई देता है, जो किशनचन्दर की कहानियों में है। किशनचन्दर की एक विशेषता तो यह है कि उन्होंने अपनी फिल्मी व्यस्तता के बावजूद बहुत अधिक लिखा और बेदी बेचारे तीन-चार संग्रह ही दे सके। दूसरी बात जो किशनचन्दर के यहाँ दिखाई देती है वह उनकी नयी कथानक-हीन रिपोर्ताज की टेकनीक है, जिससे बेदी प्रभावित तो बहुत हुए हैं, किन्तु पूर्णत आत्मसात् नहीं कर सके। बेदी की कहानियों के कथानक घटना-प्रधान होने की अपेक्षा भावना-प्रधान अवश्य होते हैं, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनकी कहानियाँ कथानक-हीन नहीं कही जा सकतीं। लेकिन बेदी की कला एक दृष्टि से किशनचन्दर से आगे जाती है। उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत विशाल है और वे सामाजिक के अतिरिक्त वैयक्तिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में भी मार्मिक कहानियाँ लिखते हैं। उनकी कहानियों में 'हम दोश', 'गर्मकोट' और 'पॉनशाप' बहुत मशहूर हैं। 'पॉनशाप' की दृष्टि सामाजिक-आर्थिक है, 'गर्मकोट' की विशेषता उसकी कोमलता है, जो कि आर्थिक विवशता की पृष्ठभूमि में खूब उभरती है। इसके विरुद्ध 'हम दोश' की कोमलता और करुणा अस्पताल के जीवन-मृत्यु संघर्ष की पृष्ठभूमि में उभरती है, जिसका आर्थिक प्रश्नों से कोई लगाव ही नहीं है। बेदी चाहे जिस क्षेत्र को चुनें, वे हमारी अनुभूतियों की कोई ऐसी रग छू देते हैं जिसका दुख पहले सोया हुआ होता है, लेकिन उनके स्पर्श से पूर्णत: जागृत हो जाता है।

इस्मत चग़ताई—उर्दू में मन्टो के बाद यथार्थवादी कथा-साहित्य में इस्मत चग़ताई का ही नाम आता है। वे उर्दू के सर्वश्रेष्ठ हास्य-लेखक स्वर्गीय अज़ीम बेग चग़ताई की छोटी बहन हैं। वे १९१० ई० के लगभग पैदा हुईं। उनकी शिक्षा अलीगढ़ और लखनऊ में हुई। १९३८ ई० में उन्होंने कहानियाँ लिखना शुरू किया। १९४२ ई० में उनका विवाह फ़िल्म प्रोड्यूसर शाहिद लतीफ़

और धीमी न पड़ने दी। दोनों बहनों में अब भी एक दूसरे को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति है और पारिवारिक वातावरण भी इसके विरुद्ध नहीं। फलस्वरूप यह बराबर लिखती जा रही हैं। अभी तक इनके चार कहानी-संग्रह—'हाय अल्ला', 'चोरी छुपे', 'चरके' और 'अँधेरे उजाले' प्रकाशित हो चुके हैं।

लाहौर के उन साहित्यिक क्षेत्रों ने, जो प्रगतिवादी धारा से सहमत नहीं हैं, इन दोनों बहनों के साथ बड़ी ज़्यादती की। इनके बारे में बड़ी-बड़ी गलतियाँ उछाली गयीं, इनके बारे में अपमान-जनक कार्टून छापे गये। लेकिन ये दोनों अपने मैदान में डटी रहीं। शायद कठिनाइयों से जूझने और हार न मानने का पाठ इन लोगों को बचपन में ही मिल चुका था। हाजरा मसरूर के समस्त साहित्य में भी इसी आग्रह-पूर्वक अपने पथ पर डटे रहने की मनोवृत्ति दिखाई देती है। साफ मालूम होता है कि ये दृढ़तापूर्वक मानव समाज की गहरे में छुपी हुई कमजोरियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर सामने लाती हैं, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उनका विद्रोह तूफानी नहीं है। ये सादगी से एक दृश्य पेश कर देती हैं, और उसमें भी इस बात का ख्याल रखती हैं कि पाठक की सामाजिक मान्यताओं को ठेस न पहुँचे और इस प्रकार पाठक की बुद्धि और भावनाओं को अपने साथ लेकर चढ़ाव-उतार में रास्तों से ले जाकर उसे ऐसी जगह पर खड़ा कर देती हैं, जहाँ वह वर्तमान परिस्थितियों के औचित्य का कोई कारण ही न पा सके। उनकी कहानियों के पात्र सजीव हैं और अस्मत चग़ताई की तरह कष्ट और दुख से पीड़ित भी। साथ ही टेकनीक के क्षेत्र में भी वे अस्मत चग़ताई की शैली का अनुगमन करती हैं यानी परिसम्वाद कम और मनोविश्लेषण अधिक। शैली की यह पुनरावृत्ति कुछ विशेष प्रभावित नहीं करती, किन्तु भविष्य में आशा है कि हाजरा मसरूर अपनी कहानियों में बिलकुल निज का रंग पैदा कर लेंगी।

: १९ :

उर्दू नाटक

उर्दू नाटक का प्रारंभ तो वास्तव में वाजिद अली शाह और अमानत लखनवी की इन्दर सभाओं में हो गया था, किन्तु उसकी वास्तविक उन्नति उन्नीसवीं शताब्दी के अंत काल के समीप हुई। पहले नाटकों में हिन्दू देव माला की कथाएँ अभिनीत होती थीं। उधर पश्चिमी देशों के नाटक भी कुछ लोगों ने, विशेषत बम्बई वालों ने देखे थे। अब कुछ पारसी कलाकारों ने सोचा कि ईरान की प्रागैतिहासिक कथाएँ—सुहराव, रुस्तम आदि—भी रंगमंच पर लायी जा सकती हैं। चुनांचे कुछ कलाप्रिय पारसी सेठों ने व्यापारिक ढंग पर कम्पनियाँ चलायीं। सबसे पहली कम्पनी सेठ पिस्टनजी फ़ामजी की थी। इसका नाम ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी था। इसने 'रौनक' बनारसी द्वारा रचित नाटक अभिनीत किये। रौनक का एक नाटक 'इसाफ़े-महमूदशाह' १८८२ ई० में बम्बई में छपा भी था। इस कम्पनी ने मिर्ज़ा हुसैनी 'ज़रीफ़' द्वारा लिखित नाटक 'खुदा दोस्त', 'चांद बीबी' आदि भी अभिनीत किये।

सेठ पिस्टनजी फ़ामजी के देहात के बाद उनकी कम्पनी के दो प्रमुख अभिनेताओं खुर्शीदजी बालीवाला तथा काउसजी ने अपनी अलग-अलग कम्पनियाँ कायम कीं। खुर्शीदजी बालीवाला ने विक्टोरिया नाटक कम्पनी स्थापित की, जिसने १८७७ ई० के दिल्ली दरबार में अभिनय किये थे। इस कम्पनी के प्रमुख नाटककार मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी थे। वे कवि भी थे और 'रासिख़' देहलवी के शागिर्द थे। उन्होंने नाटक की भाषा आदि में पहले से बहुत उन्नति की। उनका एक प्रसिद्ध नाटक 'लैलो-निहार' है, जो लार्ड लिटन की एक पुस्तक का रूपांतर है। 'तालिब' के अन्य नाटक 'विक्रम विलास', 'दिलेर दिलशेर', 'नाज़ी', 'निगाहे-ग़फ़लत', 'गोपीचन्द' आदि हैं। मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' का देहान्त १९१४ ई० में हो गया।

विक्टोरिया नाटक कम्पनी के मुक़ाबले में काउसजी ने अपनी एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी स्थापित की। इसके नाटककार सय्यद मेहदी हसन 'अहसन' लखनवी थे, जो मिर्ज़ा 'शौक़' के पौत्र थे। ये नाटककार होने के अलावा कवि और संगीतज्ञ भी थे। उनके नाटक 'फ़ीरोज़ गुलज़ार', 'चन्द्रावली', 'दिल-फ़रोश', 'भूलभुलय्याँ', 'बकावली' और 'चलता पुर्ज़ा' हैं। इनमें भी उनका ड्रामा 'चलता पुर्ज़ा' बहुत प्रसिद्ध हुआ। अभी तक के नाटक अधिकतर पद्य में होते थे और जहाँ गद्य होता था वह भी सानुप्रास। इन ड्रामों में गाने बहुत अधिक होते थे और प्रहसन भी फूहड़ क़िस्म का होता था।

नारायन प्रसाद 'बेताब' देहलवी—'अहसन' लखनवी के बाद एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के नाटक लिखने का काम पंडित नारायन प्रसाद 'बेताब' के सुपुर्द हुआ। इनके पिता का नाम पंडित ढला राय था। यह कवि थे और 'ग़ालिब' के शागिर्द सरदार मुहम्मद ख़ाँ 'तालिब' तथा नज़ीर हुसैन ख़ाँ 'सखा' के शागिर्द थे। प० 'बेताब' बम्बई में ही रहते थे और एल्फ्रेड कम्पनी के लिए नाटक लिखने के अलावा 'शेक्सपियर' नामक एक पत्र भी निकालते थे। इस पत्र में अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध नाटकों के अनुवाद प्रकाशित किये जाते थे। 'बेताब' के नाटक 'क़त्ले-नज़ीर', 'महाभारत', 'ज़हरी साँप', 'फ़रेबे-मुहब्बत', 'रामायण', 'गोरखधंधा', 'पत्नी प्रताप', 'कृष्ण सुदामा' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें 'क़त्ले-नज़ीर' वह पहला नाटक था, जो उन्होंने एल्फ्रेड कम्पनी के लिए लिखा। उन्हीं दिनों दिल्ली की नज़ीर नामक एक वेश्या की हत्या कर दी गयी थी और चारों ओर इसका चरचा था। इसीलिए जब यह नाटक रंगमंच पर आया तो इसे बहुत लोकप्रियता मिली। उनका नाटक 'महाभारत' पहली बार १९१३ ई० में अभिनीत किया गया। यह सबसे पहले दिल्ली में खेला गया। यह बहुत प्रसिद्ध हो गया और इसका दूर-दूर तक चरचा रहा। लगभग दो दशकों तक यह रंगमंच का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता रहा। 'बेताब' का हिन्दी का ज्ञान बहुत अच्छा था और उन्होंने अपनी नाटकीय प्रतिभा के बल पर उसमें से ऐसे ... निकाल कर नाटक लिखा कि नाटक संसार में धूम मच गयी। नाटक की ...तात्मकता में 'बेताब' को बहुत सफलता मिली, क्योंकि उनका हिन्दी पर अधिकार था और गीतों में हिन्दी उर्दू की अपेक्षा काफ़ी आगे बढ़ी हुई है। उन्होंने

'महाभारत' में कुछ दृश्य—जैसे कृष्णजी की घायल उँगली का रक्त रोकने के लिए द्रौपदी का अपनी साड़ी फाड़कर पट्टी बाँधना और [illegible] वेश बनाने के प्रकरण—बहुत ही कलात्मक कुशलता से प्रस्तुत किए हैं। द्रौपदी के चीर-हरण का भी दृश्य उन्होंने दिखाया है। अंग्रेजी और संस्कृत [illegible] शास्त्रों के अनुसार ऐसे दृश्य मंच पर दिखाना वर्जित समझा जाता है, परन्तु भक्ति भाव की पराकाष्ठा और भगवान कृष्ण की सर्वशक्तिमत्ता का दृश्य दिखाने में ये दृश्य अत्यन्त सफल हुए हैं और इसी कारण इस [illegible] भी [illegible] जाता रहा है। इस दृष्टि से वर्तमान मंच के लिए [illegible] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है।

। उनका चरित्र-चित्रण बड़ा शानदार होता है और नाटकीय एकता और पात्रों के कलात्मक दृष्टिकोणों से उनके नाटक काफी उत्कृष्ट दिखाई देते हैं। इनके नेतृत्व में उर्दू नाटक ने निस्संदेह उन्नति की है।

'बेताब' के नाटकों पर धार्मिक दृष्टि से भी एक आपत्ति की गयी है। कुछ लोगों का कहना है कि 'बेताब' आर्य समाजी थे, इसलिए उन्होंने ऐसे दृश्य भी पेश किये हैं, जिनसे सनातन-धर्मी लोगों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचती है। दरअसल इस आपत्ति में कोई जान नहीं है। नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने के लिए नाटककार को कथा और चरित्र-चित्रण में परिवर्तन करने का अधिकार होता ही है।

एल्फ्रेड कम्पनी के मुकाबले पर मुहम्मद अली 'नाखुदा' ने एक नयी नाटक कम्पनी 'न्यू एल्फ्रेड कम्पनी' चलायी। बाद में इसमें प्रख्यात अभिनेता सोहराब जी का भी साझा हो गया था। इस कम्पनी का काफी नाम हो गया, क्योंकि इसमें अमृतलाल और मिस गौहर जैसे ख्याति-प्राप्त कलाकार काम करते थे और इसके नाटककार स्वनामधन्य आगा 'हश्र' कश्मीरी थे।

आगा 'हश्र' कश्मीरी—आगा मुहम्मद शाह 'हश्र' १८७९ ई० में बनारस में पैदा हुए थे। इनके पिता व्यापार करते थे और इन्हें भी व्यापार में लगाना चाहिए था, किन्तु इन्हें दूसरी ही धुन थी। १९०१ ई० में यह नाटक के शौक में बम्बई पहुँच गये। कुछ दिन इधर-उधर भटकने के बाद पारसी थियेट्रिकल कम्पनी में नौकर हो गये और 'मुरीदे-शक', 'मारेआस्तीं', 'मीठी छुरी' और असीरे-हिर्स' नामक नाटक चार वर्ष के अन्दर लिखे। इन नाटकों ने, जो चार वर्षों की अवधि मे लिखे गये थे, 'हश्र' को नाटक के ससार में चमका दिया और सभी कम्पनियों के मालिक अब उनका लोहा मानने लगे। इसके बाद प० नारायन प्रसाद 'बेताब' की इस आपत्ति के उत्तर मे कि आगा 'हश्र' हिन्दी नाटक नहीं लिख सकते, उन्होंने हिन्दी की यथेष्ट शिक्षा प्राप्त की थी और बिल्व मंगल', 'गगा अवतरण,' 'मधुर मुरली', 'आँख का नशा', 'बन देवी', 'सीता बनवास', 'भीष्म प्रतिज्ञा', 'श्रवणकुमार' आदि नाटक शुद्ध हिन्दी में और शुद्ध हिन्दू धर्म की पृष्ठभूमि में लिखे। 'हश्र' साहब की तबीयत में ज़िद बहुत थी। आँख का नशा' जिसने उर्दू रंगमंच को नया ही मोड़ दे दिया, इसी ज़िद के

कारण लिखा गया। पारसी थियेट्रिकल कम्पनी में वे जब थे तो कुछ कलाकारों ने यह कहना शुरू किया कि 'हश्र' के लिखने की क्या तारीफ है, उसके नाटक तो हम लोगों के अभिनय से चमकते हैं। इस पर 'हश्र' ने 'आँख का नशा' लिखकर दिया। इसमें परिसम्वाद सानुप्रास भाषा में होने की बजाय सीधी सादी गद्य में थे। अब कलाकारों के होश उड़ गये। इनसे कहा गया तो उन्होंने कहा कि मेरा काम तो सिर्फ लिखना है, तुम लोग अपनी अभिनय-कला से इसे चमकाओ। लेकिन उन कलाकारों के बस की यह नयी टेक्नीक न थी। अन्त में 'हश्र' ने स्वयं ही इसका निर्देशन किया। यह नाटक जब खेला गया तो उर्दू नाटक में एक क्रान्ति हो गयी और पुरानी टेक्नीक हमेशा के लिए विदा हो गयी।

'हश्र' ने शुरू में कई कम्पनियों में काम किया। सेठ नौरोजजी पारसी की कम्पनी के लिए उन्होंने 'मीठी छुरी' नामक नाटक लिखा। फिर सेठ आर्देशिर भाई ठोंठी की कम्पनी के लिए उन्होंने 'सफ़ेद खून' और 'सैदे-हवस' नामक नाटक लिखे। आगा 'हश्र' के अन्य नाटकों में 'शहीदे-नाज़', 'ख्वाबे-हस्ती,' 'नाला-ए-तौहीद', 'खूबसूरत बला', 'शामे-जवानी', 'तुर्की हूर', 'जुर्मे-नज़र', 'ठंडी आग', 'तस्वीरे-वफ़ा', 'ख़ुदपरस्त', 'सिल्वर किंग', 'हिन्दुस्ताने-क़दीम-ओ-जदीद' आदि बहुत मशहूर हुए हैं।

आगा 'हश्र' ने लाहौर में अपनी एक थियेट्रिकल कम्पनी—शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी खोली थी। किन्तु वे अच्छे व्यवसायी नहीं थे, अतः कुछ ही दिनों में यह कम्पनी बैठ गयी। फिल्मों की ओर बढ़ती हुई जनरुचि देखकर आगा 'हश्र' इस लाइन में भी आ गये और कलकत्ते जाकर मदन एण्ड कम्पनी में अच्छे वेतन पर अभिनेता हो गये। बाद में बोलती फिल्मों के ज़माने में वे कलकत्ते के न्यू थियेटर्स में चले गये थे और 'चण्डीदास' तथा 'यहूदी की लड़की' के परिसंवाद उन्होंने लिखे। उनका देहावसान १९३५ ई० में हो गया।

आगा 'हश्र' को उर्दू का मारलो कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके नाटकों में मारलो के नाटकों-जैसी ही तीव्रता है। उनके पात्र मारलो के पात्रों की ही भाँति भावुकता और आवेगों में डूबे हुए होते हैं। उनके पात्र प्यार करते हैं तो टूटकर और व्यथा का प्रदर्शन करते हैं तो हृदय फटने लगता है।

व्याकुल जी भारत व्याकुल कम्पनी के, जिसे मेरठ के कुछ [illegible] नाटक-प्रेमियों ने स्थापित किया था और जो कुछ दिनों तक बहुत मशहूर रही थी और फिर बन्द हो गयी, प्राण थे।

आगा हश्र के नाटकों का पूरा इतिहास भी लिखा है—कुछ नाटक हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय प्रगतिशील लेखकों ने कुछ नाटक लिखे, जिनमें कृश्नचन्दर का 'भूखा बंगाल' और अली सरदार जाफ़री का 'यह किसका खून है' उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक नाटकों में सबसे अधिक संख्या उन नाटकों की है, जो कि सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के उद्देश्य से लिखे जाते हैं। मौलवी अब्दुल माजिद दरियाबादी का नाटक 'ज़ूदपशेमाँ' बाल-विवाह से कुरीतियों की चेतावनी देता है। अब्दुल हलीम शरर का 'मेवा-ए-तल्ख़' पर्दे की कठोरता के प्रति विरोध प्रदर्शित करता है। डाक्टर आबिद हुसैन का 'पर्दा-ए-ग़फ़लत' में भी पर्दा प्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठायी गयी है। प्रो० बृजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' के दो नाटक 'राजदुलारी' और 'मुरारी दादा' प्रसिद्ध हैं। इनमें मध्यम श्रेणी की स्त्रियों और पुरुषों की भावनाओं और उनके चरित्र की निर्बलताओं को बड़ी सफलतापूर्वक दिखाया गया है। पात्रों की भाषा बड़ी चुस्त और मुहावरेदार है। शैली में परिष्कार और मार्मिकता है। यहाँ तक कि लेखक अपने विचारों के प्रकाशन में कहीं-कहीं विस्तार कर गया है। कला की दृष्टि से यही कमी खटकने लगती है।

वास्तव में उर्दू के नाट्य और उसके रंग-मंच के विकास को देखते हुए उसके नाटकों का अभी शैशवकाल ही कहा जा सकता है। अन्य भाषाओं से उर्दू इस क्षेत्र में काफ़ी पीछे है।

: १७ :

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कुछ बातें

प्रत्येक भाषा का काव्य कुछ विशेष ढंग से गठा हुआ होता है। यूं तो अगर अर्थ समझ लिया जाय तो कविता का थोड़ा-बहुत रसास्वादन हो ही सकता है, लेकिन पूरे रसास्वादन के लिए काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कुछ आधार-भूत बातों—काव्य-विवेचन के सिलसिले में प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक शब्दों, काव्य-रूपों, गुण-दोषों आदि—का जानना जरूरी हो जाता है। आगे हम इन्हीं बातों का कुछ विवेचन करेंगे, ताकि सहृदय पाठकगण उर्दू काव्य का पूरा आनन्द ले सकें।

कुछ पारिभाषिक शब्द

सबसे पहले काव्य-विवेचन के सम्बन्ध में प्रयुक्त होनेवाले कुछ ऐसे शब्दों का अर्थ जानना जरूरी है, जो बार-बार प्रयुक्त होते हैं।

फ़र्द—मिसरे और शेर प्रत्येक काव्य-रूप की आधारिक इकाइयाँ होते हैं। ग़ज़ल के अलावा अन्य काव्य, रूपों में तो शेर एक दूसरे से सम्बद्ध ही होते हैं, ग़ज़ल में प्रत्येक शेर का अलग अस्तित्व होता है। फिर भी किसी ग़ज़ल के सारे शेरों में एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये और एक ही बह्र (छंद) की पाबंदी ज़रूरी होती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई कवि एक अकेला शेर ही मारके का कह देता है और पूरी ग़ज़ल उस स्तर की नहीं बन पाती तो उसे अकेला ही रहने देता है। इस प्रकार के अकेले शेरों को फ़र्द कहते हैं। 'शाद' अज़ीमाबादी का यह शेर फ़र्द है—

जिस से तेरा बयान सुनते हैं
नित नयी दास्तान सुनते हैं

रदीफ़—गजल या क़सीदे के शेरों के अन्त में जो शब्द बार-बार दुहराये
ते हैं, उन्हें रदीफ कहते हैं। 'जामिन' की एक गजल के कुछ शेर देखिए—

दुनिया में फिर वो काम के क़ाबिल नहीं रहा
जिस दिल को तुमने देख लिया दिल नहीं रहा
कश्तीए - इश्क़ आके किनारे हुई तबाह
साहिल भी एतबार के क़ाबिल नहीं रहा
खूंरोजियों का जिक्र ही क्या है कि उम्र भर
ज़ेरे - नियाम खंजरे - क़ातिल नहीं रहा

इनमें पहले शेर (मतला) के दोनों मिसरों के अन्त में तथा अन्य शेरों
दूसरे मिसरों के अन्त में "नहीं रहा" के शब्द बार-बार आये हैं। इन्हें इस
ल की रदीफ़ कहा जायेगा। रदीफ साधारणतः गज़लों और कसीदों में
ी ही है, लेकिन काफिये की तरह रदीफ़ कोई अनिवार्य चीज नहीं है।

क़ाफिया—गजल के शेरों में अन्त में जो अन्त्यानुप्रासयुक्त शब्द आते हैं,
हें काफिया कहा जाता है। ऊपर के उदाहरण में 'क़ाबिल', 'दिल', 'साहिल'
दि शब्द क़ाफिये के हैं। गजल और कसीदे के शेरों में एक बार रदीफ को
म किया जा सकता है, लेकिन काफ़िया होना बहुत जरूरी होता है।
ाहरणार्थ 'नज़ीर' बनारसी की एक गजल के निम्नलिखित शेर देखिए—

ये इनायतें गजब की ये बला की मेहरबानी
मेरी खैरियत भी पूछी किसी और की जबानी
तेरा हुस्न सो रहा था मेरी छेड़ ने जगाया
वो निगाह मने डाली कि सँवर गयी जवानी

इस गजल में रदीफ कोई नहीं है, सिर्फ 'मेहरबानी', 'जबानी', 'जवानी'
े क़ाफ़िये हैं।

जमीन—जिन गजलों में छंद, रदीफ और काफिये एक ही होते हैं, उन्हें
ही जमीन की गजलें कहते हैं। तरही मुशायरों में पढ़ी जानेवाली गजें

मक़्ता—गज़ल के अंतिम शेर को (जिसमें साधारणतः कविगण अपना तख़ल्लुस भी डाल देते हैं) मक़्ता कहते हैं। आम तौर पर लोग मक़्ते के पहले वाले शेर को 'आख़िरी शेर' कहते हैं, लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि मक़्ता ही आख़िरी शेर होता है। काव्य-शास्त्र में आख़िरी शेर-जैसी कोई अलग चीज नहीं है। मक़्ता का मतलब ही अरबी में 'कटा हुआ' होता है और यह इस बात का द्योतक है कि गज़ल यहाँ से समाप्त हो गयी, यानी यह गज़ल का अन्तिम शेर है।

तख़ल्लुस—साधारणत सभी उर्दू कवि अपना एक कवि नाम रख लेते हैं, जिसका वे अपनी रचनाओं में अन्तिम मिसरों में प्रयोग करते हैं। इसे तख़ल्लुस कहते हैं। यह तख़ल्लुस कभी असली नाम का ही एक भाग होता है, कभी असली नाम से बिलकुल असबद्ध होता है। कुछ लोग तख़ल्लुस रखते ही नहीं। तख़ल्लुस केवल परिपाटी है (जो ब्रज और अवधी में भी थी), शास्त्रीय दृष्टि से अनिवार्य नहीं।

मुसल्लस—मुसल्लस ऐसी कविता को कहते हैं, जिसमें तीन-तीन मिसरों के बन्द (पद) होते हैं। इन तीन मिसरो के आपसी सम्बन्ध के आधार पर मुसल्लस के विभिन्न रूप होते हैं। कभी तीनों मिसरे एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं और प्रत्येक बद में अलग-अलग रदीफ़, क़ाफ़िये होते हैं; कभी पहले दो मिसरे एक रदीफ़, काफ़िये में होते है और तीसरा मिसरा अलग, लेकिन सारे बदो के तीसरे मिसरे एक ही रदीफ़ काफ़िये में होते हैं।

मुख़म्मस या ख़म्सा—इसमे पाँच-पाँच मिसरों के बद होते हैं। इन पाँच मे चार तो एक ही रदीफ काफ़िये में होते हैं और पाँचवाँ अलग, लेकिन सारे बन्दों के पाँचवें मिसरे एक ही रदीफ़ काफ़िये में होते हैं। कभी-कभी हर बन्द के आख़िर में वार-बार एक ही मिसरा आता है।

मुसद्दस—मुसद्दस का अर्थ है छ-छ. मिसरो के बन्दोंवाली नज़्म। इसका कायदा यह है कि हर बन्द के पहले चार मिसरे एक ही रदीफ़ काफ़िये में होते हैं और बाद के मिसरे भी एक ही रदीफ़ काफ़िये में; किन्तु बाद के मिसरों का रदीफ काफ़िया पहले चार वाले से भिन्न होता है। मुसद्दस के किसी बन्द

के किसी मिसरे का किसी अन्य बन्द के किसी मिसरे से कोई शाब्दिक सम्बन्ध नहीं होता।

मुसम्मन—मुसम्मन आठ-आठ मिसरों के बन्दों वाली नज़्म को कहते हैं। इसमें हर बन्द के पहले छः मिसरे एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में होते हैं और अन्तिम दो मिसरे भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में (लेकिन पहले छः मिसरों के रदीफ़ क़ाफ़िये से भिन्न) होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रथम बन्द के अन्तिम दो मिसरे हर बन्द के अन्तिम दो मिसरों का स्थान बार-बार लेते रहते हैं।

तरकीबबन्द—यह ऐसी नज़्म होती है, जिसके बन्दों में मिसरों की कोई निश्चित संख्या नहीं होती। लेकिन उसमें दो शर्तें होती हैं। एक तो यह कि हर बन्द में मिसरों की संख्या आठ से अधिक हो और सम हो। दूसरी यह कि एक नज़्म के विभिन्न बन्दों में बराबर संख्या में मिसरे हों। हर बन्द में अन्तिम दो मिसरों को छोड़कर अन्य सभी मिसरे या तो एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं या ग़ज़ल की सूरत में होते हैं यानी पहला तथा दूसरा, चौथा, छठा, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ (अर्थात् सभी सम संख्यावाले मिसरे) एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं और शेष स्वतन्त्र होते हैं। अन्तिम दो मिसरे भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं, लेकिन पहले के रदीफ़ क़ाफ़ियों से भिन्न। कभी-कभी नज़्म के सारे बन्दों के अन्तिम दो मिसरे एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में बंद होते हैं।

तरजीबन्द—यह भी तरकीबबन्द की तरह होता है। सारे बन्द उसी की भाँति होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि पहले बन्द के अन्तिम दो मिसरे ही बार-बार हर बन्द के अन्तिम दो मिसरों की जगह आते हैं।

मुस्तज़ाद—मुस्तज़ाद का अर्थ है बढ़ाया हुआ। किसी ग़ज़ल के हर मिसरे के अन्त में छन्दशास्त्र की पाबन्दियों के साथ एक टुकड़ा जोड़ दिया जाता है। यह जोड़े हुए टुकड़े वज़न (मात्रा) में तो बराबर होते ही हैं, साथ ही उनमें रदीफ़, क़ाफ़िया की पाबन्दी भी होती है। यानी स्वतन्त्र मिसरों के जोड़े हुए टुकड़े रदीफ़ क़ाफ़िये की पाबन्दी से आज़ाद होते हैं और रदीफ़ [illegible] के पाबन्द मिसरों में टुकड़े भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये से जोड़े जाते हैं। [illegible]

इन जोड़े हुए टुकड़ों के रदीफ काफ़िये गज़ल के ही रदीफ़ क़ाफ़िये होते हैं और कभी दूसरे।

तारीख़—अरबी अक्षरों में हरएक का आंकिक मूल्य भी होता है। किसी घटना (जन्म मृत्यु) आदि पर कविगण ऐसा मिसरा मौज़ूँ करते हैं, जिसके सारे अक्षरों के द्योतक अकों को जोड़ने पर उक्त घटना का संवत्सर निकल आये। इसी को तारीख कहते हैं।

काव्य-रूप

किसी भाषा के काव्य को अच्छी तरह समझने के लिए उसके विभिन्न काव्य-रूपों का ज्ञान भी आवश्यक है। उर्दू के काव्य-रूपों मे यह भी विशेषता है कि अर्थ और कथ्य की दृष्टि से भी विभिन्न काव्य-रूपों में अन्तर होता है, यहाँ तक कि शब्दों के स्वरूप और ध्वनियाँ भी अलग-अलग काव्य-रूपों में अलग-अलग प्रयुक्त होती हैं। अतएव काव्य की सफल विवेचना के लिए इन काव्य-रूपो का ज्ञान आवश्यक है। उर्दू मे प्रमुख काव्य-रूप यह हैं—ग़ज़ल, कता, मसनवी, क़सीदा, रुबाई, वासोख़्त, गीत आदि। नीचे हम इनके बारे में आधारभूत बातें बताने का प्रयत्न करेंगे।

ग़ज़ल—गज़ल से सभी परिचित हैं। इसका बाह्य रूप यह होता है कि इसमें कम से कम पाँच शेर होते हैं। अधिकतम शेरों की कोई संख्या निश्चित नहीं है, किन्तु साधारणतः इक्कीस-बाईस शेरो से अधिक की गज़लें नही देखी जाती। औसत गज़ल सात शेर से लेकर तेरह शेर तक की होती है। पुराने काव्यशास्त्रियो के कथनानुसार गज़ल के शेरो की सख्या विषम रहनी चाहिए। लेकिन इस नियम का न कोई कड़ाई से पालन करता है और न इस नियम का कोई औचित्य ही हो सकता है। गज़ल में—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सारे शेरों के दूसरे मिसरे एक ही रदीफ, काफ़िये में बँधे होते हैं और मतले के पहले मिसरे भी इन्ही रदीफ, काफियों में बँधे होते हैं।

अर्थ की दृष्टि से गज़ल का हरएक शेर अपनी जगह स्वतन्त्र होता है। ... असबद्ध कविता है। इस बात पर कुछ लोगों को आपत्ति है कि असबद्ध ... को एक ही कविता में क्यों रखा जाये। लेकिन यह अर्थ की दृष्टि से

बद्ध शेर भी एक रदीफ़, काफ़िये में बँधे होने और एक ही छंद में कहे जाने
कारण एक ध्वन्यात्मक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं जिससे विभिन्न शेरों
अर्थ अच्छी तरह उभर कर आता है। यही कारण है कि प्राचीन काल
ता काव्य क्षेत्र में गजल के अलावा और बहुत ही कम काव्यरूप दिखाई देते
थे, आज भी नज्मों का काफ़ी ज़ोर होने पर भी गजल का ही पल्ला भारी
खाई देता है। गजल की लोकप्रियता का यह हाल है कि हिन्दी, पंजाबी,
श्मीरी, पश्तो, यहाँ तक कि हिन्दी क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं—अवधी,
जपुरी, ब्रज आदि में भी गजलें लिखी जाने लगी हैं।

गजल के शेरों का विषय सीमित नहीं है, फिर भी उसमें मुख्यत करुणा,
और समर्पण के ही भाव प्रदर्शित किये जाते हैं। गजलों में चूँकि एक ही
र में पूरी बात कह देनी होती है, इसलिए उनमें प्रतीकात्मकता का बहुत
हारा लिया जाता है और चूँकि एक-एक शब्द विभिन्न परिस्थितियों में
न्य वस्तुओं का प्रतीक हो सकता है, इसलिए धीरे-धीरे गजल में व्यापकता
कला इतनी विकसित हो गयी है कि एक ही शेर प्रतीक रूप में आध्यात्मिक,
माजिक, राजनीतिक और व्यावहारिक जीवन में एक-सा लागू हो सकता
। इसी आधार पर दार्शनिक तथ्यों को कविता के साथ सामने लाने में गजल
प्रयोग बहुत किया जाता है। इसीलिए ग़ज़ल की परम्परा गम्भीरता
र तत्वज्ञान की परम्परा बन गयी है, यद्यपि ऊपरी दृष्टि से देखने पर उसमें
शिक़-माशूक़ के चोंचलों के अलावा कुछ नहीं दिखाई देता। यही ग़ज़ल
तारीफ़ है।

चूँकि ग़ज़ल का मिज़ाज मूलत समर्पणवादी होता है, इसलिए उसमें कोमल-
न्त पदावली का ही प्रयोग अच्छा समझा जाता है। ग़ज़ल के शेरों में प्रयुक्त
नेवाले शब्द और शब्दविन्यास अर्थ ही नहीं, ध्वनि के लिहाज़ से भी कोमल
र मधुर हों, तभी कवि की सफलता मानी जाती है।

पुराने ज़माने में ग़ज़ल का एक और रूप प्रचलित था, जिसे 'ग़ज़ले-
लसल' कहते हैं। इसमें शेर अलग-अलग स्वतन्त्र विषयों पर नहीं होते,
ल्क एक ही विषय पर कहे हुए होते हैं, बल्कि उनमें परस्पर सम्बन्ध भी होना

है। वर्तमान समय में नज़्मों के कारण इस प्रकार की ग़ज़ल की जरूरत ही नहीं रही।

क़तआ—कभी-कभी गजल में कोई विषय ऐसा आ जाता है, जिसे एक ही शेर में उतने ज़ोर के साथ नहीं कहा जा सकता, जितना कवि चाहता है। ऐसी हालत में दो या दो से अधिक शेरों में उस विषय को कह दिया जाता है और शेरों के इस समूह को 'कतआ' कहकर गज़ल में ही शामिल कर दिया जाता है। 'कतआ' सिर्फ गज़लों के ही अन्दर हो, ऐसी कोई पाबंदी नहीं है। गज़लों के बाहर स्वतन्त्र रूप से भी कतए कहे जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप नीचे 'नज़ीर' अकबराबादी की एक प्रसिद्ध गजल दी जाती है, जिसमें कतआ भी शामिल है—

वो रश्के-चमन कल जो ज़ेबे-चमन था
चमन जुम्बिशे शाख़ से सीनाज़न था
गया मैं जो उस बिन चमन में तो हर गुल
मुझे उस घड़ी अख़गरे - पैरहन था
ये गुंचा जो बेदर्द गुलचीं ने तोड़ा
खुदा जाने किसका ये नक़्शे-दहन था

कतआ

तने - मुर्दा को क्या तकल्लुफ़ से रखना
गया वह तो जिससे मुज़य्यन ये तन था
कई बार हमने ये देखा कि जिनका
मुशय्यन बदन था मुअत्तर कफन था
जो कब्रे - कुहन उनकी उखड़ी तो देखा
न उज़्वे - बदन था न तारे कफन था
'नज़ीर' आगे हमको हवस थी कफ़न की
जो सोचा तो नाहक़ का दीवानापन था

रुबाई—यह चार-चार मिसरों के स्वतन्त्र मुक्तक होते हैं, जिनमें पहले, दूसरे और चौथे मिसरों का एक ही रदीफ़, काफ़िये में होना जरूरी होता है।

हिन्दी के कुछ कवियों ने भी रुबाइयाँ कही हैं, किन्तु उनमें से अधिकतर कवि[illegible]
को यह नहीं मालूम कि गजल तथा अन्य काव्य-रूपों के लिए जो पचीस-छत्ती[illegible]
बहरयुक्त छंद प्रयोग में आते हैं, उनमें से किसी में भी रुबाई नहीं कही [illegible]
सकती। रुबाइयों के लिए चौबीस छंद अलग से निश्चित हैं, जिनमें रुबाई [illegible]
अतिरिक्त और कोई कविता नहीं की जा सकती। रुबाई के छंद गेय न[illegible]
होते, बल्कि उन्हें झटकों के साथ पढ़ा जाता है।

रुबाई के विषय में कोई नियम सख्ती से नहीं बरता जाता। पुराने कवि[illegible]
ने ग़ज़ल के विषयों पर ही बहुतायत से रुबाइयाँ कही हैं। हास्य-कवियों ने-[illegible]
मुख्यतः 'अकबर' इलाहाबादी ने—रुबाइयों द्वारा लोगों को जी भरकर हँसाय[illegible]
है। फिर भी रुबाई का क्षेत्र अधिकतर गंभीर तत्त्वज्ञान का होता है। नैति[illegible]
और धार्मिक विषयों पर भी खूब रुबाइयाँ कही गयी हैं। मैंने अपने '[illegible]
नामक रुबाइयों के संग्रह में सौन्दर्यबोध के नये मान स्थापित किये हैं जिन[illegible]
उर्दू संसार ने स्वागत किया है।

क़सीदा—क़सीदा ऐसा काव्य-रूप है, जिसका उर्दू में प्रयोग अब बहु[illegible]
कम पाया जाता है, किन्तु इस शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक प्रमुख शायरों
के यहाँ क़सीदे ज़रूर मिलते थे। उर्दू और फ़ारसी में क़सीदों का प्रयोग राजाओं
अथवा शासनाधिकारियों की प्रशंसा के लिए किया जाता था। लेकिन [illegible]
बात यह थी कि प्रशंसा-पात्रों के वास्तविक गुणों की ओर इतना कोई ध्यान न[illegible]
दिया जाता था। ईरानी और मुगल परम्परा ऐसी बन गयी थी कि क़सीद[illegible]
को शायर दरबारों में इसलिए नहीं रखे जाते थे कि राजा लोग अपनी [illegible]
सुनकर प्रसन्न हों, बल्कि इसलिए रखे जाते थे कि दरबार की शोभा बढ़े।
क़सीदों में सभी राजाओं की वीरता, वैभव, [illegible] और [illegible]
एक ही ढंग से—अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्वक—की जाती थी। [illegible]
बात में कमाल दिखाते थे कि कल्पना को ऊँचे से ऊँचा उठाकर [illegible]
किन्तु शानदार वातावरण की सृष्टि कर दी जाये। [illegible]
इनमें निर्बंध रूप से प्रयोग किया जाता था और कल्पना की [illegible]
जाती थी।

क़सीदों के चार अंग माने गये हैं—(१) [illegible]

किसी अन्य विषय—उदाहरणार्थ, बहार का ज़िक्र या प्रेम और वियोग की बा[illegible]
उठाता था, जिसका प्रशसापात्र से कोई सबंध नही होता था; (२) गुरेज़ या[illegible]
भूमिका से मूल विषय पर आने का कलात्मक ढंग, जिसमें भूमिका के अन्ति[illegible]
शेरों से ही मूल विषय पर आने की राह निकाली जाती थी; (३) मदह या[illegible]
प्रशसा, जो कसीदे का मूल विषय होता था और इसीलिए बहुत लम्बा हो[illegible]
था; और (४) दुआ, जिसमें कुछ शेर प्रशंसा-मात्र के लिए आशीर्वाद के रू[illegible]
में कहकर कसीदे को समाप्त कर दिया जाता था।

कसीदे का बाह्य कलेवर गज़ल की ही तरह होता है। इसमें मतलों [illegible]
दोनों मिसरों और सारे शेरो के दूसरे मिसरों को एक ही रदीफ़, काफ़िये [illegible]
बांधना जरूरी होता है। मतलों की सख्या निश्चित नही है, लेकिन कसीदे [illegible]
साधारणत: अधिक मतले कहने का प्रचलन नही है। एक बात जरूर है कि
तशबीब और मदह को नये मतले से आरम्भ करना अनिवार्य है।

क़सीदे में चूंकि प्रशसा होती है और प्रशसा उत्साह के वातावरण की
सृष्टि करती है, इसलिए गज़ल के विपरीत क़सीदो में कड़कते, गूंजते, शानदार
और ज़ोरदार शब्दों का प्रयोग किया जाता है। चूंकि इनमें कवि अपनी
मनोदशा के हृदयद्रावक वर्णन करने की बजाय अपनी काव्य-शक्ति का प्रदर्शन
करता है, इसलिए जितने कठिन और दुरूह शब्दों का प्रयोग होता था, उतना
ही कसीदा सफल समझा जाता था। फारसी के कसीदों में अरबी के शब्दों
की भरमार होती थी और उर्दू के कसीदों मे अरबी-फ़ारसी के शब्दों की।
कुछ कवि—जैसे ईरान मे 'खाक़ानी' और भारत में 'ज़ौक़'—क़सीदों में अपना
अन्य विद्याओं का ज्ञान भी इस ज़ोर से दिखाते थे कि उन विषयों से अनभिज्ञ
लोगों की समझ में कुछ भी नही आता था। इस पर कुछ लोगों ने ऐसे कवियों
के विरुद्ध आपत्ति भी की है।

किन्तु कसीदे केवल दरबारों की ही शोभा हों, ऐसी कोई बात नहीं है।
[illegible] कवियों ने दरबारों से कोई सम्बन्ध नही रखा, उन्होंने भी धार्मिक मह-
[illegible] शान मे क़सीदे कहे हैं। कुछ दरबारी कवियों ने भी ऐसे कसीदे कहे
हैं। धार्मिक क़सीदों (और अन्य धार्मिक कविताओं) के क्षेत्र में उन्नीसवीं

शताब्दी के गुलाम इमाम शहीदी और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ काल में मुहसिन काकोरवी ने बहुत नाम पैदा किया है।

मसनवी—मसनवी वास्तव में पद्यबद्ध कथा होती है। मसनवी का इस ज़माने तक में रिवाज है और राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों का इसमें समावेश कर दिया जाता है। किन्तु मसनवी का मूल धर्म कहानी ही है। फ़ारसी में मसनवियाँ बहुत कही गयी हैं और उन्हें चार भागों में बाँटा गया है—(१) रज़िमया, यानी युद्ध सम्बन्धी, (२) बज़्मिया, यानी प्रेम सम्बन्धी, (३) धार्मिक-नैतिक तथा (४) सूफ़ी दर्शन सम्बन्धी। उर्दू में मुख्यतः दूसरी कोटि की ही मसनवियाँ कही जाती रही हैं। मसनवियों की कहानियाँ बहुत गढ़ी हुई होती हैं। उनमें साधारण जीवन से सम्बद्ध कहानियाँ भी होती हैं और जिन्नों-परियों की कपोल-कल्पित कहानियाँ भी, जिनका [illegible] के सामन्ती काल में प्रचलन होता है। इन कपोल-कल्पित कहानियों में स्वाभाविकता का बंधन न होने के कारण कथा का तारतम्य कायम रखना अपेक्षाकृत सरल होता था। उर्दू की प्रसिद्ध मसनवियाँ 'सहरुल बयान', 'गुलज़ारे-नसीम' आदि इसी तरह की हैं।

बाह्य रूप मसनवियों में ग़ज़लों और क़सीदों से बिल्कुल अलग होता है। इनमें प्रत्येक शेर के दोनों मिसरे तो एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में बँधे होते हैं, लेकिन विभिन्न शेरों के रदीफ़, क़ाफ़िये एक-दूसरे से बिल्कुल अलग होते हैं। पूरी की पूरी मसनवी का एक छंद में होना ज़रूरी है और [illegible] (छंद) इसके लिए प्रयुक्त होते हैं। वैसे कोई कवि अन्य छंदों का प्रयोग कर [illegible] काव्य-शास्त्र की दृष्टि से कोई ग़लती नहीं समझी जाती, कम से कम [illegible] नहीं समझी जाती। मसनवी काफ़ी लम्बी कविता होती है, इसलिए उसके शेरों की कोई संख्या निश्चित नहीं है। छोटे-मोटे विषयों को [illegible] के दो शेरों में भी कह दिया जाता है और इनको [illegible] में एक रूप के तौर पर शामिल कर लिया गया है।

उर्दू के अन्य काव्य-रूपों में विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

वासोख्त—यह इस प्रकार की प्रेम [illegible] होती है [illegible] प्रेमिका से [illegible] है और उसको देता है कि [illegible]

कायम रखोगी तो मैं तुम्हारा प्रेम छोड़ दूंगा। इस काव्य-रूप का उन्नीसवीं शताब्दी में—विशेषत लखनऊ में—बहुत रिवाज था। इसमें प्रेम का बहुत नीचा स्तर पेश किया जाता है, इसलिए इसे वर्तमान युग में कोई पसन्द नहीं करता है।

शहर आशोब—इसमें किसी शहर के उजड़ने या बरबाद हो जाने पर उसके पुराने वैभव को दुख के साथ याद किया जाता है। इस प्रकार की कविता अत्यन्त मार्मिक होती है।

हम्द—भगवान् की प्रशंसा में की गयी कविताओं को हम्द कहते हैं। इसीका एक रूप मुनाजात होता है, जिसमें भक्त इस प्रकार अपने हृदय की बातें रखता है, जैसे वह भगवान् से बातें कर रहा हो।

नअत—हज़रत मुहम्मद की प्रशंसा में कही गयी प्रत्येक प्रकार की कविता को नअत कहते हैं।

सलाम और नौहा—इनमें हज़रत हुसैन की शहादत पर शोक प्रकट किया जाता है। यह छोटी कविताओं के रूप में मरसिये ही होते हैं, केवल मरसिये के समस्त अंग इनमें नहीं आ सकते।

हजो—किसी प्रतिद्वंद्वी की निन्दा में कही हुई कविता को हजो कहते हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी के बाद इनका चलन नहीं रहा।

हज़ल—गजल को यदि हास्यात्मक ढंग से बनाया जाये तो उसका यह रूप हज़ल कहलाता है।

इनके अलावा वर्तमान समय में अतुकांत और छंद-हीन कविताओं तथा गीतों का भी प्रचलन हो गया है, जिनका रूप वही होता है जो हिन्दी की ऐसी कविताओं में होता है।

गुण दोष विवेचन

प्रत्येक भाषा के साहित्य में, विशेषतः काव्य साहित्य में, गुण दोष विवेचन के अपने मानदंड होते हैं। उर्दू काव्य में गुण दोष विवेचन के अपने नियम हैं, जिनका पालन कड़ाई के साथ किया जाता है। उर्दू के काव्य में जिन गुणों को मान्यता दी जाती है, उनमें से कुछ मुख्य गुण ये हैं—

कमाहत—कमाहत का मतलब यह है कि कविता में कोई ऐसा शब्द या शब्द-विन्यास न आने पाये, जिसमें नियमानुसार कोई दोष हो। दोषपूर्ण शेर को कमीह शेर कहा जाता है। गजलों में भारी-भरकम शब्दों के प्रयोग से भी कमाहत खत्म हो जाती है। अप्रामाणिक रूप में किसी शब्द का व्यवहार भी शेर को गैर-कमीह बना देता है।

बलागत—बलागत का अर्थ यह है कि कविता में सारे शब्द ध्वनि, प्रवाह और अर्थ की व्यापकता के लिहाज से इस तरह जड़े हुए हों कि अगर एक शब्द की जगह कोई समानार्थी और उसी वजन का शब्द रख दिया जाय तो रस में कमी आ जाय। क़माहत और बलागत के लिए सुरुचि और अभ्यास जरूरी शर्तें हैं।

मुसावात—इसका मतलब यह है कि अर्थ को व्यक्त करने के लिए कविता में उतने ही शब्द आयें, जितने जरूरी हैं। न भरती के शब्द हों और न कोई महत्त्वपूर्ण शब्द ऐसा छूट भी जाय, जिससे अर्थ समझने या रसास्वादन में रुकावट पड़े। यह गुण भी निरन्तर अभ्यास से ही पैदा होता है।

सलासत—सलासत का अर्थ है सरलता। सलीस कलाम उस कविता को कहते हैं, जिसमें कोई शब्द ऐसा प्रयोग न किया जाय जो औसत पाठक या श्रोता के लिए कठिन पड़ जाय। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था, किन्तु 'दाग', 'अमीर' आदि कवियों ने जो मानदंड स्थापित किये हैं, उनकी दृष्टि से आज की कविता के लिए सलासत या शाब्दिक सरलता बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी है।

सादगी और सफाई—सलासत में केवल शाब्दिक सरलता की मांग होती है, किन्तु कोई शेर सरल शब्दों के प्रयोग के बावजूद अर्थ की दृष्टि से दुरूह हो जाता है। ऐसे में कहा जाता है कि शेर सलीस होते हुए भी सादा नहीं है। दरअस्ल आज की उर्दू कविता के लिए यह जरूरी समझा जाता है कि उसमें शब्द और भाव सरल और स्पष्ट हों, फिर भी वह प्रभावशाली हो। इसके लिए सरसता की बहुत जरूरत पड़ती है।

रवानी या प्रवाह—जब किसी शेर में इस तरह शब्द बिठाये जाते हैं कि

बगैर किसी विशेष प्रयास के शेर ज़बान पर फिसलता चला जाय तो रवानी का प्रवाह पैदा होता है। रवानी उर्दू कविता का बहुत महत्वपूर्ण गुण है, जिसके बगैर असाधारण उच्चता होते हुए भी शेर बहुत पसन्द नहीं किया जाता है। यह काम केवल जन्मजात प्रतिभा, जागरूकता और अभ्यास के ही बल पर सम्पन्न किया जा सकता है।

मौसीक़ियत—मौसीक़ियत का अर्थ है संगीतात्मकता। उर्दू ही नहीं, सारे संसार के काव्य में यह गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके लिए ज़रूरी है कि शब्दों का चयन और गठन इस तरह से किया जाय कि शेर पढ़ने पर एक तरह की लय में झंकार पैदा हो। विशेषतः गज़ल के महत्व को यह गुण बढ़ा देता है।

तेवर और नाटकीयता—उर्दू काव्य में इस गुण का भी बहुत महत्व है। यह ऐसे शब्द-गठन से पैदा होता है, जहाँ कि शेर को नाटकीयता के साथ पढ़ने पर ही उसका पूरा प्रभाव पड़े। पुराने ज़माने में, जब कि सस्वर कविता-पाठ का प्रचलन नहीं था, इस गुण का अपेक्षाकृत अधिक ध्यान रखा जाता था। 'ग़ालिब' का यह शेर तेवर और नाटकीयता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

> कहा मिलने से मेरे गैर के क्यों होवे रुसवाई
> बजा कहते हो! सच कहते हो! फिर कहियो कि 'हाँ क्यों हो!'

शोख़ी—यह बात को हल्के परिहास के साथ कहने की कला है, जिसमें परम्परा के अनुसार ही किसी विचार को इस मज़े के साथ व्यक्त कर दिया जाता है कि विचित्रता के आधार पर तीव्र हास्य पैदा नहीं हो पाता। फिर भी शोख़ी का प्रयोग होशियारी से न किया गया तो शेर में फक्कड़पन या हल्कापन पैदा हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी की बदनाम लखनवी कविता फक्कड़पन के जाल में भी फँस गयी थी। 'असद' गोरखपुरी का यह शेर शोख़ी का अच्छा उदाहरण है—

> उठाकर अपना बिस्तर राह ले जन्नत की ऐ वाइज़
> ढला जाता है हूरों का शबाब आहिस्ता आहिस्ता

इसका अर्थ है कल्पना की ऊँची उड़ान। उर्दू ही काव्य साहित्य का यह बहुत महत्त्वपूर्ण गुण है। आज के ज़माने

में वही कविता अच्छी समझी जाती है, जो फ़ौरन समझ में आ जाने के साथ ही या तो जीवन के किसी ऐसे रहस्य को असंदिग्ध रूप से खोले, जिस पर पहले लोगों की निगाह गयी ही न हो या किसी सुपरिचित तथ्य का नया, किन्तु वास्तविक पहलू सामने लाये। यह काम कवि की उच्च कल्पना द्वारा ही हो सकता है। यह ज़रूरी नहीं है कि हर सुननेवाला कवि के दृष्टिकोण से सहमत ही हो जाय, तात्पर्य केवल यही होना है कि असहमत होते हुए भी पाठक या श्रोता कवि के दृष्टिकोण की सरसरी तौर पर उपेक्षा न कर सके और जाने या अनजाने उससे प्रभाव ग्रहण कर ही ले। महाकवि 'इकबाल' की रचनाओं में यह तत्त्व सबसे अधिक दिखाई देता है। कल्पना की उच्चता के लिए दार्शनिकता अनिवार्य नहीं है, किन्तु गहन दृष्टि और तीव्र अनुभूति के साथ किसी तथ्य का निजी तौर पर निरीक्षण ज़रूरी है। नकल करने से या बेतुके तौर पर कल्पना के घोड़े दौड़ाने से यह बात पैदा नहीं हो पाती।

उर्दू कविता में जिन बातों को दोष माना गया है, उनकी जानकारी भी ज़रूरी है। सत्काव्य के परखने के लिए दोषों का ज्ञान अनिवार्य है, ताकि यह देखा जा सके कि कोई रचना पूर्णतः या अंशतः दोष-रहित है या नहीं। नीचे हम उन कुछ गंभीर दोषों का उल्लेख करेंगे, जो अच्छी कविता में न होने चाहिए।

नामौज़ूनियत—नामौज़ूनियत का अर्थ है यति भंग होना या उर्दू शब्दावली में मौज़ूँ न होना। कोई शेर या मिसरा दो तरह से ना-मौज़ूँ होता है। एक तो यह कि वह अपनी निश्चित बह्र (छंद) से गिर जाय। इसे उर्दू काव्य-शास्त्र की शब्दावली में सकता भी कहते हैं। दूसरे यह कि किसी स्वर को ऐसी हालत में दबाया या गिराया जाय जब कि काव्य-शास्त्र इसकी अनुमति न देता हो। अरबी और फ़ारसी शब्दों के स्वर साधारणतः दबाकर या गिरा कर पढ़ने की अनुमति नहीं है।

ताकीद—ताकीद का अर्थ है अपनी जगह से दूर हटना। जब किसी मिसरे में शब्द अपने सही स्थान से बहुत ज़्यादा अलग करके रख दिये जाते हैं और मिसरे में गुंजलक-सी पैदा हो [illegible] ताकीद का दोष पैदा हो जाता है। ताकीद न आने देना [illegible] निर्भर है। कभी-कभी काफ़ी

शब्दों मे उलट-पलट होने पर भी उलझन नही रहती और ताक़ीद का दोष नही आने पाता। जब किसी शेर में अर्थ उलझा हुआ होता है तो उसे ताक़ीदे-मानवी कहते हैं। शब्दों की बेकार उलट-पलट को ताक़ीदे-लफ़्ज़ी कहते हैं।

ग़रावत—इसका अर्थ यह है कि किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जो साधारणत: पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में प्रयुक्त न होता हो। या ऐसे अर्थ में प्रयुक्त न होता हो, जिस अर्थ में शेर में लिया गया है। तात्पर्य यही है कि केवल कोष की सहायता से किसी शब्द को उचित सिद्ध कर देना काफी नही है।

पहलूए-ज़म—जब किसी शेर में किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसके अपने असली मतलब के अलावा कोई कुरुचिपूर्ण अर्थ निकल सकता हो तो यह दोष पैदा हो जाता है। यह बड़ा गंभीर दोष है। होशियारी न बरतने पर बड़े-बड़े शायर गलती कर जाते हैं। 'अकबर' इलाहाबादी के निम्नलिखित शेर में यह पहलू पैदा हो गया है, यद्यपि सदर्भ में कोई अश्लीलता नहीं है—

पतलून में वह तन गया वह साये में फैली
पाजामा ग़रज़ यह है कि दोनो ने उतारा

इब्तज़ाल—जब किसी शेर में ऐसे शब्द या मुहावरे का प्रयोग होता है, जो पढ़े-लिखे लोग नही, बल्कि बाज़ारू लोग बोलते हैं तो यह दोष पैदा हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि शेर से कोई ऐसा चित्र उभरता है, जिससे सुरुचि को ठेस पहुँचती है तो शेर भी मुब्तज़ल (जिसमे इब्तज़ाल हो) हो जाता है।

सुस्त बंदिश—*सिर्फ़ वज़्न पूरा करने के लिए जब बहुत से 'के', 'से', 'पर', 'तो', 'भी'* आदि भर दिये जाते हैं, तो शेर में कसाव या चुस्ती नही रहती और बंदिश सुस्त हो जाती है। उदाहरणार्थ—

वो पहली जंगे-अज़ीम की तो पढ़ ले हिस्टरी अपनी
फिर इसके बाद तू शेख़ी बघार ऐ जर्मनी अपनी

इसमे पहले मिसरे मे 'वो' और दूसरे में 'फिर' तथा 'अपनी' बिलकुल बेकार आये हैं।

हश्वो ज़वायद—जब शेर में कोई ऐसा शब्द लाया जाता है, जिसे निकाल देने से अर्थ या प्रभाव में कोई अन्तर न पड़े तो यह दोष पैदा हो जाता है। संज्ञाओं, क्रियाओं, विशेषणों आदि का बेकार प्रयोग हश्व पैदा कर देता है।

: १८ :

अंतर कथाएँ तथा ऐतिहासिक उल्लेख

प्रत्येक साहित्य—विशेषत काव्य साहित्य—में प्रतीकों के रूप में समाज की ऐतिहासिक और दंतकथाओं के पात्रों का सहारा लिया जाता है। साथ ही उस विशेष समाज के नैतिक मूल्य भी काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का काम करते हैं। साधारणत अपनी भाषा का साहित्य पढ़ने में विद्यार्थियों को कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि साहित्य पढ़ने के पहले ही वे अपने समाज की इतिहास-कथाओं, लोक-कथाओं, धार्मिक गाथाओं और नैतिक मूल्यों से परिचित हो जाते हैं। किन्तु किसी अन्य भाषा का साहित्य पढ़ने और उसका पूरा रसास्वादन करने के लिए उस समाज की मानसिक पृष्ठभूमि को जानना भी जरूरी हो जाता है। ऐसा न करने से काव्य का पूरा आनन्द नहीं लिया जा सकता।

उर्दू साहित्य की लगभग सारी मानसिक आधार-भूमि ईरानी है। ईरान में फ़ारसी काव्य का विकास ऐसे काल में हुआ, जब कि वहाँ इस्लामी शासन की स्थापना को लगभग ढाई सौ वर्ष बीत चुके थे और फारसी भाषा अपनी पुरानी लिपि को छोड़कर अरबी लिपि में लिखी जाने लगी थी तथा उसमें भाषा-शास्त्र की दृष्टि से बहुत कुछ अरबी प्रभाव पड़ चुका था। इसलिए तत्कालीन ईरानी समाज की मानसिक आधार-भूमि में हमें इस्लामी धार्मिक मान्यताओं और ईरान की प्राचीन दंत-कथाओं और लोक-गाथाओं का सम्मिश्रण मिलता है। ये सारी कथाएँ ही फ़ारसी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बन गयीं और उर्दू साहित्य में भी उन्हें जैसे का तैसा ले लिया गया।

ये धार्मिक-नैतिक मान्यताएँ और ईरानी इतिहास-कथाएँ और लोक-कथाएँ एवं उनसे सम्बद्ध व्यक्तित्व अनगिनती हैं। उनका पूर्ण अध्ययन साहित्य के विद्यार्थी के लिए कुछ बोझिल साबित होगा। इसलिए हम यहाँ

पर इस उद्देश्य के लिए अपेक्षाकृत सरल तरीका अपनायेंगे। यह तरीका यह है कि उर्दू कविता में अधिक प्रयोग होनेवाले कुछ विशेष शब्दों की ऐतिहासिक व्याख्या कर दी जाय। नीचे ऐसे ही कुछ शब्दों की व्याख्या की जा रही है।

अज़ल—कुरान के अनुसार ईश्वर ने सबसे पहले रूहों को पैदा किया और उनसे पूछा कि क्या मैं तुम्हारा मालिक नहीं हूँ। उन सबों ने कहा कि हाँ तू हमारा विधाता और स्वामी है। इसी आदि दिवस को रोज़े-अज़ल कहते हैं और रूहों द्वारा भगवान् को दिये गये उपर्युक्त वचन को पैमाने-अज़ल या पैमाने-अलस्त कहते हैं। भगवान् को साक़ी-ए-अज़ल भी कहते हैं, क्योंकि उसने वदगी की शराब पिलायी थी।

अनक़ा—इस्लाम से पूर्व की मध्य-पूर्वीय दनकथाओं में अनक़ा नामक एक विशेष पक्षी का उल्लेख है। विभिन्न कथाओं में उसके पृथक्-पृथक् वर्णन मिलते हैं। फ़ारसी के विकास काल तक यह मान लिया गया था कि अनक़ा-जैसा कोई पक्षी नहीं होता और यह कोरी कल्पना के अलावा और कुछ नहीं। इसलिए अनक़ा शब्द का प्रयोग ऐसी वस्तु के लिए भी होने लगा, जो केवल काल्पनिक हो।

अयाज़—बारहवीं शताब्दी के अन्त में भारत पर लगातार आक्रमण करनेवाले महमूद गज़नवी का एक स्वामिभक्त दास अयाज़ था। यह बहुत बुद्धिमान् भी था, इसलिए महमूद उसे बहुत मानता था। यह भी कहा जाता है कि अयाज़ बड़ा रूपवान् था, उसकी घुघराली केश-राशि बड़ी मनमोहक थी और महमूद उसके प्रेम में पागल था। फारसी और उर्दू साहित्य में अयाज़ अधिकतर प्रेम-पात्र के ही रूप में आया है।

आदम—यह आदि पुरुष माने जाते हैं। कुरान के अनुसार संसार, फ़रिश्ते, जिन आदि बनाने के बाद भगवान् ने मिट्टी को पानी में सानकर अपना ही प्रतिरूप एक पुतला बनाया। यही आदम थे। फिर इनकी एक बायीं पसली से हव्वा बनायी गयी, जो इनकी पत्नी हुई। ये दोनों स्वर्गोद्यान में रहते थे। शैतान के बहकाने से इन दोनों ने भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए गेहूँ खाया और इस अपराध में स्वर्ग से निकाल कर धरती पर भेज दिये गये और इन्हें शाप दिया गया कि तुम्हारी औलाद मेहनत करके खायेगी।

होकर घूमता फिरा। उसे हर बगूले में लैला का महमिल (ऊँट का हौदा) दिखाई देता था। लैला भी इसके वियोग में घुट-घुट कर मर गयी और बाद में यह भी उन्मत्तावस्था में मर गया।

खिज्र—यह एक पैगम्बर हैं जो छुपे रहते हैं और अमर हैं। यह भूले-भटकों को राह बताया करते हैं। सिकन्दर ने इनसे अमृत-स्रोत की राह पूछी तो इन्होंने उसे आईना दिखाकर बहका दिया।

गरेबान—यह कुर्ते या अँगरखे का गले का भाग होता है, जिसे उन्मत्त प्रेमीजन फाड़ दिया करते हैं।

गिल्माँ—ये वे काल्पनिक सुन्दर और नौ-उम्र लड़के हैं, जिन्हें स्वर्ग में पुण्यात्माओं की सेवा के लिए रखा गया है। इनके सौन्दर्य और नौ-उम्री का कोई लैंगिक पहलू नहीं लिया गया है।

चारागर—चारागर का अर्थ है चिकित्सक। प्रेमोन्मत्त लोगों को बीमार समझकर लोग उनके इलाज के लिए हकीम को बुलाते हैं, किन्तु प्रेमी हमेशा इस निष्फल प्रयत्न का मज़ाक उड़ाया करता है।

जमज़म—यह मक्का में काबे के पास खारी और गंदे पानी का एक सोता है, जिसका पानी पीना प्रत्येक हजयात्री के लिए ज़रूरी समझा जाता है। काबे के साथ अक्सर ज़मज़म का जिक्र आया करता है।

जम या जमशेद—यह प्रागैतिहासिक ईरान का एक बादशाह था, जो अपने ऐश्वर्य के लिए प्रसिद्ध था। इसके पास शराब पीने का एक प्याला था, जिससे उसे सारे संसार की बातें भी मालूम हो जाया करती थीं। इस प्याले को जामे-जम या जामे-जहाँनुमा कहा जाता है और प्रतीक रूप में प्रयुक्त होता है।

ज़ाहिद—ज़ाहिद कर्मकांडी और धर्मांध मुसलमानों का प्रतीक है, जिन्हें उर्दू और फ़ारसी साहित्य में मूर्ख, फरेबी, हूरों पर लार टपकाने वाला आदि कहकर धज्जियाँ उड़ायी गयी हैं।

जुलेखा—यह मिस्र के एक राज्याधिकारी की पत्नी थी, जो यूसुफ पर आसक्त हो गयी थी। इसने यूसुफ को खरीद लिया था। यह उनके साथ रति चाहती थी, किन्तु उनके न मानने पर उन पर बलात्कार का आरोप लगाने लगी।

[यू]सुफ़ निर्दोष सिद्ध हुए और जुलेखा बदनाम हो गयी। इसका बदनाम प्रेमी [के] प्रतीक रूप में प्रयोग किया जाता है।

तूर—यह वह पहाड़ है, जिसपर हजरत मूसा को ईश्वरीय ज्योति के दर्शन [हु]ए थे। ईश्वरीय प्रकाश के प्रकट होने पर मूसा तो बेहोश होकर गिर पड़े [औ]र तूर (जिसका पूरा नाम तूरे-सीना है) जल गया।

दारो-रसन—दारो-रसन का मतलब है फाँसी और रस्सी। मंसूर हल्लाज [ना]मक एक सूफ़ी संत ने आध्यात्मिक उन्नति के एक विशेष स्तर पर पहुँच कर [']अनल हक़' (मैं ईश्वर हूँ) का नारा दे दिया। इस्लाम की कर्मकाण्डी राज-[व्]यवस्था ने इसे खुदाई का दावा समझा और उसे फाँसी दे दी। दारो-रसन से [के]वल मंसूर की फाँसी का बोध होता है और यह जान पर खेल कर भी सत्य का [प्र]काशन करने की प्रतीक है।

नमरूद—यह हजरत इब्राहीम के जमाने का एक गर्वीला बादशाह था, [जि]सने खुदाई का दावा किया था। इब्राहीम ने उसे पूजने से इनकार किया तो [उ]सने इन्हें आग मे डलवा दिया, किन्तु आग इब्राहीम को जला न सकी।

नासिह—नासिह का अर्थ है नसीहत करने वाला। प्रेमी को उसके हितैषी-[ग]ण समझा-बुझाकर पागलपन से रोकने की कोशिश करते हैं और वह उन्हें झिड़क [दे]ता है। उर्दू काव्य में नासिह का केवल यही रूप है।

नूह—यह एक नबी थे। इनके जमाने में पाप बहुत बढ़ गया तो ईश्वर [ने] जलप्लावन के द्वारा सारे संसार को डुबो दिया। नूह ने ईश्वर की आज्ञा से [ए]क नाव बना ली थी, जिसमें प्रत्येक प्राणी का एक-एक जोड़ा रख लिया था। [इ]सी के कारण बाद मे सृष्टि चली। यह जलप्लावन, जिसे तूफ़ाने-नूह कहते [हैं], चालीस दिन तक रहा था।

नौशेरवाँ—यह ईरान का एक बादशाह था, जो अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध [थ]ा। नौशेरवाँ न्याय का प्रतीक है।

परी—यह अत्यंत रूपवती उड़ने वाली स्त्रियों की जाति है, जिसका निवास [क]ोहेकाफ़ (काकेशस पर्वत) माना गया है। इनका अस्तित्व इसी संसार में [मा]ना गया है। परी को प्रियतम का प्रतीक माना जाता है।

फरहाद—यह ईरान का एक पत्थर खोदने वाला था, जो तत्कालीन ईरान-नरेश परवेज की रानी शीरीं पर आसक्त हो गया था। परवेज ने मजाक में कहा कि तुम बेसतूं नामक पहाड़ को काट कर शीरीं के लिए दूध की नहर ला सको तो शीरीं तुम्हारी हो जायगी। उस प्रेम के मारे ने यह असंभव काम भी कर दिखाया। अब परवेज घबराया, उसने एक बुढ़िया के द्वारा फरहाद के पास शीरीं के मरने की झूठी खबर पहुँचा दी। फरहाद यह सुनते ही अपने सर में तेशा (पत्थर काटने का औजार) मार कर मर गया। फरहाद को लगन-वाले प्रेमी का प्रतीक समझा जाता है।

फिरऔन—यह मिस्र का बादशाह था, जो बड़ा जालिम था और मूसा का शत्रु। अंत में मूसा से संघर्ष करने के दौरान में नील नदी में अपनी फौज समेत डूब गया। इसे सांसारिक समृद्धि के घमंड का प्रतीक माना जाता है।

बहजाद और मानी—यह दोनों प्राचीन ईरान के प्रख्यात चित्रकार थे। मानी तो अपनी चित्रकला को चमत्कार मानकर पैगम्बरी का दावा भी करने लगा था। इस पर तत्कालीन नरेश बहराम प्रथम ने इसे मरवा दिया था।

बुत—बुत का मतलब है मूर्ति। मूर्ति-पूजा इस्लाम में वर्जित है। मूर्तियाँ गढ़ी भी सुन्दर जाती हैं। चुनांचे शारीरिक सौन्दर्य, कठोरता और धर्म विमुख करने के कार्य के आधार पर उन्हें प्रियतम का प्रतीक माना जाता है।

मुहतसिब—मुहतसिब शराबबन्दी का हाकिम होता था, जो मदिरालयों को बन्द करवाता था और मटके तोड़-ताड़ कर शराब फेंक दिया करता था। उर्दू-फारसी साहित्य मुहतसिब की शिकायतों से भरा पड़ा है।

मूसा—यह यहूदी धर्म के प्रवर्तक थे। इनके ईश्वरीय प्रकाश के दर्शन का उल्लेख 'नूर' के प्रकरण में हो चुका। इन्हें फिरऔन (मिस्र के बादशाह) की पुत्रविहीना पत्नी ने पाला था। फिरऔन ने खुदाई का दावा किया तो इन्होंने कई ईश्वरीय चमत्कार दिखाकर उसे रास्ते पर लाने की कोशिश की। लेकिन वह न माना। फिर इन्होंने अपने कबीले को लेकर देश-त्याग करने की ठानी तो फिरऔन ने इन्हें घेरकर मारना चाहा। ईश्वर की आज्ञा से इन्होंने अपना डंडा पटक कर नील नदी को सुखा कर अपने कबीले को पार उतार दिया

लेकिन जब फ़िरऔन की फ़ौज आयी तो नील फिर भर गयी और फ़िरऔन की फ़ौज डूब गयी। मूसा का हाथ सफ़ेद था (जिसे यदे-वैजा कहते हैं) और उनका डंडा करामाती था जो कभी अजगर बन जाता था कभी और तरह-तरह के चमत्कार किया करता था। बाद में मूसा को प्रसिद्ध दस ईश्वरीय आदेश मिले थे।

यूसुफ़—यह पैगम्बर याकूब के पुत्र थे और खुद भी पैगम्बर थे। यह बहुत ही सुन्दर थे और पिता इन्हे सबसे अधिक चाहते थे। इस पर जलकर इनके भाइयो ने इन्हे एक अंधे कुएँ मे डाल दिया और इनका कुर्ता खून में रँगकर बाप के पास ले आये और कहा कि यूसुफ़ को भेड़िया ले गया। याकूब इनके वियोग में रो-रोकर अंधे हो गये। इधर कुछ व्यापारियों ने जिनका कारवाँ वहाँ से निकल रहा था, इन्हे कुएँ से निकाला और मिस्र के बाज़ार में ले जाकर बेच दिया। वही पर इन्होने जुलेखा के संदर्भ में अपना संयम सिद्ध किया। बाद में मिस्र का बादशाह इन्हे बहुत मानने लगा, क्योंकि इन्होने अपनी दूरदर्शिता से अकाल की स्थिति में मिस्र को भूखो मरने से बचा लिया था। साहित्य में यूसुफ सौन्दर्य और पवित्रता के प्रतीक है, इसीलिए प्रियतम को यूसुफ कहा जाता है।

रुस्तम—यह ईरानी इतिहास का एक अत्यन्त वीर पुरुष था। इसके बाप, दादा, परदादा सभी बहुत प्रसिद्ध योद्धा रहे थे। रुस्तम ने बचपन में ही अपने पिता के एक मस्त सफ़ेद हाथी को, जो किसी के रोके नही रुकता था और विनाश करता जा रहा था, मार डाला था। बड़े होकर इसने न केवल सारे तत्कालीन योद्धाओं को परास्त किया, अपितु कई दैत्यों को भी मार डाला। यह वीरत्व का प्रतीक माना गया है।

वाअज़—वाअज़ का अर्थ है धर्मोपदेशक। उर्दू और फारसी के काव्य-साहित्य में ज़ाहिद की भाँति वाअज़ को भी घृणा का पात्र समझा गया है। वाअज़ को मूर्ख, बकवासी और पाखंडी समझा गया है। ज़ाहिद की तरह वाअज़ के भी भव्य वस्त्रों—अम्मामा, दस्तार (पगड़ी) तथा दाढ़ी का मज़ाक उड़ाया गया है। इसे ऐसे थोथे ज्ञान वाले व्यक्तियों का प्रतीक माना गया है, जो दूसरों की राह बताते फिरें और स्वयं बात की तह तक पहुँचने से मजबूर हों। ज़ाहिद

के पाखंड पर अधिक जोर दिया गया है और वाअज़ की बकवास पर, ज़ाहिद की करनी और वाअज़ की कथनी उपहासास्पद समझी गयी है।

वीराना—वीराना बियाबां जंगल को कहते हैं। इसका उल्लेख मजनूं तथा अन्य उन्मत्त प्रेमियों के साथ आता है। छिपा हुआ धन (गंज या दफीना) भी वीराने में ही मिलता है।

शद्दाद—यह एक वैभवशाली बादशाह था। इसने स्वर्ग का ज़िक्र सुनकर अपने वैभव के घमंड में ज़मीन पर ही एक 'स्वर्गोद्यान' बनवाया। लेकिन उस बाग में जाने के लिए घोड़े से उतर भी न पाया था कि मर गया। शद्दाद का उल्लेख काव्य-साहित्य में कम ही होता है और प्रतीक रूप में होता ही नहीं है।

शैतान—यह एक फरिश्ता था और इसका नाम इब्लीस था। खुदा ने आदम को पैदा किया तो फरिश्तों से कहा कि इन्हें सजदा (नमन) करो। अन्य फरिश्तों ने ऐसा कर लिया, किन्तु शैतान ने कहा कि मैं प्रकाश से बना हूं, ईश्वर के अलावा किसी को सजदा न करूंगा। खुदा ने इस पर कुपित होकर इसे जन्नत से निकाल दिया और नरकवास का शाप दिया। शैतान इस पर खुदा का विरोधी हो गया और उसने तय किया कि आदम, जिसपर खुदा को इतना गर्व है, और उसकी औलाद को खुदा के आदेश मानने से रोकूंगा। आदम की पत्नी हव्वा के शैतान द्वारा बहकाये जाने का उल्लेख 'आदम' के प्रकरण में आ चुका है। अभी तक वह छुपकर आदम की औलाद—मनुष्य जाति—को बहका कर ईश्वरीय आदेशों से विमुख करता जाता है।